CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष

पी.वी. बापट

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष

पी.वी. बापट

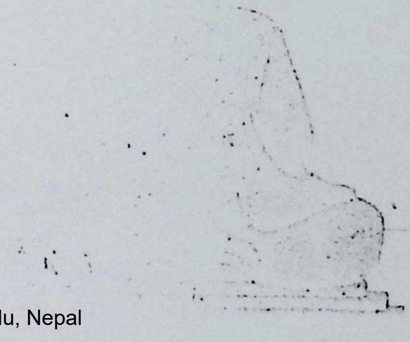

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

Kathmandu Reservation Office :
'Z' Street, Thamel, Kathmandu, Tel: 417395, Tel/Fax: 977-1-425305
E-mail : hcvilla@col.com.np
Website : http://wwwcatmando.com/countryvilla

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष

संपादक : पी०वी० बापट

भूमिका : सर्वपल्ली राधाकृष्णन

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रथम संस्करण : दिसंबर 1956 (माघ 1878)
द्वितीय संस्करण : मई 1997 (बैशाख 1919)

© प्रकाशन विभाग

ISBN: 81-230-0277-7

मूल्य : 70 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110 001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केंद्र • प्रकाशन विभाग

- पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली–110001
- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई–400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता–700069
- राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई–600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम–695001
- 27/6, राम मोहन राय़ मार्ग, (कृषि भवन के पीछे), लखनऊ–226001
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डस, हैदराबाद–500001

अरावली प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली–110020

विषय-सूची

	भूमिका	*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*	1
1.	बौद्ध धर्म का आरंभ तथा बुद्ध-चरित	*पी० एल० वैद्य* *सी०वी० जोशी*	14
2.	चार बौद्ध परिषदें	*भिक्षु जिनानंद*	24
3.	अशोक और बौद्ध-धर्म का विस्तार	*पी० वी० बापट* *पी० सी० बागची* *जे० एन० ताकासाकी* *वी०वी० गोखले* *आर० सी० मजूमदार*	37
4.	बौद्ध धर्म की प्रधान शाखाएं और संप्रदाय	*अनुकूल चंद बनर्जी* *वी०वी० गोखले* *जी०एच० सासाकी* *जे० एन० ताकासाकी* *पी० वी० बापट*	74
5.	बौद्ध साहित्य	*पी० वी० बापट* *नलिनाक्ष दत्त*	110
6.	बौद्ध शिक्षण	*एस० दत्त*	147
7.	अशोक के उत्तरकालीन कुछ बौद्ध महापुरुष	*भरतसिंह उपाध्याय* *आनंद कौसल्यायन* *राहुल सांकृत्यायन* *जी० एच० सासाकी* *जे० एन० ताकासाकी*	163

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

८. चीनी यात्री	के० ए० नीलकंठ शास्त्री	213
९. बौद्ध कला का संक्षिप्त पर्यवेक्षण	टी० एन० रामचंद्रन सी० शिवराममूर्ति	228
10. बौद्ध महत्त्व के स्थान	एस० के० सरस्वती डी० बी० डिसकलकर	238
11. बौद्ध धर्म में उत्तरकालीन परिवर्तन	एन० ऐय्यास्वामी शास्त्री अनागरिक गोविंद एच० वी० गुंथर	250
12. बौद्ध धर्म और आधुनिक संसार	भिक्षु संघरक्षित देवप्रिय वालिसिंह	274
13. सिंहावलोकन	पी० वी० बापट	294
परिशिष्ट		298

भूमिका

अनेक देशों में ईसापूर्व छठी सदी आध्यात्मिक असंतोष और बौद्धिक खलबली के लिए प्रसिद्ध है। चीन में लाओ-त्से और कन्फ्यूशियस हुए, यूनान में परमेनाइडीस और एंपेडोकल्स, ईरान में जरथुस्त्र और भारत में महावीर और बुद्ध। इसी समय में कई विख्यात आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक धरोहर पर चिंतन किया तथा नए दृष्टिकोण विकसित किए।

वैशाख मास की पूर्णिमा बुद्ध के जीवन की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं से संबद्ध है—जन्म, संबोधि-प्राप्ति, परिनिर्वाण। बौद्धों के वर्ष-पत्रक में यह सबसे पवित्र दिन है। थेरवाद बौद्ध मत के अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण 544 ईसापूर्व में हुआ।[1] यद्यपि बौद्धमत के विभिन्न निकाय विभिन्न प्रकार की काल-गणना मानते हैं, फिर भी गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की ढाई हजारवीं पुण्य-तिथि उन सबने मई 1956 ईसवी की पूर्णिमा ही स्वीकार की है। इस पुस्तक में गत ढाई हजार वर्षों में बौद्धमत की कहानी का संक्षिप्त लेखा है।

बुद्ध के जीवन के प्रमुख प्रसंग सुपरिचित हैं। कपिलवस्तु के एक छोटे-से राजा का वह पुत्र था, विलास और ऐश्वर्य में वह पला, यशोधरा से उसका विवाह हुआ, उसके राहुल नामक पुत्र पैदा हुआ, और जब तक संसार के दुख उससे छिपे हुए थे, उसने सुरक्षित जीवन बिताया। चार बार जब वह राजमहल से बाहर गया, अनुश्रुति यही कहती है कि, उसे

1. [illegible] में परिनिर्वाण की तिथि 544 ईसा पूर्व दी गई है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक जरा-जीर्ण आदमी मिला और उसे अनुभव हुआ कि वह भी बुढ़ापे का शिकार हो सकता है; उसे एक बीमार आदमी मिला और उसे लगा कि वह भी बीमार पड़ सकता है; उसे एक शव दिखाई दिया और उसे लगा कि मृत्यु का वह भी ग्रास बनेगा; और उसे एक संन्यासी मिला, जिसका चेहरा शांत था और जिसने धर्म के गुह्य सत्य को पाने वालों का परंपरागत रास्ता अपनाया हुआ था। बुद्ध ने निश्चय किया कि उस संन्यासी का मार्ग अपनाकर वह भी जरा, रोग, मृत्यु से छुटकारा पाएगा। उस संन्यासी ने बुद्ध से कहा:

नरपुंगव जन्ममृत्युभीतः श्रमणः प्रव्रजितोस्मि मोक्षहेतोः।[1]

(हे नरश्रेष्ठ, मैं श्रमण हूं, एक संन्यासी हूं, जिसने जन्म और मरण के डर से, मोक्ष पाने के हेतु, प्रव्रज्या ग्रहण की है।)

शरीर से स्वस्थ, मन से प्रसन्न, जीवन के ऐहिक सुखों से विहीन, पवित्र पुरुष के दर्शन से बुद्ध का विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि मनुष्य के लिए उचित आदर्श धर्म-पालन ही है। बुद्ध ने संसार तजने का और धार्मिक जीवन में अपने आप को लगा देने का निश्चय किया। उसने घर छोड़ा, पुत्र और पत्नी को छोड़ा, एक भिक्षु के वस्त्र और दिनचर्या अपनाई, और वह मनुष्य के दुख पर विचार करने के लिए जंगल में एकांत में गया। वह इस दुख का कारण और दुख को दूर करने के उपाय जानना चाहता था। उसने छह वर्ष धर्म के कठिन सिद्धांतों के अध्ययन में बिताए, कठिनतम तपस्या की, उसने शरीर को उपवास से सुखाया, इस आशा से कि शरीर को पीड़ित करके वह सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेगा। परंतु उसकी अवस्था मरणासन्न हो गई और उसे जिस ज्ञान की खोज थी वह उसे न मिल सका। उसने संन्यास-मार्ग छोड़ दिया, पुनः साधारण जीवन धारण किया, निरंजना नदी के जल में स्नान किया, सुजाता द्वारा दी हुई खीर ग्रहण की: *'नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः।'* शरीर का स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति प्राप्त करने पर उसने बोधिवृक्ष के नीचे सात सप्ताह बिताए, गहन और प्रगाढ़ एकाग्रता की अवस्था में। एक रात को, अरुणोदय से पहले उसकी बोध-दृष्टि जागृत हुई और उसे

1. अश्वघोष : बुद्धचरित 5, 17

पूर्ण प्रकाश की प्राप्ति हुई। इस संबोधि-प्राप्ति के बाद बुद्ध अपना उल्लेख प्रथम पुरुष सर्वनाम 'तथागत' से करने लगे। तथागत का अर्थ है वह जो सत्य तक पहुंचा है। इस प्रकार से प्राप्त संबोधि का वह प्रचार करना चाहता था और उसने कहा—"मैं वाराणसी जाऊंगा। वहां वह प्रदीप ज्योतित करूंगा जो सारे संसार को ज्योति देगा। मैं वाराणसी जाकर वह दुंदुभी बजाऊंगा कि जिससे मानव-जाति जागृत होगी। मैं वाराणसी जाऊंगा और वहां सद्धर्म का प्रचार करूंगा।" "सुनो, भिक्खुओ! मैंने अब अमरत्व पा लिया है। अब मैं उसे तुम्हें दूंगा। मैं धर्म का प्रचार करूंगा।" वह, इस प्रकार से, स्थान-स्थान पर घूमा। उसने सैकड़ों के जीवन को छुआ, चाहे वे छोटे हों या बड़े, राजा हों या रंक। वे सब उसके महान व्यक्तित्व के जादू से प्रभावित हुए। उसने पैंतालीस वर्षों तक दान की महिमा सिखाई, त्याग का आनंद सिखाया, सरलता और समानता की आवश्यकता सिखाई।

अस्सी वर्ष की आयु में वह कुशीनगर जा रहा था, जहां उसका परिनिर्वाण हुआ। अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ वैशाली के सुंदर नगर से विदा लेते हुए, वह पास की एक छोटी पहाड़ी पर गया और उसने बहुत से चैत्य-मंदिरों और विहारों वाले दृश्य को देखकर आनंद से कहा—*चित्रं जम्बुद्वीपं मनोरमं जीवितं मनुष्याणाम्* (भारत चित्रमय और समृद्ध है, यहां मनुष्य का जीवन मनोरम और काम्य है)। हिरण्यवती नदी के किनारे एक शालवृक्षों का कुंज है, जहां दो वृक्षों के बीच में बुद्ध ने अपने लिए एक शैया बनाई। उसका शिष्य आनंद बहुत अधिक शोक करने लगा। उसे सांत्वना देते हुए बुद्ध ने कहा— "आनंद, रोओ मत, शोक मत करो। मनुष्य की जो भी प्रिय वस्तुएं हैं, उनसे विदा होना ही पड़ता है। यह कैसे हो सकता है कि जिसका जन्म हुआ है, जो अस्थिरता का विषय है, वह समाप्त न हो। यह हो सकता है कि तुम सोच रहे होगे—'अब हमारा कोई गुरु न रहा।' ऐसा न सोचो, ओ आनंद, जो सद्धर्म के उपदेश मैंने तुम्हें दिए हैं, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।" उसने दुबारा कहा—

हंद दानी भिक्खवे, आमंतयामि वो
वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन संपादेथ'ति।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. Public Domain. Digitization by eGangotri

(इसलिए, मैं तुम्हें कहता हूं, ओ भिक्षुओ! सब वस्तुएं नाशधर्मी हैं, इसलिए अप्रमादयुक्त होकर अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करो।)

बुद्ध के ये अंतिम शब्द थे। उसकी आत्मा रहस्यमयी निमग्नता की गहराई में डूब गई और जब वह उस अवस्था तक पहुंच गया जहां सब विचार, सब अनुबोध विलीन हो जाता है, जब व्यक्ति की चेतना समाप्त हो जाती है, तब उसे परिनिर्वाण प्राप्त हुआ।

बुद्ध के जीवन में दो पक्ष हैं: वैयक्तिक और सामाजिक। जो सुपरिचित बुद्ध-प्रतिमा है वह एक तपस्यारत, एकाग्र और अंतर्मुख साधु की, योगी की प्रतिमा है, जो कि आंतरिक समाधि के आनंद में लीन है। यही परंपरा थेरवाद बौद्ध धर्म और अशोक के धर्म-प्रचारकों से संबद्ध है। उनके लिए बुद्ध एक मनुष्य है, देवता नहीं, एक गुरु है, उद्धारकर्त्ता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा पहलू भी है, जहां कि वह मनुष्य मात्र के दुख से पीड़ित जीवन में प्रवेश करना, उनके कष्टों का निदान करना और 'बहुजनहिताय' अपना संदेश प्रसृत करना चाहता है। मानव मात्र के प्रति करुणा पर आश्रित एक दूसरी परंपरा उत्तर भारत में कुषाणों (70 से 480 ईसवी) और गुप्त-वंश (320 650 ईसवी) के काल में फूली-फली। उसने मुक्ति का आदर्श, श्रद्धा का अनुशासन और विश्व-सेवा का मार्ग सबके लिए विकसित किया। पहली परंपरा श्रीलंका, बर्मा और थाईदेश में प्रचलित हुई और दूसरी नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन और जापान में।

बौद्ध धर्म के सब रूप इस बात पर सहमत हैं कि बुद्ध ही संस्थापक था, उसने विचार-संघर्ष किया और जब वह बोधिवृक्ष के नीचे बैठा था तब उसे संबोधि प्राप्ति हुई, और उसने इस दुखमय जगत से परे का अमर मार्ग दिखाया। जो इस मुक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे ही उस परम-संबोधि को प्राप्त कर सकते हैं। यह सारी बात का मूल है, यही बौद्ध मत के दृष्टिकोण और अभिव्यंजना की अनेक विभिन्नताओं में अंतर्निहित मौलिक एकता है। बौद्ध धर्म भारत से बाहर दुनिया के और हिस्सों में जैसे-जैसे फैला, ये विभिन्नताएं बढ़ती गईं।

सभी धर्मों का सार है मानव-स्वभाव में परिवर्तन। हिंदू और बौद्ध धर्मों का मुख्य सिद्धांत है 'द्वितीय जन्म'। मनुष्य इकाई नहीं है, परंतु अनेकता का पुंज है। वह सुषुप्त है, वह स्वयंचालित है। वह भीतर से असंतुलित है। उसे जागना चाहिए, एक होना चाहिए, अपने आप से संश्लिष्ट और मुक्त होना चाहिए। यूनानी रहस्यवादियों ने हमारे स्वभाव में इस परिवर्तन को ध्वनित किया था। मनुष्य की कल्पना एक बीज से की जाती है जो कि बीज के नाते मर जाएगा, परंतु बीज से भिन्न पौधे के रूप में जो पुनर्जीवित होगा। गेहूं की दो ही संभावनाएं हैं: या तो वह पिसकर आटा बन जाए और रोटी का रूप ले ले या उसे फिर से बो दिया जाए कि जिससे अंकुरित होकर वह फिर पौधा बन जाए, और एक के सौ दाने पैदा हों। सेंट पॉल ने 'ईसा के पुनरुत्थान' के वर्णन में इस कल्पना का प्रयोग किया है, "ओ मूर्ख, जो तुम बोते हो, वह मरे बिना फिर से नहीं अंकुराता।" "जो एक प्राकृतिक वस्तु के रूप में बोया या गाड़ा जाता है, वह एक आध्यात्मिक वस्तु के रूप में जाग उठता है।" जो परिवर्तन है, वह केवल वस्तुगत रूपांतर है। मनुष्य संपूर्ण अंतिम सत्ता नहीं है। वह ऐसी सत्ता है जो अपने आप को बदल सकती है, जो पुनः जन्म ले सकती है। यह परिवर्तन घटित करना, पुनः जन्म लेने के लिए, जागरित होने के लिए यत्न करना बौद्ध धर्म की भांति सभी धर्मों का ध्येय है।

हमारा काल के अधीन होना, संसार के बंधन में रहना, अविद्या के कारण है, अचेतनता के कारण है, जिससे तृष्णा, वंचना, आसव पैदा होते हैं। अज्ञान और आसक्ति इंद्रियानुभव के जीवन का सार है। अविद्या से हमें विद्या-बोधि और प्रकाश की ओर उठना है। जब हमें 'विपस्सना' होगी, स्पष्ट दृष्टि प्राप्त होगी, तब हमें समता या अखंड शांति मिलेगी। इन सब बातों में, बुद्ध ने वास्तविक ज्ञान पर आधारित निश्चिति विषयक वैदिक कसौटी को अपनाया है, और यह वास्तविक ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, निश्चिति विषयक प्रत्यक्ष बौद्धिक अंतःप्रेरणा द्वारा प्राप्त होता है :

यथा—भूत-ञाण दस्सन।[1]

1. संयुत्त निकाय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बुद्ध यह नहीं समझता था कि वह एक नया धर्म घोषित कर रहा है। वह जन्म, विकास और मृत्यु के समय हिंदू था। वह भारतीय आर्य-सभ्यता के पुराने आदर्शों को एक नई अर्थ-महत्ता के साथ उपस्थित कर रहा था : "अतः भिक्खुओ, मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि पुरातन काल के पूर्ण जागरितों द्वारा अपनाया गया था......उसी मार्ग पर मैं चला और उस पर चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। वही मैंने भिक्षुओं, भिक्षुणियों, नर-नारियों, और दूसरे सर्वसाधारण अनुयायियों को बताया। अतः आवुसो, इसी प्रकार यह ब्रह्म-चिंतन, ब्रह्मचर्य जो कि इतना फूला-फला और सब देशों में सबको सुपरिचित हुआ, लोकप्रिय बना, संक्षेप में, देवताओं और मनुष्यों के लिए अच्छी तरह प्रकट किया गया।"

धार्मिक भारत की टोह अतुलनीय सुरक्षा, अभय, मोक्ष, निर्वाण के लिए रही है। मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने आप को पार्थिव वस्तुओं से ऊपर उठाने का यत्न करे, इंद्रिय-संवेदना के जगत से बाहर जाए कि जिससे जरा-मरण और स्थूल ऐहिकता के बंधनों से आत्मा की मुक्ति हो, बाह्य अंधकार को तोड़कर वह प्रकाश और चिन्मयता के जगत में प्रवेश करे। बुद्ध ज्ञान अथवा बोधि के परम प्रकाश द्वारा एक नए आध्यात्मिक अस्तित्व की प्राप्ति का आदर्श चाहता है: "परंतु मैं मानता हूं कि मनुष्य का सबसे ऊंचा आदर्श वह स्थिति है, जिसमें न तो बुढ़ापा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु, न चिंताएं हैं और जिसमें कोई पुनः-पुनः क्रिया न हो।"

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया।।[1]

बुद्ध ऐसा आध्यात्मिक अनुभव चाहते थे, जिसमें सारी स्वार्थ-भावना नष्ट हो जाए और उसके साथ ही साथ भय और वासना भी। वह परम आंतरिक शांति की मनोदशा है, जिसके साथ ही यह निष्ठा भी है कि

1. अश्वघोष : बुद्धचरित, 11, 59

आध्यात्मिक स्वतंत्रता पा ली गई है, एक ऐसी दशा जिसे शब्दों द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। केवल वही उसे जान सकता है, जिसने उसका अनुभव किया हो। यह अवस्था स्वर्ग का वह जीवन नहीं है जहां कि देवता बसते हैं: "यदि दूसरे मतवादों के यति या साधु तुमसे कहें कि दूसरे स्वर्गीय जगत में जाने के लिए विरक्त गौतम के कहने पर यह तुम साधु-जीवन व्यतीत कर रहे हो तो तुम्हें शर्म और क्रोध आना चाहिए।" जिस प्रकार उपनिषद ब्रह्मलोक के जीवन से मोक्ष को भिन्न मानती हैं, बुद्ध भी निर्देश करते हैं कि देवता प्रकट जगत में होते हैं और इसलिए उन्हें परम निरपेक्ष नहीं कहना चाहिए। अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों सापेक्ष हैं। जो वस्तुतः निरपेक्ष है वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों से परे है। मुक्त बुद्ध की अवस्था ब्रह्म से भी ऊंची है। वह अदृश्य, परम कांतिमान और शाश्वत है। देवताओं से भी ऊंचा एक तत्व है, जो परमोच्च है। यह परम तत्व उदान में अजात, अभूत, अकट (अकृत), असंखत (असंस्कृत) कहा गया है। यह उपनिषदों का ब्रह्म है, जिसे 'न इति', 'न इति' कहा गया है। बुद्ध निज को ब्रह्मभूत कहता है। बुद्ध ने परम यथार्थ के बारे में चरम दृष्टिकोण अपनाया, परंतु ईश्वरवादी दृष्टिकोण नहीं। उसने अनुभव किया कि कई लोग यह विश्वास रखकर कि ईश्वर तो सब कुछ हमारे लिए करेगा ही, कर्म से बचते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आध्यात्मिक उपलब्धि एक आंतरिक विकास है। जब सुशिक्षित लोग अनिर्वचनीय के विषय में व्यर्थ के अनुमानों में निमग्न थे, अशिक्षित लोग भगवान को ऐसी शक्ति समझते थे जिसे जादू-टोने या भूतसिद्धि से वश में किया जा सकता है। यदि भगवान किसी न किसी तरह हमें क्षमा कर ही देते हैं, फिर हम चाहे कैसे भी जिएं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। सर्वसाधारण धर्माचार के इस अज्ञान और अंधविश्वास, इस भय और आतंक के विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह किया। साथ ही, ईश्वरवादी विचारों से सामान्यतः मनुष्य का मन तथा हृदय असहिष्णुता से भर जाता है। इस तरह की सैद्धांतिक रूढ़िवादिता और कट्टरपन ने दुनिया में दुख, अन्याय, संघर्ष, अपराध और घृणा ही फैलाई है।

दुनिया को संसार यानी एक अनंत प्रवाह मानना, जहां कि कर्म का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नियम लागू है, सभी भारतीय धर्मों में एक-सा है, चाहे वह हिंदू, जैन, बौद्ध या सिख हों। कुछ भी स्थिर नहीं है, देवी-देवता तक भी नहीं। मृत्यु भी स्थायी नहीं है, क्योंकि वह नए जीवन को कवलित करेगी। एक ही जीवन में व्यक्ति का आचरण उसकी अनंतकालीन नियति निर्णीत नहीं कर सकता। बुद्ध नियतिवाद नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि मनुष्य का अपने भविष्यत् पर कोई अधिकार नहीं। वह अपना भविष्य निर्णीत कर सकता है, अर्हत् बन सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बुद्ध कठोर जीवन का पक्का प्रचारक था। हमारा आदर्श है काल पर विजय प्राप्त करना, संसार-सागर को पार करना और यह कार्य उस नैतिक मार्ग पर चलने से हो सकता है जिससे प्रकाश प्राप्त होता है।

बुद्ध एक अपरिवर्तनीय आत्मन् की सत्ता को नहीं मानता, क्योंकि आत्मन् ऐसी चीज है जो कि अच्छे विचारों और कर्मों से बनाई जा सकती है। फिर भी उसे आत्मन् को मानकर ही चलना पडता है। जब कि कर्म वस्तु जगत, अस्तित्व जगत और कालसापेक्ष जगत से संबद्ध है, निर्वाण आत्म की, अंतर्तम की मुक्ति का रूप ग्रहण करता है। हम अपने अस्तित्व की सीमाओं से बाहर, अलग, स्थित हो सकते हैं। हमें उस शून्य का, जगत की असारता का अनुभव होता है, तभी हम उससे परे जा सकेंगे। वस्तुनिष्ठ अस्तित्व से बाहर स्थित होने का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रकार की सूली पर चढ़ने, पीडादायक सर्वनाश तथा परिवर्तन और मृत्यु के नियमों से चालित समस्त इंद्रियसंवेद्य अस्तित्व की कटु शून्यता का अनुभव होना : मरणान्तं हि जीवितम्। हम घोर निराशा की गहराई से पुकारते हैं : मृत्यांर्मामृतं गमय। इस मृत्यु के शरीर से मुझे कौन बचाएगा? यदि मृत्यु सब कुछ नहीं है, यदि शून्यता सब कुछ नहीं है, तो मृत्यु के बाद कुछ है जो जीवित रहता है, यद्यपि वह वर्णनातीत है। यह 'आत्मन्' निरपेक्ष है तथा शरीर, संवेदना, इंद्रियबोध, संस्कार, विचार इत्यादि सब अस्थिर, परिवर्तनीय और तत्वहीन चीजों से परे है। जब व्यक्ति यह जान जाता है कि जो कुछ अस्थिर है वह दुखद है, तब वह उससे विरक्त हो जाता है और मुक्त हो जाता है। इससे पहले यह अनिवार्य है कि 'आत्मन्' की कोई उच्चतर चेतना या ऐसी ही कोई

अनुभूति हो : 'अत्तेन या अतनीयेन'[1]। यह आत्मन् ही आदिम मौलिक 'स्व' है, जो निरपेक्ष है, जिसका ज्ञान हमें बंधन मुक्ति और शक्ति देता है। यह 'स्व' न तो शरीर है, न संवेदना, न चेतना इत्यादि। परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि आत्म-तत्व है ही नहीं। 'आत्मन्' या 'स्व' का एक भाव-तत्व अहंकार ही नहीं है, यद्यपि यही एक तत्व है जो बाह्य रूप से जाना जा सकता है। हमारे आत्म का एक दूसरा पहलू है, जो हमें निर्वाण प्राप्ति में सहायक होता है। बुद्ध जब हमें परिश्रमशील होने को कहता है, निर्वाण के निमित्त प्रयत्न करने के लिए कहता है, तब वह उस आंतरिक तत्व की ओर निर्देश कर रहा है, जो घटनाओं के प्रवाह में बह नहीं जाता, जो बाह्य परिस्थितियों द्वारा संचालित नहीं होता, जो समाज के आक्रमण से अपने आप को बचाता है, जो मानवी मतवादों के आगे अपने आप को झुका नहीं देता, परंतु अपने अधिकारों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखता है। जो संबोधि प्राप्त है वह मुक्त है, वह सारे बंधन तोड़ चुका है। विरक्त वह है जिसने अपने ऊपर संयम प्राप्त किया है, 'जिसका अपने हृदय पर अधिकार है और जो स्वयं अपने हृदय के अधिकार में नहीं है।'[2] बुद्ध ने जब निर्वाण प्राप्त किया तो वह अनस्तित्व में विलीन नहीं हो गया। वह नष्ट नहीं हुआ, उसकी वासनाएं और इच्छाएं नष्ट हुईं। अब वह उन गलत धारणाओं और स्वार्थी इच्छाओं से परिचालित नहीं होगा, जो सामान्यतः व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। बुद्ध अपने आप को उन गुणों से मुक्त अनुभव करता है जो किसी व्यक्ति को पराधीन बनाते हैं। वह द्वंद्वों की दुनिया से दूर हो गया है। 'जो विचार वह चाहता है, वही विचार वह मन में लाएगा, जो भी विचार वह नहीं चाहता है, वह मन में नहीं लाएगा।'[3] बुद्ध ने हमें सिखाया कि कैसे प्रज्ञा का अनुसरण और करुणा का पालन किया जाए। हम जो मत मानते हैं, जो बिल्ले चिपका लेते हैं या जो नारे लगाते हैं, उनसे हमारा निर्णय नहीं होगा, परंतु हमारे त्याग के कार्य से और भ्रातृ-भाव से हम जाने जाएंगे। मनुष्य निर्बल है,

1. मज्झिम–निकाय, 29
2. मज्झिम–निकाय, 32;
3. अंगुत्तर 4, 35; मज्झिम, 20

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जरा, रोग और मृत्यु का शिकार है। अपने अज्ञान और अहंकार में वह रोगियों, वृद्धों और मृतकों से घृणा करता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी रोगी, वृद्ध या मृत व्यक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, तो वह अपने प्रति अन्याय करता है। हमें लंगड़ाने वाले या ठोकर खाकर सड़क पर चलने वाले के दोष नहीं देखने चाहिएं, क्योंकि हम नहीं जानते कि उसने कौन-से जूते पहने हैं या कौन-से बोझ उठाए हैं।[1] यदि हम यह जान जाएं कि दुख का कारण क्या है तो हम सब दुखियारों के भाई बन जाएंगे।

बौद्ध धर्म कोई नया या स्वतंत्र धर्म बनकर शुरू नहीं हुआ। वह एक अधिक पुराने हिंदू धर्म की ही शाखा था, उसे कदाचित् हिंदू धर्म से टूटी हुई या एक विद्रोही विचारधारा ही समझना चाहिए। जिस धर्म को धरोहर के रूप में उसने पाया उसके अध्यात्म और शीलाचार की मौलिक बातों को मानते हुए, बुद्ध ने उस समय प्रचलित कई आचारों का विरोध किया। वैदिक कर्मकांड को वह नहीं मानता था। जब उसे कहा गया कि वह कुछ आचार माने, तो उसने कहा, "और आप कहते हो कि धर्म के नाम पर मैं अपने परिवार में प्रचलित ये यज्ञ-यागादि व्रतोत्सव करूं जिनसे इच्छित फल प्राप्त होता है, तो मेरा कथन है कि मैं इन यज्ञों को नहीं मानता, क्योंकि मैं उस तरह के सुख की बिल्कुल परवाह नहीं करता जो दूसरे को दुख देकर मिलता हो।"[2]

यह सच है कि उपनिषदों में जिस आध्यात्मिक धर्म का प्रतिपादन किया गया है उसकी अपेक्षा यज्ञ-यागादि संबंधी कर्मकांड को कम महत्त्व दिया गया है, परंतु उपनिषदों ने उस तरह से उसका विरोध नहीं किया जैसे बुद्ध ने किया। बुद्ध का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक आचारों में सुधार करना और मौलिक सिद्धांतों की ओर लौटना। वे सब जो हिंदू धर्म के

---

1. रुद्राक्षं तुलसीकाष्ठं, त्रिपुंड्रं भस्मधारणं यात्रा स्नानानि होमाश्च जपाः
वा देवदर्शनं न एते पुनन्ति मनुजं यथा भूतहितेरतिः।

2. बुद्धचरित, 11, 64
यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते।।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

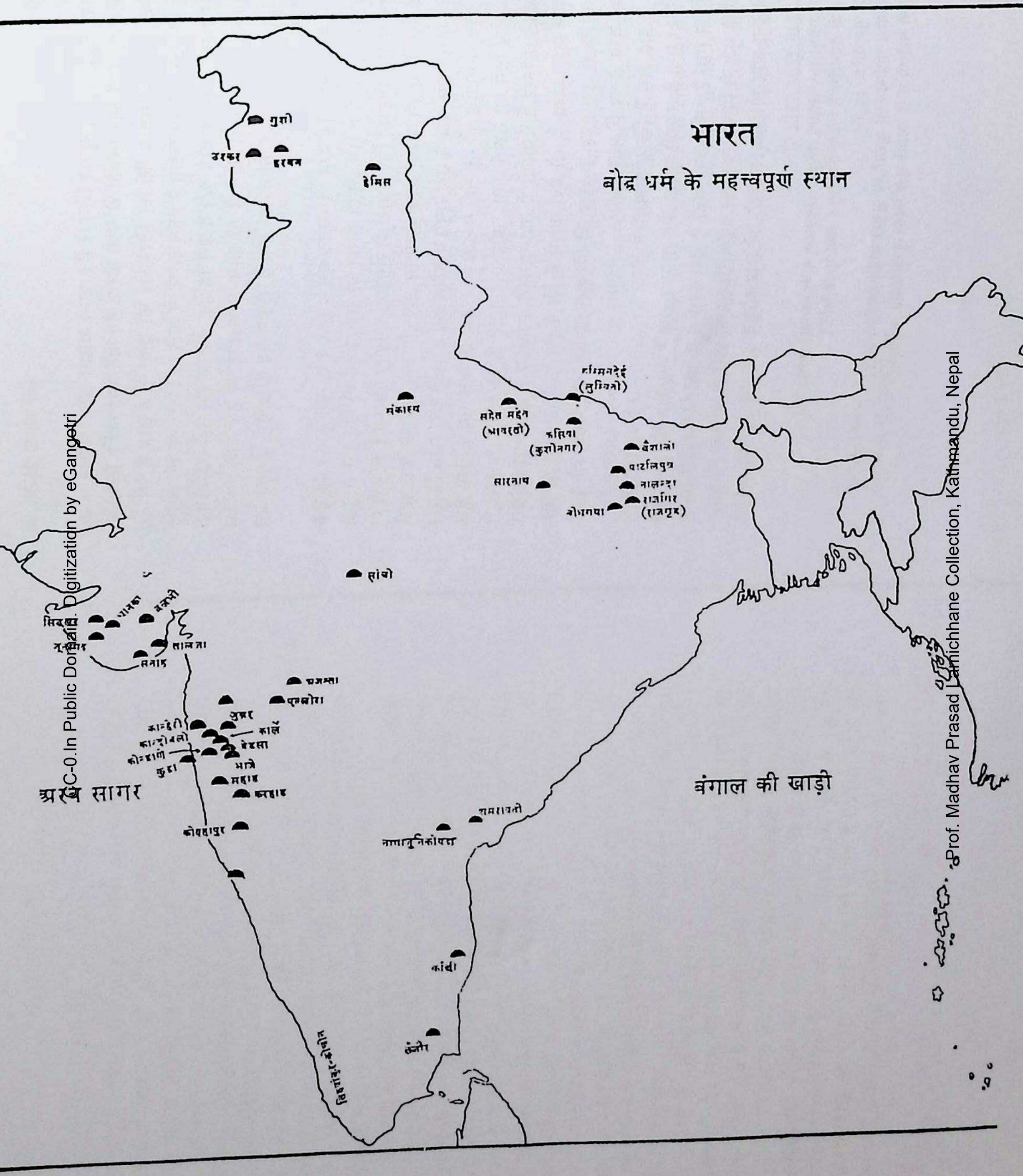

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मूल ढांचे को कायम रखना चाहते हैं और जो यह प्रयत्न करते हैं कि उसे जागृत सद्सद्विवेकबुद्धि की पुकार के अनुकूल बनाया जाए, वे अवतार माने जाते हैं। हिंदुओं का यह एक सर्वमान्य विश्वास है कि परमेश्वर ने मानव-जाति के कल्याण के लिए विष्णु के रूप में विभिन्न रूप धारण किए। बुद्ध को इसीलिए अवतार माना गया कि उसने हिंदुओं को रक्तमय व्रतोत्सवों से और मिथ्याचारों से मुक्त किया और उनके धर्म में जो बुराइयां घुस आई थीं उन्हें दूर करके पवित्र बनाया। यह अवतार सिद्धांत हमारे धर्म का बार-बार सुधार करके हमारे पूर्वजों के धर्म को कायम रखने में सहायक होता है। पुराणों में बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार माना गया है।

जयदेव की *गीतगोविंद* वाली अष्टपदी में विभिन्न अवतारों का उल्लेख है और उसमें बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा गया है, और उसका यह कारण बताया गया है कि 'श्रुतियों ने जिस यज्ञविधि को बताया, जिसमें पशुघात होता था, ओ सदय–हृदय! तुमने उसकी निंदा की। ओ केशव, जो तुम अब बुद्ध के रूप में अवतरित हुए, तुम्हारी जय हो।'

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
सदय हृदय दर्शितपशुघातम्।
केशव! धृतबुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे।

भाष्यकार ने लिखा है :

यज्ञस्य--विधान--बोधकं वेद समूहं निन्दसि, न तु सर्व इति अर्थः

(बुद्ध सारी श्रुति की निंदा नहीं करता, परंतु केवल यज्ञ वाले भाग की ही बुराई करता है।)

जयदेव अगले पद में दशावतारों का संक्षिप्त वृत्तांत देता है :

"जिसने वेदों का उद्धार किया, जगत को अपनी पीठ पर धारण किया, पृथ्वी को ऊपर उठा लिया, दैत्यों का विदारण किया, राक्षसों को नष्ट किया, बलि को नीचे दबाया, क्षत्रियों की शक्ति को तोड़ा, रावण को जीता, हल चलाया, करुणा को फैलाया, म्लेच्छों पर भी जो हावी हो गया, ओ ऐसे, दशावतार धारण करने वाले कृष्ण! तुम्हें प्रणाम है!"

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेदानुद्धरते जगन्निव हते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते, बलि छलयते, क्षत्रक्षयं कुर्वते,
पौलस्त्यं जयते, हलं कलयते, कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः,

भाष्यकार ने लिखा है:

कारुण्यं कृपामतिन्वते बुद्धरूपेण विस्तारयते।

बुद्ध ने हिंदुओं के सांस्कृतिक दाय का उपयोग धर्म के कुछ आचारों को शुद्ध करने के लिए किया। वह नष्ट करने के लिए नहीं, परंतु अपूर्ण को पूर्ण बनाने के लिए पृथ्वी पर आया। बुद्ध हमारे लिए, इस देश में हमारी धार्मिक परंपरा का एक अलौकिक प्रतिनिधि है। उसने भारतभूमि पर अपने अमिट पदचिन्ह छोड़े। इस देश की अपनी सारी आदतों और रूढ़ियों के बावजूद देश की आत्मा पर बुद्ध की छाप है। दुनिया के दूसरे देशों में उनकी अपनी-अपनी परंपराओं के अनुसार बुद्ध के उपदेश ने निश्चित रूप धारण किए। परंतु यहां बुद्ध के अपने घर में उसकी शिक्षा हमारी संस्कृति में समाविष्ट हो गई और उसका आवश्यक अंग बन गई। बुद्ध द्वारा ब्राह्मण और श्रमण एक से माने गए और ये दोनों परंपराएं धीरे-धीरे घुल-मिल गईं। यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ही आधुनिक हिंदुत्व का निर्माता है।

कभी-कभी अनंत बार अंधेरे में टटोलने पर मानव-जाति अपना निर्माण करती है, अपने अस्तित्व की सार्थकता को एक महान चरित्र के रूप में प्राप्त करती है और फिर धीरे धीरे विलयन की प्रक्रिया में खो जाती है। बुद्ध चाहता था कि एक नए प्रकार का स्वतंत्र मनुष्य विकसित हो जो सब पूर्व मान्यताओं से स्वतंत्र हो, जो अपना भविष्य स्वयं बनाए, जो अपना दीपक स्वयं बने (अत्तदीप)। उसका वाद मानव-जाति और राष्ट्रीय सीमाओं से परे था। आज दुनिया के सभी मामलों में जो अव्यवस्था जान पड़ती है, वह मनुष्यों की आत्मा के भीतर की अव्यवस्था व्यक्त करती है। इतिहास का विषय अब न यूरोप है न एशिया, न पूर्व है न पश्चिम, परंतु उसका विषय सभी देशों और कालखंडों की मानवता है। राजनैतिक विभाजन और विभिन्नताओं के होने पर भी दुनिया एक

है, इस बात को हम चाहे पसंद करें या न करें। सबके भाग्य सबसे गुंथे हुए हैं। परंतु हम एक प्रकार की आत्मिक थकान, वैयक्तिक और सामूहिक अहंभाव की वृद्धि से पीड़ित हैं। इसी कारण विश्व समाज के आदर्श की पूर्ति कठिन जान पड़ती है। आज हमें विश्व के विषय में उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसे यह देश अपनी सारी गलतियों और मूर्खताओं के बावजूद निरंतर मानता रहा है और जो मनुष्य, जीवन के दरवाजों और खिड़कियों को तोड़कर फिर से उनके जीवन में प्रवाहित हो सकता है। हमें आध्यात्मिक स्वतंत्रता के खोए हुए आदर्श को पुनः प्राप्त करना है : *आत्मलाभान्न परं विद्यते।* यदि हमें शांति प्राप्त करनी है तो हमें वह आंतरिक सामंजस्य रखना जरूरी है, वह आत्मिक संतुलन जो शांति के लिए आवश्यक है। हमें अपने आप को बचाना है चाहे और सब कुछ भले ही नष्ट हो जाए। जो आत्मा स्वतंत्र है वह अपने प्रेम पर कोई बंधन नहीं लगाती, वह मानव मात्र में एक दैवी स्फुलिंग देखती है, और मानव-जाति के कल्याण के लिए आत्मार्पण तक करने को प्रस्तुत रहती है। वह पापाचरण को छोड़ अन्य सब प्रकार के भय छोड़ देती है। वह काल और मरण के बंधनों को लांघ जाती है और अनंत जीवन में अविनाशी शक्ति पाती है।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म का आरंभ तथा बुद्ध चरित

वैदिक यज्ञ-प्रधान धर्म प्राचीन भारत में आर्यों के मन पर हावी था। धीरे-धीरे वह स्वयं इतना कर्मकांडमय बन गया कि उसका विरोध शुरू हो गया। मुंडकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ भव-सागर से परलोक में ले जाने वाली नौका तो है, परंतु वह डगमगाती हुई और बिना भरोसे की नौका है।[1] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि यज्ञ से मिलने वाला पुण्य अल्पजीवी है। भारतीय तत्वज्ञान का आरंभ, नासदीय सूक्त[2] पर जो स्वतंत्र भाष्य रचे गए, उनसे होता है। यज्ञ-याग की विधियों से हटकर चिंतकों का मन अन्य विषयों की ओर लगा। धीरे-धीरे आश्रम व्यवस्था यानी वानप्रस्थ और संन्यास धर्म की ओर हमारे तत्वचिंतक झुके। यह मार्ग केवल ब्राह्मणों के लिए ही नहीं था। जनक जैसे क्षत्रिय भी विदेह बन सकते थे। आर्य विरक्तों के अतिरिक्त अनार्य साधु या वैरागी अवश्य रहे होंगे, जिनके उल्लेख नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, मक्खली गोसाल ऐसे अनार्य विचारों का प्रतिनिधि था। अनार्य साहित्य में श्रमण शब्द बार-बार आता है। निगंठ (जैन) और आजीव (आजीविक) जैसे पांच श्रमण गिनाए गए हैं। वैदिक विष्णु-सूक्त में दूसरे लोक की ओर यम-सूक्त में मरणोपरांत इस लोक में लौट आने की कल्पनाओं के बीज हैं। उपनिषदों में बार-बार इस लोक की दुखमयता और अमर जीवन की शाश्वत टोह के उल्लेख मिलते हैं।

1. प्लवा ह्येते अदृढ़ाः यज्ञरूपाः (मुंडक 1, 2, 7)
2. ऋग्वेद, दशम् मंडल, 129

बुद्ध की प्रतीत्यसमुत्पाद वाली कारण-सरणि, संभवतः इन सूत्रों से निकली हो। माध्यमिक बौद्धों का 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' वाला भाव मांडूक्योपनिषद् के अंतिम अनुवाक में ज्यों का त्यों मिलता है।[1] ओल्डेनबर्ग ने अपने जर्मन ग्रंथ *'फिलासफी डेर उपनिषदेन उंड आन्फाङ्गे डेर बुद्धिस्मुस'* में इसका विवेचन किया है।

बुद्धपूर्व साहित्य में अनात्मवाद का कोई संकेत नहीं मिलता। बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ अस्पष्ट संकेत हैं– 'मृत्यु के पश्चात संज्ञा नहीं रहती' इत्यादि। परंतु बौद्धों का 'अनत्ता' का सिद्धांत इससे नहीं निकला। जीवन की क्षणभंगुरता या पांच तत्वों का मृत्यु से पांच तत्वों में मिल जाना, यह एक सामान्य बात हुई। अवैदिक विरक्ति-प्रधान पंथों के बारे में सूयगड (श्वेतांबर जैनियों के प्राकृत धर्मग्रंथ का दूसरा भाग) या पालि दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त आदि से कुछ सूचना मिलती है। गिलगित हस्तलिपि में प्राप्त दीघनिकाय के संस्कृत प्रतिरूप से भी इस सूचना की पुष्टि होती है। इन जैन-बौद्ध प्राचीन सूत्रों से अनात्मवाद के मूल का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों में जिन्हें परिव्राजक कहा गया, उन्हें ही मस्करिन् (मस्कर नामक बांस का डंडा साथ में रखने वाले) तापस और मुंडक कहा गया है। ये स्थान-स्थान पर नित्य विचरण करने वाले साधु थे। एक उपनिषद् का ही नाम मुंडक पर रखा गया। सुत्तनिपात से पता चलता है कि सिर मुंड़ाना वैदिक और अवैदिक दोनों पंथों में सामान्य प्रथा थी। कुछ संन्यासी वस्त्रों से अपने पंथ का नाम रखते थे, यथा श्वेतांबर अथवा गेरूय या दिगंबर। कपड़े जिस चीज के बनते थे, उससे भी पंथों के नाम रखे जाते थे, यथा केशकंबलिन। इन अवैदिक सिद्धांतों की छानबीन करने पर पता चलता है कि जैन सूत्रों में ऐसे 363 पंथ और बौद्ध सूत्रों में 62 या 63 पंथ गिनाए गए हैं। महावीर क्रियावादी कहे गए हैं और अजित-केशकंबली अक्रियावादी। अक्रियावादी चार्वाकपंथी या लोकायतिक थे। अज्ञानवाद के आचार्य

1. नान्तः प्रज्ञाम् न बहिः प्रज्ञाम् उभयतः प्रज्ञाम् प्रज्ञाम् नाप्रज्ञाम्।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेदानुद्धरते जगन्निव हते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते, बलि छलयते, क्षत्रक्षयं कुर्वते,
पौलस्त्यं जयते, हलं कलयते, कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः,

भाष्यकार ने लिखा है:

कारुण्यं कृपामतिन्वते बुद्धरूपेण विस्तारयते।

बुद्ध ने हिंदुओं के सांस्कृतिक दाय का उपयोग धर्म के कुछ आचारों को शुद्ध करने के लिए किया। वह नष्ट करने के लिए नहीं, परंतु अपूर्ण को पूर्ण बनाने के लिए पृथ्वी पर आया। बुद्ध हमारे लिए, इस देश में हमारी धार्मिक परंपरा का एक अलौकिक प्रतिनिधि है। उसने भारतभूमि पर अपने अमिट पदचिन्ह छोड़े। इस देश की अपनी सारी आदतों और रूढ़ियों के बावजूद देश की आत्मा पर बुद्ध की छाप है। दुनिया के दूसरे देशों में उनकी अपनी-अपनी परंपराओं के अनुसार बुद्ध के उपदेश ने निश्चित रूप धारण किए। परंतु यहां बुद्ध के अपने घर में उसकी शिक्षा हमारी संस्कृति में समाविष्ट हो गई और उसका आवश्यक अंग बन गई। बुद्ध द्वारा ब्राह्मण और श्रमण एक से माने गए और ये दोनों परंपराएं धीरे-धीरे घुल-मिल गईं। यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ही आधुनिक हिंदुत्व का निर्माता है।

कभी-कभी अनंत बार अंधेरे में टटोलने पर मानव-जाति अपना निर्माण करती है, अपने अस्तित्व की सार्थकता को एक महान चरित्र के रूप मे प्राप्त करती है और फिर धीरे धीरे विलयन की प्रक्रिया में खो जाती है। बुद्ध चाहता था कि एक नए प्रकार का स्वतंत्र मनुष्य विकसित हो जो सब पूर्व मान्यताओं से स्वतंत्र हो, जो अपना भविष्य स्वयं बनाए, जो अपना दीपक स्वयं बने (अत्तदीप)। उसका वाद मानव-जाति और राष्ट्रीय सीमाओं से परे था। आज दुनिया के सभी मामलों में जो अव्यवस्था जान पड़ती है, वह मनुष्यों की आत्मा के भीतर की अव्यवस्था व्यक्त करती है। इतिहास का विषय अब न यूरोप है न एशिया, न पूर्व है न पश्चिम, परंतु उसका विषय सभी देशों और कालखंडों की मानवता है। राजनैतिक विभाजन और विभिन्नताओं के होने पर भी दुनिया एक

है, इस बात को हम चाहे पसंद करें या न करें। सबके भाग्य सबसे गुंथे हुए हैं। परंतु हम एक प्रकार की आत्मिक थकान, वैयक्तिक और सामूहिक अहंभाव की वृद्धि से पीड़ित हैं। इसी कारण विश्व समाज के आदर्श की पूर्ति कठिन जान पड़ती है। आज हमें विश्व के विषय में उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसे यह देश अपनी सारी गलतियों और मूर्खताओं के बावजूद निरंतर मानता रहा है और जो मनुष्य, जीवन के दरवाजों और खिड़कियों को तोड़कर फिर से उनके जीवन में प्रवाहित हो सकता है। हमें आध्यात्मिक स्वतंत्रता के खोए हुए आदर्श को पुनः प्राप्त करना है : *आत्मलाभान्न परं विद्यते।* यदि हमें शांति प्राप्त करनी है तो हमें वह आंतरिक सामंजस्य रखना जरूरी है, वह आत्मिक संतुलन जो शांति के लिए आवश्यक है। हमें अपने आप को बचाना है चाहे और सब कुछ भले ही नष्ट हो जाए। जो आत्मा स्वतंत्र है वह अपने प्रेम पर कोई बंधन नहीं लगाती, वह मानव मात्र में एक दैवी स्फुलिंग देखती है, और मानव-जाति के कल्याण के लिए आत्मार्पण तक करने को प्रस्तुत रहती है। वह पापाचरण को छोड़ अन्य सब प्रकार के भय छोड़ देती है। वह काल और मरण के बंधनों को लांघ जाती है और अनंत जीवन में अविनाशी शक्ति पाती है।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म का आरंभ तथा बुद्ध चरित

वैदिक यज्ञ-प्रधान धर्म प्राचीन भारत में आर्यों के मन पर हावी था। धीरे-धीरे वह स्वयं इतना कर्मकांडमय बन गया कि उसका विरोध शुरू हो गया। मुंडकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ भव-सागर से परलोक में ले जाने वाली नौका तो है, परंतु वह डगमगाती हुई और बिना भरोसे की नौका है।[1] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि यज्ञ से मिलने वाला पुण्य अल्पजीवी है। भारतीय तत्वज्ञान का आरंभ, नासदीय सूक्त[2] पर जो स्वतंत्र भाष्य रचे गए, उनसे होता है। यज्ञ-याग की विधियों से हटकर चिंतकों का मन अन्य विषयों की ओर लगा। धीरे-धीरे आश्रम व्यवस्था यानी वानप्रस्थ और संन्यास धर्म की ओर हमारे तत्वचिंतक झुके। यह मार्ग केवल ब्राह्मणों के लिए ही नहीं था। जनक जैसे क्षत्रिय भी विदेह बन सकते थे। आर्य विरक्तों के अतिरिक्त अनार्य साधु या वैरागी अवश्य रहे होंगे, जिनके उल्लेख नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, मक्खली गोसाल ऐसे अनार्य विचारों का प्रतिनिधि था। अनार्य साहित्य में श्रमण शब्द बार-बार आता है। निगंठ (जैन) और आजीव (आजीविक) जैसे पांच श्रमण गिनाए गए हैं। वैदिक विष्णु-सूक्त में दूसरे लोक की ओर यम-सूक्त में मरणोपरांत इस लोक में लौट आने की कल्पनाओं के बीज हैं। उपनिषदों में बार-बार इस लोक की दुखमयता और अमर जीवन की शाश्वत टोह के उल्लेख मिलते हैं।

1. प्लवा ह्येते अदृढ़ाः यज्ञरूपाः (मुंडक 1, 2, 7)
2. ऋग्वेद, दशम् मंडल, 129

बुद्ध की प्रतीत्यसमुत्पाद वाली कारण-सरणि, संभवतः इन सूत्रों से निकली हो। माध्यमिक बौद्धों का 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' वाला भाव मांडूक्योपनिषद् के अंतिम अनुवाक में ज्यों का त्यों मिलता है।[1] ओल्डेनबर्ग ने अपने जर्मन ग्रंथ *'फिलासफी डेर उपनिषदेन उंड आन्‌फाङ्गे डेर बुद्धिस्मुस'* में इसका विवेचन किया है।

बुद्धपूर्व साहित्य में अनात्मवाद का कोई संकेत नहीं मिलता। बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ अस्पष्ट संकेत हैं— 'मृत्यु के पश्चात संज्ञा नहीं रहती' इत्यादि। परंतु बौद्धों का 'अनत्ता' का सिद्धांत इससे नहीं निकला। जीवन की क्षणभंगुरता या पांच तत्वों का मृत्यु से पांच तत्वों में मिल जाना, यह एक सामान्य बात हुई। अवैदिक विरक्ति-प्रधान पंथों के बारे में सूयगड (श्वेतांबर जैनियों के प्राकृत धर्मग्रंथ का दूसरा भाग) या पालि दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त आदि से कुछ सूचना मिलती है। गिलगित हस्तलिपि में प्राप्त दीघनिकाय के संस्कृत प्रतिरूप से भी इस सूचना की पुष्टि होती है। इन जैन-बौद्ध प्राचीन सूत्रों से अनात्मवाद के मूल का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों में जिन्हें परिव्राजक कहा गया, उन्हें ही मस्करिन् (मस्कर नामक बांस का डंडा साथ में रखने वाले) तापस और मुंडक कहा गया है। ये स्थान-स्थान पर नित्य विचरण करने वाले साधु थे। एक उपनिषद् का ही नाम मुंडक पर रखा गया। सुत्तनिपात से पता चलता है कि सिर मुंड़ाना वैदिक और अवैदिक दोनों पंथों में सामान्य प्रथा थी। कुछ संन्यासी वस्त्रों से अपने पंथ का नाम रखते थे, यथा श्वेतांबर अथवा गेरुय या दिगंबर। कपड़े जिस चीज के बनते थे, उससे भी पंथों के नाम रखे जाते थे, यथा केशकंबलिन। इन अवैदिक सिद्धांतों की छानबीन करने पर पता चलता है कि जैन सूत्रों में ऐसे 363 पंथ और बौद्ध सूत्रों में 62 या 63 पंथ गिनाए गए हैं। महावीर क्रियावादी कहे गए हैं और अजित-केशकंबली अक्रियावादी। अक्रियावादी चार्वाकपंथी या लोकायतिक थे। अज्ञानवाद के आचार्य

1. नान्तः प्रज्ञाम् न बहिः प्रज्ञाम् उभयतः प्रज्ञाम् प्रज्ञाम् नाप्रज्ञाम्।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

संजय बेलट्ठिपुत्त थे। इन्हें ही बौद्धों ने विक्षेपवादी, या किसी भी सिद्धांत को न मानने वाला कहा है। बौद्ध सूत्रों में विनयवाद को सीलब्बतपारमस या शरीर–पीडन से मुक्ति मानने वाला कहा गया है। इस प्रकार के अतिवादों से कुछ नही होता, ऐसा भी बौद्ध मानते हैं। संजय ने बौद्ध तर्कों का उत्तर नहीं दिया। जैनियों ने अनेकांत के रूप में उसमें से मार्ग निकाला।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध के समसामयिक 6 वरिष्ठ गुरुओं का बार-बार उल्लेख किया गया है। अजातशत्रु को ऐसे कई गुरु मिले थे। इनमें पहले थे निगंठ नातपुत्त। ये महावीर से भिन्न थे। पार्श्वनाथ महावीर से 250 वर्ष पहले हुए। पार्श्वनाथ ने चार नैतिक सूत्र निर्मित किए थे। महावीर ने चौथे सूत्र अपरिग्रह के दो हिस्से करके पांच सूत्र बनाए। पार्श्वनाथ के चेले 'अचेलक' या नग्न थे। महावीर के शिष्यों ने वस्त्र पहने। यही दोनों में प्रधान अंतर है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रावस्ती में पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्य एकत्रित हुए। बाद में जैनियों ने पार्श्वनाथ से पहले 22 और तीर्थकर दिखलाकर इस एकता को सिद्ध किया। परंतु पी०एल० वैद्य के अनुसार पार्श्वनाथ और महावीर ने दो विभिन्न कालखंडों में स्वतंत्र रूप से अपने दर्शन निकाय आरंभ किए, जिनकी भित्ति एक-सी थी। निगंठ नातपुत के जो चार संयम 'सामञ्ञफलसुत्त' में बताए गए हैं, 'उदुंबरिक सीहनाद सुत्त' में बताए संयमों से भिन्न हैं। पर दोनों ही पार्श्वनाथ के चार नीति-नियमों जैसे ही हैं। जैन-मत केवल नीति-नियमों का आचार-धर्म नहीं, परंतु अनेकांत और स्याद्वाद पर आधारित दर्शन भी है। अंगुत्तर निकाय में और तिकनिपात के चौहत्तरवें सुत्त में जैन दर्शन के पाप-मोचन सिद्धांत का मजाक उड़ाया गया है।

बुद्ध का दूसरा समकालीन था मक्खलि गोसाल। वह अचेलक या नग्न साधु था। वह पहले महावीर का शिष्य था और बाद में विरोधी हो गया। उसने आजीवक पंथ चलाया। बाद के लेखक नंद वच्छ और किस संकिच्च नामक दो और पूर्व चिंतक मानते हैं। गोसाल का सिद्धांत अब कोई नहीं मानता, परंतु किसी जमाने में उसका संसार-विसुद्धिमार्ग बड़ा

लोकप्रिय था। वह एक प्रकार का जड़ नियतिवादी था। प्रत्येक व्यक्ति को संसार में निश्चित अवधि के लिए दुख भोगना ही पड़ता है, ऐसी उसकी मान्यता थी।

शेष चार चिंतक जो बुद्ध के समकालीन कहे जाते हैं, उनका महावीर या गोसाल की भांति प्रभाव नहीं रहा। पूर्ण कस्सप अक्रियावादी थे। वे किसी भी कर्म में पुण्य या पाप नहीं मानते थे। अजित-केशकंबली भी एक प्रकार के भौतिकवादी थे, परलोक या मानवोपरि शक्तियों में उनका विश्वास नहीं था। पकुध कच्चायन, जो शायद प्रश्नोपनिषद् में उल्लिखित ककुद कात्यायन हों, और जिनका उल्लेख श्वेतांबर ग्रंथ में है, अशाश्वतवादी थे। उनके अनुसार सात ऐसे तत्व हैं जो सदा रहते हैं, मिटाए नहीं जा सकते। शेष सब अनित्य हैं। चौथे चिंतक संजय वेलट्ठिपुत्त थे। अजातशत्रु कहते हैं कि जितने गुरु उन्हें मिले, उन सब में सबसे मूर्ख ये ही थे। वे विक्षेपवादी थे। वे किसी भी प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर नहीं देते थे। दस प्रश्न ऐसे हैं जिनका कोई उत्तर नहीं मिलता, न दिया जाता है। संजय ने उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, और बौद्ध मत में भी उन प्रश्नों को अनुत्तरित ही रहने दिया है।

बुद्ध के पूर्वकालीन और समकालीन इन छह मत-मतांतरों पर विचार करने से यह सहज स्पष्ट हो जाएगा कि बुद्ध ने नया मत क्यों चलाया और वह इतना लोकप्रिय क्यों हुआ?

1. पकुध कच्चायन और अजित केशकंबली 'सब्बम् अत्थि, सब्बम् नात्थि' मानते थे। इन्हें ही शाश्वतवाद और उच्छेदवाद कहते हैं।

2. गोसाल का विश्वास यह था कि वस्तुजात का रूप पूर्वनिश्चित है और उसका कोई मूल कारण नहीं: सब्बम् पुब्बेकतहेतु और सब्बम् अहेतु–अपच्चया।

3. दूसरे चिंतकों का विचार था कि सुख-दुख अपने ही कर्मों का फल है या फिर उसका कोई और कारण है: सुखदुक्खम्-परकतम्।

4. और एक विश्वास यह भी था कि जीवन का ध्येय है खाओ, पिओ और खूब मौज उड़ाओ या फिर आत्म-पीड़न करो : कामेसु काम

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुखल्लिकानुयोगी और अत्तकिलमथानुयोगी।

इस प्रकार उस समय की दार्शनिक स्थिति यह थी कि क्या महावीर और क्या बुद्ध, दोनों का ही अतिवादी विचारकों से पाला पड़ा था। महावीर ने अनेकांतवाद और शून्यवाद से एक रास्ता निकाला, बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद से। जबकि एक ओर महावीर अपने अत्तकिलमथ अथवा आत्म-पीड़न के सिद्धांत पर डटे रहे, कस्सप, अजित, गोसाल और संजय के विरुद्ध तब बुद्ध ने मज्झिम-पतिपदा या मध्य मार्ग का उपदेश दिया।

बुद्ध-चरित

ईसापूर्व 623 में बुद्ध का जन्म हुआ। उसके पिता शुद्धोदन, कोशल के अधीन सूर्यवंशी राजा थे जो शाक्य गणतंत्र के प्रमुख शासक थे। उसकी माता महामाया कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह जा रही थी जब लुंबिनी वन में सुपुष्पित दो शाल वृक्षों के बीच में बुद्ध का जन्म हुआ। ढाई सौ वर्ष बाद अशोक ने बुद्ध के जन्म स्थान पर जो स्मारक बनवाया, वह आज भी इस घटना का साक्षी है। असित नामक एक वृद्ध संन्यासी शुद्धोदन के महल में आए और उन्होंने नवजात शिशु को देखा। उसके सौभाग्यशाली लक्षणों को देखकर उन्होंने प्रसन्नता से कहा कि दुनिया में एक उद्धारक आ गया है। उनकी आंखों से आंसू झर पड़े, क्योंकि अतिवृद्ध होने से वह इस बालक की उपलब्धियां देखने के लिए जीवित नहीं रह सकेंगे। बालक का नाम गौतम रखा गया, जबकि उसे सिद्धार्थ कहकर पुकारा जाता था। शाक्यजन बुद्ध का जन्मोत्सव मना रहे थे कि बुद्ध-जन्म के सात दिन बाद महामाया की मृत्यु हो गई। गौतम का पालन उसकी सौतेली मां और महामाया की बहन महाप्रजापति गौतमी ने किया। बचपन से ही गौतम एकांतप्रिय, गंभीर और मननशील थे। यह देखकर पिता ने उनके लिए तीन ऋतुओं में विलास-योग्य तीन प्रासाद बनवा दिए। यशोधरा से उनका विवाह करा दिया। कई प्रकार के नृत्य-संगीत के प्रबंध करा दिए। परंतु होनी कुछ और ही थी। कोमल-हृदय राजपुत्र ने एक जरा-जर्जर, एक रोग-जर्जर और एक मृत व्यक्ति को देखा, और बाद में एक विरक्त संन्यासी को भी देखा। उसके मन में दुख का कारण जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। गौतम को यशोधरा से एक पुत्र भी हुआ। यह समाचार सुनकर गौतम ने कहा कि एक राहुल (बाधा) पैदा हुई है। शुद्धोदन ने सोचा कि चलो, इसका नाम राहुल ही रख दें। शायद इसी कारण संसार में बुद्ध का मन लगा रहेगा। परंतु एक मध्यरात्रि को जब नर्तिकाएं बुद्ध के मन को बहलाने का यत्न कर रही थीं, गौतम का मन उचाट हो गया। वह अपनी पत्नी और बच्चे को सोता हुआ छोड़कर, जिससे किसी को पता न चले—ऐसे चुपचाप, घोड़े पर बैठकर जंगल की ओर चला गया। वहां उसने अपने राजसी परिधान छोड़ दिए, तलवार से अपने लंबे बाल काटे और वह विरक्त बन गया।

सबसे पहले वह एक गुरु आलार कालाम के पास गया, फिर दूसरे गुरु उद्धक रामपुत्र के पास। उसने उनसे जो कुछ सीखना था, वह सीख लिया, फिर भी उसकी सत्य-ज्ञान की प्यास अनबुझी रही। वह अंत में बोधगया के पास एक सुरम्य प्रदेश में पहुंचा, जहां चारों ओर घने जंगल थे, रुपहली रेती के बीच से झरने बहते थे। गौतम ने इस सामान्य विश्वास से कि शरीर-यातना से मन अधिक उदात्त बनता है, कई प्रकार की तपस्याएं कीं। परंतु उसने देख लिया कि इस मार्ग से कुछ नहीं मिलता। छः वर्ष तपश्चर्या करने पर, जब वह 36 वर्ष का था, उसके मन में यह भाव जगा कि वह संबोधि प्राप्त करेगा। दोपहर को सुजाता ने उसे खीर दी। शाम को एक घास काटने वाले ने उसे सूखी घास की पूलियां सोने के लिए दीं। इन्हें शुभ शकुन मानकर एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह जमकर बैठ गया, यह निश्चय करके कि 'चाहे मेरा चर्म, मेरी नाड़ियां और मेरी हड्डियां गल जाएं, मेरा रक्त सूख जाए, मैं इस मुद्रा से नहीं उठूंगा, इसी आसन पर दृढ़ रहूंगा, जब तक कि मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो' (महानिद्देस, पृ० 476)। यह प्रतिज्ञा करने पर मार ने उसे डराने के लिए पहले झंझावात चलाए, प्रभंजन भेजे। परंतु मार के ये अस्त्र बोधिसत्व तक न पहुंच सके, वे फूलों में परिणत हो गए। बोधिसत्व को स्वर्ग में पुनर्जन्म के प्रलोभन भी मार ने दिए। पर उनका कुछ भी प्रभाव न हुआ। मार आखिर पराजित होकर चला गया, उसकी सेना सब

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिशाओं में भाग गई। उसी रात को गौतम को कारण-चक्र का पता लगा। इसका विचार पहले किसी चिंतक ने नहीं किया था। इस विचार से बोधिसत्व बुद्ध बन गए। विनयपिटक के महावग्ग में (1,1,7) लिखा है कि 'जब उस जिज्ञासु के लिए सब बातें स्पष्ट हो गईं, मार की सेनाओं को भगाकर वह आकाश के सूर्य की भांति प्रदीप्त हुआ।'

इस प्रकार चार सप्ताह उसने बोधिवृक्ष के नीचे साधना में बिताए। इसके बाद वह यात्रा पर निकला। राह में मार की लड़कियों ने उसे घेर लिया और उसे लुभाने की बड़ी कोशिश की। परंतु भगवान बुद्ध दृढ़चित रहे। उन्होंने कहा कि ऐसे प्रयत्न उन पर प्रभाव डाल सकते हैं, जिन्होंने अपने मन को वशीभूत नहीं किया है, परंतु उनका बुद्ध पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता।[1] बाद में बुद्ध को दो व्यापारी मिले, जिनके नाम थे तपस्स और भल्लिक। उन्होंने बुद्ध को जौ और मधु का खाद्य दिया। ये बुद्ध के पहले शिष्य बने। बुद्ध के मन में पहले यह शंका हुई कि लोभ और द्वेष से भरी दुनिया में अपना यह सत्य मैं क्यों बताऊं? परंतु बाद में उसे आत्मविश्वास हुआ कि कुछ लोग तो ऐसे मिलेंगे ही, जिनकी दृष्टि साफ होगी। वह इसी विचार से वाराणसी के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) में मृग-वन में पहुंचे, जहां उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। यही मध्यम-मार्ग का पांच शिष्यों को उपदेश कहा जाता है और इस प्रकार से संघ की स्थापना हुई।

उरुवेला का काश्यप एक अग्निपूजक जटाधारी ब्राह्मण था जो बड़ा यज्ञ कर रहा था। बुद्ध ने वहां एक लोकोत्तर चमत्कार दिखलाया। बुद्ध की अनुमति के बिना ब्राह्मण अग्नि प्रज्वलित न कर सके। जब अग्नि जल उठी तो बहुत बड़ी बाढ़ आ गई। बुद्ध ने यज्ञ करने वालों को बचा लिया। काश्यप और उसके चेले बुद्ध के शिष्य बन गए। बुद्ध उन सबको लेकर गयाशीर्ष गए और वहां से मगध की राजधानी राजगृह। मगध में संजय रहते थे, जिनके कई शिष्य थे। सारिपुत्र और मौदगल्यायन भी उन्हीं में से थे। सारिपुत्र ने एक बौद्ध भिक्षु अश्वजित के मुंह से सुना था कि :

1. निदान कथा, पैरा 13।

'उन वस्तुओं के बारे में जिनका कारण है, और जो कारण है, उसके बारे में बुद्ध ने ज्ञान दिया है, और उनका दमन भी किस प्रकार किया जाए यह भी उस महान विरक्त ने बता दिया है।'[1] सारिपुत्र भी बुद्ध का शिष्य बन गया और उसके पीछे मौदगल्यायन भी। संघ में ये दो बुद्धिमान ब्राह्मण आ जाने से उसका गौरव बढ़ा। वे भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य बने। उनके धातु आज भी सुरक्षित हैं और बौद्ध तीर्थों में पूजे जाते हैं।[2]

संबोधि के एक वर्ष बाद शुद्धोदन ने अपने पुत्र को कपिलवस्तु में बुलाया। शुद्धोदन ने अपने पुत्र की अगवानी की। बुद्ध अब एक साधु पुरुष हो गए थे। दूसरे दिन बुद्ध ने नगर की फेरी की और भिक्षा मांगी। उसकी पत्नी यशोधरा को बुद्ध अब अधिक दिव्य पुरुष जान पड़े। वह उनके चरणों में अर्पित हो गई, और अपने पुत्र से बोली, "राहुल अपने पिता से अपना दाय मांग।" बुद्ध ने उसे भी अपना शिष्य बनाकर संघ की शरण में ले लिया। परिवार का नापित उपालि भी भिक्षु बना। श्रावस्ती के एक धनी व्यापारी अनाथपिंडिक ने पूरा जेतवन, इतनी सुवर्ण मुहरें देकर, जिनसे सारी जमीन ढक जाए, खरीद लिया और वहां जेतवन विहार बनवा दिया। कोशल का राजा प्रसेनजित, विशाखा नामक एक धनी स्त्री और कोशल के कई अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति बुद्ध के शिष्य बन गए। वह बाद में राजगृह गए जहां वह बीमार पड़ गए। जीवक नामक राज-वैद्य (कुमार भृत्य) ने उनका इलाज किया। जीवक भी बुद्ध के शिष्य हो गए।

तीन साल बाद शाक्यों और कोलियों के बीच नदी के पानी को लेकर बड़ा झगड़ा पैदा हो गया। भगवान बुद्ध ने बीच-बचाव न किया होता तो बहुत बड़ा फसाद हो जाता। इसके बाद ही शुद्धोदन की मृत्यु हो गई। गौतमी ने अपने पुत्र से कहा कि मुझे भी संघ में ले लो। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनंद ने उसकी बात का समर्थन किया और वह प्रथम

1. विनय, महावग्ग (1, 10, 23)
2. नवंबर 1952 में ये अस्थि-अवशेष सांची में एक विशेष रूप से निर्मित स्तूप में पुनः प्रतिष्ठित किए गए। ये पहले सांची से लंदन के एक म्यूजियम में ले जाए गए थे। ये वापस लाए गए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

भिक्षुणी बनी। इस प्रकार भारत में पहली बार एक स्त्री के लिए भी घर छोड़कर आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग खुल गया। कई वर्ष बीत गए। बुद्ध और उनके शिष्य देश-भर भ्रमण करते रहे। पुराने अंधविश्वास, जीव-हिंसा और परस्पर-विद्वेष के विरुद्ध शांति, मैत्री, करुणा, अहिंसा का प्रचार करते रहे। बुद्ध के चमत्कारिक प्रभाव को देखकर कई ब्राह्मणों ने और अन्य संप्रदाय-वादियों ने बुद्ध के विरुद्ध कई षड़यंत्र रचे। चिंचा नाम की एक वेश्या को बुद्ध को प्रलोभन में डालने के यत्न में गहरी सजा मिली। एक दूसरी सुंदरी ने कहा कि वह भी बुद्ध से प्रेम करती है। उसका भी वही हाल हुआ।

जब बुद्ध 72 वर्ष के हुए तो अजातशत्रु ने मगध के राजा अपने पिता बिंबिसार की हत्या कर दी। यह नया राजा संघ के एक भिक्षु देवदत्त का चेला था। दोनों ने मिलकर बुद्ध के प्राण लेने के यत्न किए। परंतु नतीजा उल्टा ही निकला। देवदत्त ने एक बहुत बड़ा पत्थर बुद्ध पर बड़ी ऊंचाई से गिराने का यत्न किया। पर जरा-सी चोट ही उन्हें लगी। अंत में उन पर एक पागल हाथी छोड़ा गया। उसने भी बुद्ध के आगे झुककर प्रणाम किया। देवदत्त ने इन सब प्रयत्नों में निराश हो, संघ में फूट डालने की कोशिश की। नया संघ भी बनाया। पर अंत में देवदत्त के मुंह से खून गिरने के कारण वह मर गया। वह और षड़यंत्र न कर सका।

भगवान बुद्ध की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व उनके संघ को एक बड़े दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। कोशल के राजा प्रसेनजित का एक शाक्य रानी से पुत्र था, जिसका नाम विडूडभ था। अपनी माता के घर उसका नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण अपमान किया गया। उसने गुस्से में प्रतिज्ञा की कि मैं शाक्यों से बदला लेकर रहूंगा। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने पूरी शाक्य जाति को तलवार के घाट उतार दिया। जब वृद्ध बुद्ध ने ये समाचार सुने होंगे तो उनके दुख का ठिकाना न रहा होगा। फिर भी वह जगह-जगह घूमते रहे और शांति, विश्वबंधुत्व, प्रेम और पवित्रता का उपदेश देते रहे। आम्रपाली नामक गणिका ने अपना आम्रवन संघ को दे दिया।

अस्सी वर्ष की आयु में बुद्ध को लगा कि अब उनका अंत निकट आ गया है। उन्होंने आनंद को समझाया कि अब बुद्ध-वाणी ही उनकी निर्देश-दायिनी रहेगी। शाक्यों के कत्ले-आम के बाद एक ही सप्ताह में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन मर गए। तब बुद्ध पावा में थे। चुंद नाम के एक लुहार ने उन्हें चावल, रोटी और सूकरमद्दव खाने के लिए बुलाया। 'सूकरमद्दव' (शूकरमार्दव) शब्द के अर्थ पर बहुत-से मतभेद हैं, कुछ लोग इसे सूअर का नरम मांस मानते हैं, कुछ लोग एक प्रकार की वनस्पति। वह जो भी रही हो, बुद्ध को वह खाद्य-वस्तु पची नहीं और उन्हें पेचिश हो गई। उसी बीमारी में वह कुशीनगर पहुंचे। वहां दो शाल-वृक्षों के नीचे उन्होंने आनंद से एक वस्त्र बिछाने के लिए कहा। दो शाल-वृक्षों के बीच में ही वे जनमे थे, उसी स्थान पर वे मरे। वे एक सिंह की भांति लेटे रहे, उन्होंने हजारों भिक्षुओं को उपदेश दिया। उनके अंतिम शब्द थे: "अब भिक्षुओ, मुझे तुमसे और कुछ नहीं कहना है। केवल यही कहना है कि जो कुछ बना हुआ है, वह क्षय होगा। निर्वाण के लिए अपने आप उत्साह से यत्न करो।" बड़े राजसी सम्मान से उनका अंतिम संस्कार हुआ। बुद्ध की अस्थियों को लेकर जो झगड़ा उनके शिष्यों में हुआ, वह द्रोण नामक एक ब्राह्मण ने शांत किया। भारत के विभिन्न भागों में आठ स्तूप बनाए गए। वहां उनके धातु रखे गए। वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि को बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ। वैशाखी पूर्णिमा को ही उनका जन्म हुआ। वैशाखी पूर्णिमा को ही उन्हें संबोधि प्राप्त हुई थी। अतः यह तीन प्रकार से पवित्र दिवस माना जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

चार बौद्ध परिषदें

प्रथम परिषद

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ की प्रथम परिषद राजगृह में बुलाई गई। वहां धम्म और विनय निश्चित हुए। अभिधम्म उनका भाग नहीं था। महाकस्सप इस परिषद के सभापति थे। उपालि और आनंद ने उसमें प्रमुख भाग लिया। चुल्लवग्ग के 11वें खंधक के अनुसार जो परंपरा बताई जाती है वही दीपवंस और महावंस में भी मिलती है। उसके अनुसार कुशीनगर में बुद्ध परिनिर्वाण के समय महाकस्सप वहां उपस्थित नहीं थे। वह पावा से कुशीनगर आ रहे थे कि राह में बुद्ध की मृत्यु का समाचार उन्हें एक आजीवक पंथ के नग्न साधु ने दिया। सुभद्द नामक एक थेर ने भिक्खुओं को शोक करने से रोका, और कहा—"अच्छा ही हुआ, बुद्ध न रहे। गुरु के न होने पर विद्यार्थियों को मनचाहा काम करने की छुट्टी मिलती है, वैसा ही अब हुआ है।" यह सुनकर महाकस्सप धम्म के भविष्य के विषय में चिंतित हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि उन पर भगवान बुद्ध का जो उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसे पूरा करने के लिए बौद्ध संघ की सभा बुलाई जाए। तिब्बती दुल्वा और युआन-च्वांग के वर्णनों से यह जान पड़ता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद धम्म भी लुप्त हो जाएगा, ऐसी आशंका केवल सुभद्द के ही नहीं, वरन् सभी के मन में छा रही थी। कुछ विचार के बाद राजगृह संघ का सभा-स्थल चुना गया। यह कहा जाता है कि सप्तपर्णी गुहा के पास संघ की बैठक हुई, किंतु तिब्बती दुल्वा के अनुसार न्यग्रोध गुहा के पास संघ की बैठक हुई। लोकोत्तरवाद के अनुसार वेभार अथवा वैभार पर्वत के उत्तर में, और अश्वघोष के अनुसार गृध्रकूट पर्वत की इंद्रशाल गुहा में संघ की बैठक हुई। पालि वृत्तांतों से यह भी पता चलता है कि गुहा के बाहर अजातशत्रु ने एक मंडप बनवा दिया था। अभी तक इस गुहा का निश्चित पता नहीं लगता। परंतु प्रथम परिषद राजगृह में हुई, यह निश्चित है। वहां सब सुविधाएं थीं। चुल्लवग्ग में यद्यपि अजातशत्रु का नामोल्लेख नहीं मिलता, फिर भी तिब्बती दुल्वा, महावंस और समंत-पासादिका के अनुसार वहां का सब प्रबंध अजातशत्रु ने ही करवाया था। वर्षा ऋतु के दूसरे मास में संघ की प्रथम सभा जुटी। चार सौ निन्यानवे भिक्खु इस सभा में आए थे। इस अवसर पर तथा बुद्ध के परिनिर्वाण के स्थान पर जितने भिक्खु उपस्थिति थे, उन सबका मत लेकर यह संख्या निश्चित की गई थी। युआन-च्वांग भिक्खुओं की संख्या एक हजार बतलाता है। परंतु यह अत्युक्ति भी हो सकती है, क्योंकि यह चीनी यात्री इस घटना के बहुत वर्षों बाद भारत में आया था। पहले आनंद को इस परिषद में नहीं लिया गया था। बाद में सब भिक्खुओं के आग्रह पर उसे सम्मिलित किया गया। परिषद में सम्मिलित होने से पहले आनंद को उन आक्षेपों का उत्तर देना पड़ा जो उस पर लगाए गए थे। आनंद पर जो आक्षेप लगाए गए थे, वे इस प्रकार से थे :

(1) वह बुद्ध की मृत्यु के शोक से इतना अभिभूत हो गया था कि वह छोटे-छोटे उपनियम निश्चित न कर सका।

(2) बुद्ध का चीवर सींते समय वह उस पर पैर रखकर चला क्योंकि इस कार्य में उसका कोई और सहायक न था।

(3) उसने भगवान के शरीर को पहले स्त्रियों द्वारा अभिवादन करने की अनुमति दी, क्योंकि वह उन्हें रोकना नहीं चाहता था। यह उसने स्त्रियों को महत्व देने के लिए भी किया।

(4) उसने भगवान से अपने कल्प-अध्ययन को चलाए रखने की प्रार्थना नहीं की। इस विस्मृति में वह किसी बुरी शक्ति के प्रभाव में आ गया।

(5) महाप्रजापति गौतमी के कारण उसने स्त्रियों को संघ में आने दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तिब्बती दुल्वा के अनुसार दो और आक्षेप आनंद पर किए गए:

(6) बुद्ध के तीन बार मांगने पर भी आनंद ने उन्हें पीने का पानी नहीं दिया।

(7) उसने दुश्चरित्र स्त्रियों-पुरुषों को भी बुद्ध के गुप्तांगों का दर्शन करने दिया। इन दो अंतिम आक्षेपों का उत्तर देते हुए आनंद ने यह कहा कि नदी का पानी गंदला था और गुह्यांग दर्शन से पापियों की वासनाओं से मुक्ति हो जाती है। संघ इन उत्तरों से संतुष्ट हो गया।

इसी प्रथम परिषद में छन्न को ब्रह्मदंड की सजा दी गई। छन्न बुद्ध का सारथी था। परंतु उसने संघ के बड़े-छोटे सभी सदस्यों का अपमान किया था। उसका पूरा सामाजिक बहिष्कार किया गया। जब उसे सजा सुनाई गई तो छन्न पश्चात्ताप-दग्ध हो गया। वह अर्हत हो गया। तब वह सजा से मुक्त हो गया।

संघ की प्रथम बैठक हुई ही नहीं, ऐसी प्रो. ओल्डेनबर्ग की मान्यता है, परंतु उसका कोई आधार नहीं। इस प्रथम बैठक के चार परिणाम निकले—(1) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति; (2) आनंद के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चय; (3) आनंद पर आक्षेप और उनके उत्तर; (4) छन्न को सजा और उसका परिताप।

दूसरी परिषद

बुद्ध के निर्वाण के एक शतक बाद वैशाली में दूसरी परिषद हुई। चुल्लवग्ग में लिखा है कि वज्जी के भिक्षु दस बातें (दस वत्थूनि) ऐसी करते थे जिन्हें काकंडक-पुत्र यश धर्म-सम्मत नहीं मानता था। वह उन्हें अनैतिक और अधर्मपूर्ण मानता था। वज्जी के भिक्षुओं ने यश को 'पटिसारणीय कम्म' का दंड देने का आदेश दिया। यश को अपना पक्ष-समर्थन करना पड़ा। जनसाधारण के सामने उसने अपनी बात अद्भुत वक्तृत्व-कौशल से रखी। इस पर वज्जियों ने 'उपेक्खणीय कम्म' नामक दंड उसे सुनाया, जिसका अर्थ था यश का संघ से निष्कासन।

उपर्युक्त दस वस्तुएं चुल्लवग्ग में इस प्रकार से दी गई हैं :

(1) सिंगीलोण कप्प— अर्थात् एक खाली सींग में नमक ले जाना।

यह पाचित्तिय ३८ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार खाद्य-संग्रह नहीं करना चाहिए।

(2) द्वांगुल कप्प— जब छाया दो उंगल चौड़ी हो तब भोजन करना। यह पाचित्तिय ३7 के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार मध्याह्न के बाद भोजन निषिद्ध था।

(३) गामांतर कप्प— एक ही दिन में दूसरे गांव में जाकर दुबारा भोजन करना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

(4) आवास कप्प— एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ विधि करना। यह महावग्ग के नियमों के विरुद्ध था।

(5) अनुमति कप्प— किसी कर्म को करने के बाद उसके लिए अनुमति प्राप्त कर लेना। यह भी भिक्षु-शासन के विरुद्ध था।

(6) आचिण्ण कप्प— रूढ़ियों को भी शास्त्र मान लेना। यह भी उपर्युक्त कोटि का कर्म था।

(7) अमथित कप्प— भोजन के बाद छाछ पीना। यह पाचित्तिय 35 के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

(८) जलोगिम्पातुम्— ताड़ी पीना। यह पाचित्तिय 51 के विरुद्ध था जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध था।

(९) अदसाकम्—निसीदनम्— जिसके किनारे न हों ऐसे कंबल या रजाई का उपयोग करना। यह पाचित्तिय ८९ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार बिना किनारे की चादर निषिद्ध थी।

(10) जातरूपरजतम्— सोने और चांदी का स्वीकार करना। यह निस्सग्गिय पाचित्तिय के १८वें नियम के अनुसार निषिद्ध था।

भदंत यश ने ये सब व्यवहार अधर्मशील बतलाए। उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। वहां से वे कौशांबी गए और उन्होंने पश्चिम प्रदेश के अवंती और दक्षिण प्रदेश के भिक्षुओं को बुलवाया, जिससे कि वे मिलकर इस मामले को तय करें, अधर्म प्रसार को रोकें, और विनय की रक्षा करें।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आगे चलकर वह अहोगंगा पर्वत पर पहुंचे जहां संभूत साणवासी रहते थे। उन्होंने अभिवादनपूर्वक इस विषय पर विचार करने के लिए उनसे कहा। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। इसी बीच पश्चिम से 60 तथा अवंती और दक्षिण से ४४ अर्हत वहां और आ गए। सबका यह विचार हुआ कि सोरेय्य में जो अर्हत रेवत सहजाति रहते हैं, उनकी राय ली जाए। वे सब वहां पहुंचे। रेवत ने एक-एक कर इन दस विषयों को निषिद्ध बतलाया। उधर वज्जी के भिक्खु भी चुप नहीं थे। वे भी रेवत सहजाति के पास पहुंचे। उन्होंने बड़े-बड़े उपहार रेवत को देने चाहे, जो उसने मना कर दिए। रेवत के शिष्य उत्तर को वज्जियों ने किसी तरह राजी कर लिया, परंतु वह भी उनका समर्थन न कर सका। सात सौ भिक्षुओं की एक सभा हुई पर कोई निश्चय न हो सका। पूर्व और पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनाई गई। भिक्षु अजित स्थान-नियंत्रक बनाए गए। सब्बकामी सभापति बनाए गए। एक-एक करके दसों बातें सामने रखी गईं। सभी अधर्मपूर्ण बताई गईं। संघ की पूरी सभा ने यही निर्णय दिया। वज्जी के भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित हुआ।

उपर्युक्त वृत्तांत चुल्लवग्ग में दिया गया है। महावग्ग और दीपवंस में भिक्षु-संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दी गई है। दीपवंस और समंत–पासादिक के अनुसार वह सभा अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय में हुई। कालाशोक पहले वज्जियों के पक्ष में था। बाद में उसने थेर-संघ की बात मान ली। दीपवंस के अनुसार वैशाली के दस हजार भिक्षुओं की अलग से एक महासंगीति हुई। महावंस के अनुसार 700 थेर भिक्खुओं ने धम्म का संकलन किया। बुद्धघोष के अनुसार अंतिम निर्णय के बाद 700 भिक्षुओं ने विनय और धम्म का पाठ किया और एक नया संस्करण तैयार किया जिससे पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कंध बने। चीनी और तिब्बती स्रोतों के अनुसार, गौण विवरणों में चाहे कुछ मतभेद हो, किंतु द्वितीय परिषद की कथा सर्वमान्य है। इस परिषद में बुद्ध धर्म में फूट पड़ गई और महासंघिक अलग हो गए।

तीसरी परिषद

तीसरी परिषद पाटलिपुत्र में प्रियदर्शी अशोक के निर्देशन में हुई। बौद्ध धर्म में कई पंथ और संप्रदाय उठ खड़े हुए थे, उनमें एकरूपता लाना आवश्यक था। केर्न के अनुसार यह तीसरी सभा केवल स्थविरवादियों या विभज्यवादियों की सभा थी। तिस्स मोग्गलिपुत्त ने अशोक को बुद्ध धर्म में दीक्षित किया था। उसे धर्म के अनुयायियों में अधर्म का प्रवेश देखकर बड़ा दुख हुआ। उसने इस संघ से सब धर्मद्रोहियों को निष्कासित कर दिया, और अभिधम्म में निहित कथावस्तु का प्रतिपादन किया। तिस्स मोग्गलिपुत्त मेधावी ब्राह्मण थे। सोलह वर्ष की आयु में वे तीनों वेद पढ़ चुके थे। थेरसिग्गव ने उन्हें बौद्ध धर्म की दीक्षा दी और वे अर्हत पद तक पहुंचे। उन्हीं के प्रभाव से सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महिंद और पुत्री संघमित्ता को संघ में प्रविष्ट कराया। वे दोनों श्रीलंका तक गए और उन्होंने सारे द्वीप को बौद्ध बनाया। अशोक के बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद विहारों की समृद्धि खूब बढ़ गई। जो बौद्ध धर्म से निष्कासित हुए थे वे फिर संघ में लौटने के लिए उत्सुक हो गए। वे अपनी ही बातें अपने ढंग से कहते और करते थे और उन्हें बौद्ध मत कहकर चलाना चाहते थे। थेर मोग्गलिपुत्त को इससे बड़ा दुख हुआ और वे अहोगंगा पर्वत पर सात वर्ष तक एकांत में जाकर रहे। संघ में झूठे भिक्षु और धर्मद्रोही इतने बढ़ गए थे कि सात वर्ष तक कोई उपोसथ या पवारणा विधि ही नहीं हुई। अशोक ने आदेश दिया कि उपोसथ मनाया जाए। जिस मंत्री को यह काम दिया गया था उसने अशोक की आज्ञा को ठीक तरह से न समझकर बड़ी भारी गलती यह की कि जिन भिक्षुओं ने अशोक की इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया, उसने उन भिक्षुओं के सिर कटवा डाले। अशोक को जब ये समाचार मिले, वे बड़े दुखी हुए और पाश्चात्ताप से उन्होंने क्षमा मांगी। इस विषय पर बौद्धों में दो मत हो गए कि सम्राट ने उचित किया या अनुचित। भिक्षुओं ने कहा कि केवल थेर तिस्स मोग्गलिपुत्त ही इसका निर्णय कर सकते हैं। बड़ी मिन्नतों के बाद थेर तिस्स नाव द्वारा पाटलिपुत्र आए। सम्राट स्वयं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उनकी अगवानी करने पहुंचे। उन्हें बड़े सम्मानपूर्वक आराम से रखा गया। उन्हें एक चमत्कार दिखाने के लिए कहा गया। वैसा करने पर सम्राट का सद्धर्म में विश्वास बढ़ गया। अशोक ने पूछा कि क्या भिक्षुओं के वध के कारण उससे कोई अधर्म हुआ है? थेर ने उत्तर दिया—"बुरे हेतु के बिना कोई अधर्म नहीं हो सकता।" सम्राट का संदेह मिट गया। एक सप्ताह तक थेर ने सम्राट को सद्धर्म की शिक्षा दी। इसके बाद सम्राट ने सभी भिक्षुओं की एक सभा बुलाई। सबको अपने-अपने मत प्रतिपादन का अवसर दिया गया। सच्चा मत कौन-सा है, यह पूछने पर सबने विभज्जवाद को मान्यता दी। संघ ने उपोसथ व्रत किया। इससे सबकी पाप-वासना और अकुसलधम्मों से निवृत्ति हो गई। तत्पश्चात् थेर तिस्स ने तीनों पिटकों में पारंगत एक हजार भिक्षुओं को चुना जिससे कि वे बौद्ध धर्म के सिद्धांत निश्चित कर सकें। नौ महीने तक यह कार्य चलता रहा, और इस प्रकार त्रिपिटक-संकलन का कार्य पूरा हुआ। इसी परिषद में कथावस्तु-प्रकरण का भी निपटारा हो गया।

तीसरी परिषद की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि बुद्ध धर्म के प्रचारक संसार के विभिन्न देशों में भेजे गए। यह बताया जा चुका है कि महिंद और संघमित्ता श्रीलंका में गए और इसी प्रकार अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि कई और बौद्ध धर्म प्रचारक एशिया, अफ्रीका और यूरोप में भेजे गए।

चौथी परिषद

शक या तुरुष्क वंश के शक्तिशाली राजा कनिष्क के तत्त्वावधान में चौथी परिषद हुई। कनिष्क का साम्राज्य काबुल, गंधार, सिंध, उत्तर-पश्चिमी भारत, कश्मीर और मध्यदेश तक फैला था। उत्तर भारतीय बौद्ध उसे अशोक के समान आदर देते थे। सिक्कों की साक्षी से पता चलता है कि कनिष्क पहले कोई ईरानी धर्म मानता था, बाद में वह बौद्ध हो गया। चौथी परिषद उसने 100 ईसवी में बुलाई। कुछ लोगों के अनुसार यह परिषद जालंधर में, और दूसरों के अनुसार कश्मीर में हुई। दक्षिण के बौद्ध इस परिषद को मानते ही नहीं। सिंहली ग्रंथों में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। इस परिषद में बौद्धों के अट्ठारह मत सच्चे माने गए। युआन-च्वांग लिखता है कि कनिष्क हर रोज एक नए बौद्ध भिक्षु को बुलाता और यह अनुभव करता कि हर एक का मत दूसरे से भिन्न है। तब उसने पार्श्व से पूछा कि इन मतों में सच्चा कौन-सा है? उन्होंने संघ की सभा बुलाने की सलाह दी। कनिष्क ने एक ऐसा विहार बनवाया जिसमें पांच सौ भिक्षु रह सकें और भिक्षुओं को पिटकों पर भाष्य लिखने के लिए कहा। सुत्त-पिटक-भाष्य, विनय-विभाषा और अभिधम्म-विभाषा में से प्रत्येक में एक लाख श्लोक हैं। इस परिषद का मुख्य कार्य इन भाष्यों की रचना ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिषद में सर्वास्तिवाद मत के भिक्षु अधिक थे। महायान के कोई प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए। क्योंकि यह मत नागार्जुन के बाद बढ़ा। 'राजतरंगिणी' के अनुसार नागार्जुन तुरुष्क राजा के पश्चात् हुए। युआन-च्वांग लिखता है कि ये भाष्य रचे जाने के बाद ताम्रपत्रों पर लिखे गए और पत्थर की पेटियों में रखे गए, जो इस कार्य के लिए बनाए गए स्तूप में रख दी गईं। केर्न ने लिखा है कि तीसरी परिषद के साथ बौद्ध मतवादों के पुराने झगड़े समाप्त हो गए परंतु इससे नई महत्वाकांक्षाएं पैदा होने में कोई रुकावट नहीं हुई। युआन-च्वांग या तिब्बती स्रोतों से यह पता नहीं चलता कि ये भाष्य किस भाषा में लिखे गए। यह अनुमान किया जाता है कि सारा कार्य संस्कृत में हुआ होगा। केर्न के अनुसार और कोई भाषा ऐसी थी ही नहीं जो चीनी लोग भी जानते हों। इस प्रकार से त्रिपिटक के संस्कृत पाठ ही तब प्रचलित रहे होंगे। चौथी परिषद का यही बड़ा कार्य था कि बौद्ध दर्शन संस्कृत में सूत्रबद्ध हुआ।

श्रीलंका में बौद्ध-परिषद

महावंस तथा अन्य सिंहली परंपरा के अनुसार श्रीलंका में तीन परिषदें हुईं। प्रथम परिषद राजा देवानां पिय तिस्स के राज्यकाल में (247 से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

207 ईसा पूर्व) अरिट्ठ थेर के सभापतित्व में हुई। थेर महिंद के लंका में आने पर यह परिषद हुई। जनश्रुति है कि साठ हजार भिक्षु इसमें आए। महिंद के प्रथम सिंहली शिष्य अरिट्ठ थे। उन्होंने सद्धर्म सूत्रों का पाठ किया। यह परिषद् अनुराधपुर में थूपाराम में हुई।

दूसरी परिषद राजा वट्टगामणि अभय (101-77 ईसा पूर्व) के समय में हुई। थेरवाद निकाय के बौद्ध इसे चौथी परिषद मानते हैं। सिंहली परंपरा के अनुसार इस परिषद के अंत में न केवल त्रिपिटक परंतु अट्ठकथाएं भी तालपत्र पर लिखी गईं। ये पाठ सौ बार पढ़े और शुद्ध किए गए। महाथेर रक्खित की अध्यक्षता में 500 विद्वान भिक्षु इस कार्य में सम्मिलित हुए। इसे अलु-बिहार अथवा आलोक-विहार परिषद कहते हैं। इस परिषद को राजा के एक मंत्री द्वारा सहायता मिलती थी।

1865 ईसवी में, सिंहल में, रत्नपुर में हिक्कडुव सिरि सुमंगल की अध्यक्षता में एक अन्य परिषद हुई। पांच महीने तक यह चलती रही। इद्दमलगोद बसनायक नीलमे ने उसे संरक्षण दिया।

थाईलैंड (स्याम) में परिषद

थाई भिक्खु सोमदेज फ्रा वनराट (भदंत वनरतन) ने राम प्रथम के समय में यानी बौद्ध संवत 2332 (1739 ईसवी) में जो संगीतिवंस[1] या प्रार्थनाओं का इतिहास लिखा है, उसमें नौ परिषदों का उल्लेख है। इनमें से पहली तीन भारत में हुईं, चौथी से सातवीं तक श्रीलंका में और आठवीं और नौवीं थाईलैंड में हुईं। सिंहली स्रोतों में प्रथम पांच परिषदों का उल्लेख है। थाई-स्रोतों के अनुसार वर्णित छठी से नौवीं तक की परिषदें सही अर्थ में परिषदें नहीं कही जा सकतीं।

1. बैंकाक की नेशनल लाइब्रेरी मे इस ग्रथ की दो प्रतिया सुरक्षित हैं। यह ग्रंथ राजा राम षष्ठ के आदेश से बौद्ध संवत 2466 (1923 ईसवी) मे प्रकाशित किया गया।

छठी परिषद श्रीलंका में राजा महानाम के राज्य-काल में बौद्ध संवत् 516 में हुई। इस समय भदंत बुद्धघोष ने सिंहली भाषा से मागधी (पालि) में भाष्यों के अनुवाद किए। सातवीं परिषद भी श्रीलंका में ही हुई। राजा पराक्रमबाहु के राज्यकाल में, बौद्ध संवत् 1587 में, यह परिषद राजमहल में एक वर्ष तक होती रही। इसने महाकस्सप की अध्यक्षता में महाथेरों के त्रिपिटक भाष्य को पुनर्शोधित किया।

थाईलैंड में आठवीं और नौवीं परिषद की बैठक हुई। चिंगमाई में राजा श्री धर्मचक्रवर्ती तिलक राजाधिराज ने यह परिषद बौद्ध धर्म को सुस्थिर करने के लिए बुलाई। 2000 से 2026 ईसा पूर्व के बीच महाबोधि आराम में यह परिषद हुई। थाईलैंड के सब विद्वान भिक्खु इसमें आए। नौवीं परिषद बैंगकाक में बौद्ध संवत् 2331 में हुई। पुरानी राजधानी अयुधिया (अयोध्या) आग से जल गई और कई ग्रंथ और त्रिपिटक की हस्तलिखित प्रतियां नष्ट हो गईं। बौद्ध संघ में अव्यवस्था-सी मच गई। अनैतिकता फैल गई। राजाश्रय में 218 वृद्ध और 32 विद्वान जमा हुए और एक वर्ष तक त्रिपिटक का पारायण करते रहे। कई नए बौद्ध मंदिर और विहार बनाए गए।

बर्मा में परिषद

मांडले में 1871 ईसवी में राजा मिन दोन मिन के आश्रय में 2400 विद्वान भिक्षु इस संगम में सम्मिलित हुए। जागराभिवंस, नरिंदाभिधज और सुमंगलसामि एक के बाद एक अध्यक्षता करते रहे। त्रिपिटक की विविध प्रतियों को मिलाकर पाठ निश्चित किया गया और वे 729 संगमरमर की शिलाओं पर उत्कीर्ण किए गए। यह कार्य राजमहल में पांच महीने चलता रहा।

मई 1954 में रंगून में छठी महान बौद्ध परिषद शुरू हुई। इसमें संसार के अनेक देशों के भिक्खु जमा हुए। अभिधज महारथ गुरु भदंत रेवत सभापति बने। बर्मा भर से 500 भिक्षु बुलाए गए थे, जिन्होंने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्रिपिटक का पुनः शोधन किया। मूल पाठ निश्चित किए गए। वैशाख, 1956 तक यानी बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2500वीं पुण्य-तिथि तक यह परिषद त्रिपिटक शोध का अपना कार्य करती रही। इस छठी परिषद के शुभारंभ के अवसर पर दुनिया के हर कोने से संदेश आए। भारत से राष्ट्रपति डाक्टर राजेंद्र प्रसाद तथा प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जो संदेश भेजे थे, वे नीचे दिए जाते हैं:

"रंगून में वैशाखी पूर्णिमा को आरंभ होने वाले छट्ठ संगायन को अपनी शुभकामनाएं भेजते हुए, बुद्ध के परिनिब्बान के बाद प्रायः ढाई हजार वर्षों के बीच में ऐसे जो संगायन हुए हैं, उनका स्वाभाविक रूप से मुझे स्मरण हो आता है। पहले तीन संगायन क्रमशः राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में हुए। ये तीनों स्थान बौद्ध इतिहास में प्रसिद्ध हैं और तथागत के पदचिन्हों से पावन बने हैं। बाद में दोनों संगायन श्रीलंका और बर्मा में हुए। इन देशों ने बुद्ध के उपदेश पाए और आज तक उन्हें अपने जीवन और अपनी संस्कृति में कायम रखा। यह एक बहुत अच्छा विचार है कि अब मूल ग्रंथों को संपादित और संशोधित करके न केवल बर्मी भाषा और बर्मी लिपि में अनुवादित किया जा रहा है, परंतु साथ ही हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं और लिपियों में भी ये अनुवाद कराए जा रहे हैं।

इस संगायन के साथ-साथ यदि एक बड़ा बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित करने का कार्यक्रम हो, तो उसके द्वारा ज्ञान-प्रसार में और भी सहायता होगी। बुद्ध के उपदेशों को पुनर्जीवित करने में तो मदद मिलेगी ही, साथ ही आज के युग में मानव-जाति के आध्यात्मिक और नैतिक अभ्युदय की जो आवश्यकता है वह भी पूरी होगी। यह अभ्युदय केवल भौतिक आवश्यकताओं को अधिक से अधिक पूरा करने से सिद्ध नहीं होगा। परंतु उसमें वह आध्यात्मिक और नैतिक ज्योति जगानी होगी जिसके आधार पर लोभ, द्वेष और भ्रांति-जन्य समस्याओं का समाधान हो सकेगा। ये समस्याएं ही आज के सब संघर्षों के मूल में हैं और वे मानव-जाति को सर्वनाश की ओर ले जा रही हैं।

हम आशा करें कि इस संगायन द्वारा न केवल उन देशों में जहां बुद्ध--धर्म का पालन नहीं हो रहा है वहां बुद्ध-धर्म के प्रति प्रेम बढ़ेगा, परंतु उन लोगों के जीवन में भी जो कि सौभाग्य से इस धर्म का आज भी पालन कर रहे हैं, श्रद्धा और आदर पुनर्जागरित करने में सहायता मिलेगी। आज की भटकी हुई मानव-जाति में यह संगायन पुनः शांति और सद्भावना का संदेश प्रचारित करे।"

—राजेंद्र प्रसाद

"एक साल पहले या शायद ज्यादा अरसा हुआ हो, बर्मा के प्रधानमंत्री ने मुझसे कहा था कि एक बड़ी सभा या बुद्ध-धर्म का संगायन बुलाया जा रहा है और वह बर्मा में होगा। मेरा मन पुराने सब संगायनों की ओर गया, राजगृह में मगध के सम्राट अजातशत्रु के जमाने में पहला संगायन हुआ था तब से लगाकर मांडले में 1871 में जो संगायन हुआ उस तक। बुद्ध-मत के इतिहास में यह संगायन महान पथ-चिन्ह हैं।

अब मैं इस महान धर्म के छठे संगायन का स्वागत करता हूं। यह एक बड़े ऐतिहासिक महत्व के दिन शुरू हो रहा है—बुद्ध की ढाई हजारवीं बरसी पर। वह पूर्णिमा का चांद जो बुद्ध के जन्म के दिन, संबोधि के और परिनिब्बान के दिन अपनी पूरी आभा से चमका था, वही अब इस शुभ दिन पर भी चमकेगा, मानव-इतिहास के ढाई हजार बरस बाद।

दुनिया के सब देशों का यह संगायन बुद्ध के सिद्धांतों और उपदेशों पर विचार करेगा, और बौद्ध धर्म के मानने वालों के लिए शायद नए सिरे से उन्हें ग्रथित करेगा। परंतु बुद्ध इन सब नियमों और सिद्धांतों से भी बढ़कर हैं, उनसे बड़े हैं, और युग-युगों से उनके अमर संदेश ने मानवता को स्पंदित किया है। शायद पुराने इतिहास में कभी भी बुद्ध के शांति के संदेश की इतनी जरूरत नहीं थी, जितनी कि आज की पीड़ित और भटकी हुई मानव-जाति को है। यह बड़ी परिषद उनके शांति के संदेश को फिर से फैलाए और हमारी पीढ़ी को कुछ हद तक दिलासा देने में मदद करे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बुद्ध की स्मृति में मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूं और रंगून के बड़े संगायन को अपनी आदरपूर्वक शुभकामनाएं भेजता हूं। यह संगायन इस मंगलमय समारोह के अवसर पर जुट रहा है, जबकि दुनिया को शांति की बड़ी जरूरत है।

—जवाहरलाल नेहरू

अशोक और बौद्ध धर्म का विस्तार

अशोक बौद्ध धर्म के सबसे बड़े राजाश्रयदाता थे। बौद्ध साहित्य के अनुसार अशोक अपनी जवानी में क्रोधपूर्ण स्वभाव के कारण चंड अशोक कहलाते थे। तब वह विदिशा के राज्यपाल नियुक्त हुए। वहीं के एक धनी व्यापारी की लड़की से उन्होंने विवाह किया। जब उन्हें पता चला कि उनके पिता बिंदुसार मृत्यु--शैया पर हैं, तब वह पाटलिपुत्र पहुंचे और अपने भाई को छोड़ उन्होंने सबका वध किया। चार वर्ष तक जनता अशोक से इस तरह नाराज थी कि राज्याभिषेक जनता के क्रोध की शांति के बाद ही हो सका। अशोक के 13वें शिलालेख से पता चलता है कि उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की, और हजारों को मार दिया। इस घटना का उन्हें परिताप हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि अब कोई सैनिक अभियान नहीं करेंगे, बल्कि धर्मविजय करेंगे। भाबरू शिलालेख में सात ऐसे अंश मिलते हैं, जो कि पालि साहित्य में भी पाए जाते हैं। अशोक चाहते थे कि ये अंश जनसाधारण तक पहुंचें। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष वे लुंबिनी वन के उद्यान में पहुंचे, और उन्होंने एक स्तंभ लगवाया जिस पर एक उत्कीर्ण लेख है। इस यात्रा के उपलक्ष्य में वहां रहने वाले लोगों को अशोक ने कर देने से मुक्त कर दिया। वह सारनाथ और बोधगया भी गए। सारनाथ में एक खंडित स्तंभ मिला है जिससे जान पड़ता है कि जो भी बौद्ध संघ की एकता को तोड़ना चाहे, उन्हें बहिष्कृत करने का आदेश अशोक ने दिया था। पालि सिगालोवाद सुत्त (दीघनिकाय) में अशोक के धम्म-विषयक विचार ग्रथित हैं। वह अन्य सब धर्म—पंथों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देते हैं। श्रमण, बाह्मण,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आजीविक, जैन आदि के प्रति वह एक-सा व्यवहार करना चाहते हैं। यह भी सुपरिचित है कि आजीविकों के लिए उन्होंने गुफाएं दान में दी थीं। कई प्राणियों की हिंसा उन्होंने निषिद्ध मानी। जीव को जीव पर जीना आवश्यक नहीं। यहां तक कि पशुओं को बधिया बनाना और उन्हें नाल ठोकना भी, कुछ विशेष बौद्ध पर्व-दिनों पर निषिद्ध कर दिया गया था।

अशोक ने अपने साम्राज्य में विभिन्न श्रेणियों के धर्मप्रचारक नियुक्त किए। वह स्वयं धार्मिक यात्राएं करते थे। स्थान-स्थान पर उन्होंने शिलालेख उत्कीर्ण कराए। वृक्षारोपण किया, कुंए खुदवाए, मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाए— न केवल अपने देश में परंतु पड़ोसियों के देश में भी, यथा चोल, पांड्य आदि देशों में। विदेशों में भी उन्होंने धर्म प्रचारक भेजे : उत्तर में यवनों के देश में, गांधार, कश्मीर, हिमाचल प्रदेश में, पश्चिम में अपरांतक में, दक्षिण में वनवासी और मैसूर में, श्रीलंका और सुवर्ण-भूमि (मलाया, सुमात्रा) में। तेरहवें शिलालेख से यह भी जाना जाता है कि सद्धर्म के प्रचारक दूर देशों में; जैसे : सीरिया के राजा एंटिओकस (अंतियोक) द्वितीय, तथा अन्य चार राजाओं के राज्य में भेजे गए। उदाहरणार्थ, मिस्र के तालेमी (तुरमेय), मकदूनिया के एंटिगोनस (अंतकिनि), इपिरस के अलैक्जैंडर (अलिकसुंदर), सिरैनिया के मागाओं के पास उत्तरी अफ्रीका में भी ये धर्म-प्रचारक भेजे गए। इस संदर्भ में उसने यवन, कंबोज, पांड्य, चोल, आंध्र, पुलिंद, श्रीलंका आदि के नामों का उल्लेख किया है। दूसरे शिलालेख में यह कहा गया है कि प्रायः इन सब देशों में अशोक ने अस्पताल खुलवाए, कुएं और तालाब खुदवाए, और वृक्ष तथा औषधियों की वनस्पतियां सबके सुख और कल्याण के लिए रोपीं। बुद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार और प्रसार में अशोक का कार्य महत्त्वपूर्ण है। उन्हीं के कार्य को कनिष्क ने आगे बढ़ाया और धर्म-प्रचारक मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, थाइलैंड, कंबोडिया आदि देशों में भेजे।

भारत

परिनिर्वाण के बाद प्रथम और द्वितीय शती में बौद्ध धर्म अन्य संन्यास

मार्गों से अलग नहीं किया जा सकता था। मौर्यकाल में बौद्ध धर्म, विस्तार की बड़ी संभावनाओं के साथ, एक महत्त्वपूर्ण धर्म बनकर आगे आया। इस आरंभिक काल में भी बौद्ध धर्म का क्षेत्र मगध और कोसल तक ही सीमित था। मथुरा और उज्जयिनी में कुछ छोटी-छोटी मंडलियां बौद्धों की थीं। बुद्ध के सौ वर्ष बाद वैशाली में जो दूसरा संगायन बुलाया गया उसमें सुदूर स्थानों से, यथा पांथेय, अवंती, कौशांबी, संकाश्य और कन्नौज से बौद्ध मंडलियों को बुलाया गया। मौर्यकाल के आरंभ में मथुरा बौद्धों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया था।

इस काल-खंड में बौद्ध संप्रदाय का इतिहास स्थिर नहीं था। बौद्ध धर्म के क्रमशः विकास के कारण और दूर-दूर रहने वाले विभिन्न मतों को मानने वाले लोगों के बीच में सीधा संबंध न होने के कारण, संघ की एकता टूटती जा रही थी। स्थानिक प्रभाव जोर पकड़ रहे थे, और उन्हें अलग-अलग ढंग से आकार दे रहे थे। अशोक के राज्यकाल में ही, संघ में गंभीर दरारें शुरू हो गई थीं और इसी कारण से शिलालेखों में बार-बार यह उल्लेख है कि 'संघ में फूट न हो'।

शुंगों के आने पर बौद्ध धर्म को राजाश्रय मिलना बंद हो गया। बौद्ध ग्रंथों में पुष्यमित्र शुंग को बौद्धों का पीछा करने वाला माना गया है। परंतु इससे कोई असर जनता पर नहीं हुआ। जनता के बौद्ध धर्म के प्रति अगाध प्रेम के कारण ही शुंग-कण्व काल में बौद्ध धर्म फूला-फला। इस काल में बौद्ध स्मारकों पर अंकित कितने ही लोगों द्वारा दिए गए व्यक्तिगत दान से उपर्युक्त बात का समर्थन होता है। भरहुत-स्तूप, कार्ले की गुफाएं, सांची का स्तूप शुंग-कण्व काल के ही हैं। बौद्ध धर्म मठों तक ही सीमित न रहकर अब जनसाधारण का धर्म बन गया था उसमें मूर्ति-पूजक धर्मों की भांति उपासना-तत्त्व घुसने लगे।

इस समय उत्तर में ग्रीकों ने बौद्ध धर्म अपनाया। मिनांदर राजा बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचारक था। शाकल[1] में अपनी राजधानी कायम करने पर उसने कई धर्म-कार्य किए। मिनांदर के ही समय से भारत में जो ग्रीक थे उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया। पालि स्रोतों से जान पड़ता है कि

1. मिलिंद पञ्ह के आरंभ में उल्लिखित सागल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रीकों ने धर्म प्रचार में भी योगदान दिया। यवन देश के बौद्ध धर्म अपनाने के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स वहां गए और एक ग्रीक थेर धर्मरक्षित को प्रचार कार्य के लिए चुना। धर्मरक्षित को बाद में अपरांतक देश में भेजा गया, जहां उसने हजारों स्त्री-पुरुषों और सामंतों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। भारत में ग्रीकों ने बौद्ध कला की एक नई शैली चलाई, जिसका विकास पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ।

अशोक के राज्यकाल में बौद्ध धर्म भारत में इस तेजी से फैला कि उसके अट्ठारह पंथ बने। ये भेद सैद्धांतिक उतने नहीं थे, जितने भौगोलिक थे। बौद्ध धर्म के विकास के साथ-साथ अलग-अलग प्रदेशों में पंथ बने। उन्हें संगठित करने वाली या एकरूपता देने वाली कोई व्यवस्था न होने से पुराने उपदेशों को उन्होंने अपने-अपने तरीके से आगे बढ़ाया। कई पंथ-भेद तो मिट भी गए। बुद्ध के निर्वाण के बाद दूसरी सदी में महासंघिक ने आठ विभिन्न निकाय चलाए। इनमें एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, अपरशैल, और उत्तरशैल प्रमुख थे। एक शती बाद स्थविरवाद मानने वालों में फूट पड़नी शुरू हुई। पहली फूट के कारण दो निकाय निकले—सर्वास्तिवाद तथा मूल-स्थविरवाद (जिसे हैमावत भी कहते हैं)। वैशाली में अपने आरंभ से, महासंघिक पूर्व की ओर सीमित रहा, जहां से वह विशेषतः दक्षिण की ओर फैला। इस मत के मानने वाले उत्तर में अधिक नहीं रहे होंगे, क्योंकि उनका उल्लेख केवल दो उत्कीर्णलेखों में है। महासंघिक का अपना साहित्य विकसित हुआ और वस्तुतः उसने प्राचीन बौद्ध धर्म की सबसे अधिकृत परंपरा रखी, क्योंकि वह अपने आप को महाकाश्यप से चला हुआ धर्म मानता है। इसी महाकाश्यप ने पहला बौद्ध संघ बुलाया, जिसमें बौद्ध धर्म के सूत्र पहली बार परंपरा के अनुसार पढ़े गए। धान्यकटक प्रदेश के साहित्य में महासंघिक की सभी शाखाओं का उल्लेख यह बतलाता है कि वह प्रदेश सातवाहनों के और उनके वंशजों के राजाश्रय में कृष्णा घाटी में, महासंघिकों का सबसे बड़ा अखाड़ा रहा होगा। ये मत तीसरी या चौथी शती तक पनपते रहे। स्थविरवाद नामक दूसरे दल में से जो निकाय निकले, उन्होंने भी साहित्य और उत्कीणलेखों में अपना निश्चित स्थान

बना लिया। ये शुंग काल से कुषाण काल तक यानी 200 ईसा पूर्व से 200 ईसवी तक पनपते रहे। सर्वास्तिवाद और उसकी अन्य शाखाएं उत्तर में पनपती रहीं। सर्वास्तिवाद निकाय मथुरा से नगर (हार) और तक्षशिला से कश्मीर तक के समूचे प्रदेश में प्रचलित था।

कनिष्क का राज्य काल भी बौद्ध धर्म के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। परंपरा से वह न केवल धर्म का एक बड़ा आश्रयदाता रहा, परंतु बौद्ध धर्म को आगे रूप देने वाले महान शासकों में से एक बना। उसी के राज्य काल में प्रख्यात भारतीय यूनानी बौद्ध कला-शाखा विकसित हुई। भारत से बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म को मध्येशिया और चीन ले गए। एक नया बौद्ध धर्म का रूप, जिसका कि नाम महायान था, और जिसके बहुत दूरगामी परिणाम घटित हुए, इसी समय विकसित हुआ। कनिष्क ने बौद्ध धर्म के विकास में बहुत योग दिया होगा।

गुप्तवंश के समय में बौद्ध धर्म को एक नई प्रेरणा मिली। यद्यपि गुप्त सम्राट भागवत थे, ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे, फिर भी बौद्ध धर्म के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। ऐसे कई महत्वपूर्ण उत्कीर्ण लेख मिलते हैं, कौशांबी, सांची, बोधगया और मथुरा प्रदेशों में, पांचवीं शती से छठी के अंत तक, जिनमें कई व्यक्तिगत अनुदान देने वालों के नाम हैं। इसी काल में भारत में आए चीनी यात्रियों के कई वृत्तांत मिलते हैं जिनसे इस देश में बौद्ध धर्म की स्थिति का अता-पता चलता है। साथ ही, बौद्ध कला के कई अवशेष मथुरा, सारनाथ, नालंदा, अजंता, बाघ और धान्यकटक में पाए जाते हैं, जो कि गुप्त काल में बौद्ध धर्म के विकास और समृद्धि के विषय में मूक होकर भी बहुत मुखर हैं। फाहियान चंद्रगुप्त के राज्यकाल में भारत में आया। उसने बौद्ध धर्म की समृद्ध दशा के बारे में साक्ष्य दिया है, विशेषतः उड्डियान, गंधार, मथुरा, कन्नौज, कौशल, मगध और ताम्रलिप्ति के विषय में। नालंदा विश्वविद्यालय की स्थापना भी गुप्त राजाओं के राजाश्रय से ही संभव हो सकी थी।

सातवीं शती के मध्य से हमें कई ऐसे वृत्तांत मिलते हैं जिनसे भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का स्पष्ट चित्र मिल जाता है। जहां तक उसकी सीमा का प्रश्न है, वह सबसे अधिक ऊंचाई पर पहुंच चुका था। साथ ही

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसके अधोपतन का भी आरंभ हो चुका था। परंतु बौद्ध शिक्षण के कुछ केंद्र, यथा– नालंदा और वलभी में ज्ञान का प्रकाश निरंतर फैल रहा था। सम्राट हर्षवर्धन ने अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में महायान बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पश्चिम में वलभी के मैत्रक वंश के राजा छठी शती के मध्य से बौद्ध धर्म के आश्रयदाता बन गए थे। कई बौद्ध भग्नावशेष वलभी में खोजे गए हैं, जो कि बौद्ध धर्म के अस्तित्व का साक्ष्य, उस प्रदेश में दसवीं शती तक देते हैं।

हर्ष के राज्य के बाद जो शती बीती उसमें ऐसी अराजक अवस्था फैली जो कि बौद्ध धर्म जैसे मठप्रधान धर्म के विकास के लिए उपयुक्त नहीं थी। राजाश्रय पर ही ऐसे धर्म का विकास अवलंबित रहता है। बौद्ध धर्म कश्मीर में प्रचलित रहा, विशेषतया वहां की स्वात घाटी में। वलभी आदि कुछ स्थानों में बौद्ध धर्म प्रचलित था परंतु उसकी दशा अच्छी नहीं थी। फिर भी जब बौद्ध धर्म धीरे-धीरे भारत के अन्य भागों से विलुप्त हो रहा था, तब पूर्वी भारत में पाल-वंश के राजाश्रय में उसका दूसरा बड़ा पुनरुत्थान हो रहा था। इस राजवंश के बहुत-से शासक पक्के बौद्ध थे। नालंदा विहार को उन्होंने बड़े अनुदान दिए और विक्रमशिला, ओदंतपुरी और सोमपुरी के नए विहार स्थापित किए।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गुप्तों के विकास से पहले कुछ पुराने अध्ययन-केंद्र उपेक्षित हो चुके थे, फिर भी कुछ नए केंद्र भी इसी काल में बने। ये नए केंद्र बहुत-से नहीं थे, परंतु आरंभिक गुप्तकाल में कश्मीर बौद्ध अध्ययन का सबसे बड़ा केंद्र था। बाद में नालंदा की स्थापना के पश्चात यह अध्ययन केंद्र धीरे-धीरे पूर्वी भारत की ओर बदलता गया। नालंदा करीब तीन शती तक समूचे बौद्ध जगत पर छाया रहा, छठी से नौवीं शती तक। महान पाल राजाओं के राजाश्रय के बावजूद नालंदा से बढ़कर दो और संस्थाएं बन गईं–विक्रमशिला और ओदंतपुरी–जो कि पालों के समय में स्थापित हुईं। पूर्वी भारत में कई नई संस्थाएं बनी थीं–विक्रमशिला, ओदंतपुरी, जगद्दल, विक्रमपुरी इत्यादि। उन्होंने नौवीं से बारहवीं शती तक बौद्ध संस्कृति विषयक सारा कार्य अपने में केंद्रित-सा कर लिया था।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अशोक का साम्राज्य

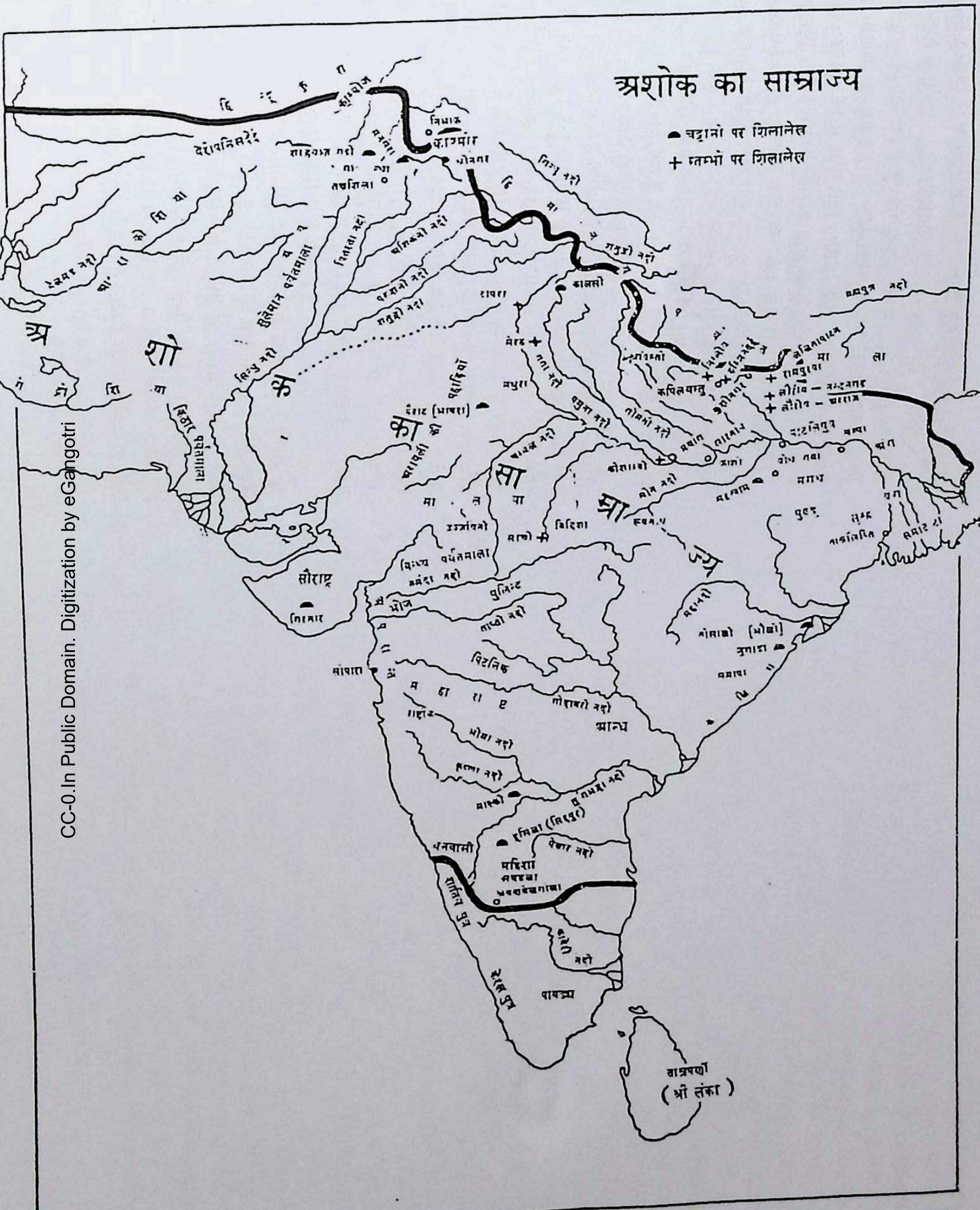

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उत्तरी देश

मध्य एशिया और चीन

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म कब शुरू हुआ, इसकी निश्चित तारीख नहीं मिलती, फिर भी यह प्रायः निश्चित है कि घुमंतू टोलियां, जैसे शक और कुषाण जातियां और भारतीय व्यापारी अपने साथ भारतीय संस्कृति के और बौद्ध धर्म के कई तत्व पूर्वी तुर्किस्तान के कई राज्यों तक ले गए। यह सब ईसवी सन् के एक शती पूर्व तक होता रहा। अब इस बात का स्पष्ट साक्ष्य मिला है कि इस प्रदेश के दक्षिण के हिस्से में कुछ छोटे भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे--खोतान से लवनोर प्रदेश तक। एक भारतीय उपभाषा, जो उत्तर-पश्चिम की बोली के समान थी, इन प्रदेशों की सरकारी भाषा थी। भारतीय उपनिवेश बसाने वाले प्रथम यात्री बौद्ध धर्म को इस प्रदेश में ले गए।

प्राचीन खोतान की परंपरा के अनुसार अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने यह राज्य परिनिर्वाण के 234 वर्ष पश्चात यानी ईसा पूर्व 240 में स्थापित किया। उसके प्रपौत्र विजयसंभव ने खोतान में बौद्ध धर्म स्थापित किया। एक बौद्ध विद्वान जिसका नाम आर्य वैरोचन था, भारत से आया और वह राज्य का प्रधान उपदेशक बना। खोतान में पहला विहार 211 ईसा पूर्व में स्थापिंत हुआ। परपरा आगे यह भी बताती है कि एक भारतीय राजवंश खोतान में 56 पीढियों तक राज करता रहा। तब बौद्ध धर्म इस प्रदेश का प्रधान धर्म बना रहा। अपने समृद्धिकाल में, बौद्ध धर्म के खोतान में करीब चार हजार केंद्र थे, जिनमें विहार, चैत्य, मंदिर आदि सभी थे। चीनी यात्री जैसे फाहियान, रोङ्-युन और युआन-च्वांग आदि, खोतान में बौद्ध धर्म के आठवीं शती तक फलने-फूलने के प्रमाण देते हैं। खोतान दक्षिण के प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रसार का मुख्य क्षेत्र बन गया, यथा-- निया, कालमदन (चेर्चेन) क्रोराइना (लूलन) और कोक्कुक (काशगर)।

चीनी तुर्किस्तान के उत्तरी हिस्से में चार महत्त्वपूर्ण राज्य थे, जिनके नाम थे भरुक (अक्सु), कूचा, अग्निदेश (कारा-शहर) और काओ-चंग

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

(तुरफान)। कूचा इन चार प्रदेशों में सबसे अधिक शक्तिमान था और उसने दूसरे उत्तरी राज्यों में और चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण भाग लिया। कूचा में बौद्ध धर्म ईसा की प्रथम शती में फैला। तीसरी शती के चीनी वृत्तांतों से पता चलता है कि उस कालखंड में करीब एक हजार स्तूप और मंदिर कूचा में थे। कूचा के बौद्ध भिक्षु चीन गए और उन्होंने बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद का बड़ा काम किया। पुरातत्व विषयक शोध से पता चलता है कि बौद्ध धर्म आठवीं शती तक उत्तर में एक विकासशील धर्म था। इन प्रदेशों के पतन के बाद बौद्ध धर्म 11वीं शती तक राजाश्रय पाता रहा। राजाश्रय देने वाले थे उइगुर तुर्क, जिनकी राजधानी तुरफान प्रदेश में थी।

चीन में बौद्ध धर्म पूर्वी तुर्किस्तान की घुमंतू जातियों ने ईसा पूर्व प्रथम शती के अंत में फैलाया। एक शताब्दी के भीतर वह ऐसा धर्म बन गया जिसे सरकारी तौर पर सहनीय धर्म मान लिया गया। बौद्ध विद्वान ईसा की प्रथम शती के अंत में चीन में आने लगे और उनका कार्य वहां अधिक जोरों से होने लगा। परंतु समूचे हान-काल (65-220 ईसवी) में यद्यपि कई विद्वान चीन में आए, चीनियों के बीच कार्य करते रहे, और उन्होंने चीनी भाषाओं में कई बौद्ध ग्रंथों को अनूदित किया, फिर भी बौद्ध धर्म को स्थानीय धार्मिक मतवादों से बहुत संघर्ष करना पड़ा। कन्फ्यूशियस मत को रूप देने का यत्न हान-काल में किया गया, चूंकि परंपरा से उस मतवाद का राज-दरबार में और सामंत-वर्ग पर बड़ा प्रभाव था और ये वर्ग बौद्ध धर्म को बर्बर मानते थे। ताओ मत धर्म के रूप में बहुत मजबूती से जड़ें पकड़ चुका था, परंतु उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि बौद्ध धर्म से अधिक कमजोर थी। इस कारण से बौद्ध धर्म देशज धर्मों से अधिक जल्दी प्रभाव जमा सका।

कन्फ्यूशियस के धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म अधिक सुविकसित धर्म था और ताओ मत से उसका तत्व ज्ञान अधिक गहन था, इसलिए उसने जल्दी से चीनी लोगों को आकर्षित कर लिया। चीनी भद्रवर्ग भी बौद्ध धर्म के पक्ष में प्रतिपादन करने लगे। इस प्रकार से माऊ-त्सिउ ने, जो कि हान-काल (170 से 225 ईसवी) के अंतिम वर्षों में हुआ, एक

वार्तिकभाष्य लिखा जिसमें उसने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की कन्फ्यूशियस और लाओत्से के सिद्धांतों से तुलना की, और प्रथम मत की महत्ता प्रतिपादित की।

माऊ-त्सिउ जैसे लोगों के लेखन से शिक्षित चीनियों के मन में भी बौद्ध धर्म के प्रति आश्वासन का भाव जागा। चीन में आए भारतीय बौद्धों और उनके शिष्यों के द्वारा जो पवित्र जीवन बिताया जा रहा था, वह भी चीनियों को इस नए धर्म के प्रति आकर्षित किए बिना न रह सका। इस नए धर्म के विकास में विदेशी राजवंशों का राजाश्रय भी उपयोगी सिद्ध हुआ। वेई राजवंश ईसा की चौथी शती में प्रबल हुआ। उसका मूल विदेश में था। वे चीन में बौद्ध धर्म के बड़े आश्रयदाता थे, और उस देश में बौद्ध कला के सब बड़े कामों के आरंभकर्ता थे। इस राजवंश के प्रथम सम्राट ने बौद्ध धर्म को एक राज-धर्म बनाया।

इस समय के बाद तो बौद्ध धर्म 11वीं शती तक चीन में फलता-फूलता रहा। एक के बाद एक भारत से बौद्ध आचार्य आए और उन्होंने इस सद्धर्म-दीप को बराबर प्रज्वलित रखा। चौथी शती से चीनी भिक्षु स्वयं भारत में आने लगे और बौद्ध धर्म का गहरा अध्ययन करने लगे। बहुत-सा बौद्ध साहित्य, जो कि भारतीय मूल ग्रंथों से भारतीय और चीनी आचार्यों ने अनुवादित किया था, चीनियों को अनुवाद के रूप में बौद्ध धर्म पढ़ने-समझने में सहायक होता रहा। कुछ अनुवादों का बड़ा साहित्यिक महत्व था और वे चीनी साहित्य में श्रेष्ठ ग्रंथों (क्लासिक्स) के रूप में माने गए।

बौद्ध धर्म का चीनी जीवन और विचारों पर प्रभाव बड़ा भारी था। कुछ देवता-विषयक धार्मिक विश्वासों के अतिरिक्त, बौद्ध धर्म ने चीन में पुनर्जन्म, कार्य-कारण सिद्धांत और इहकर्म का फल अन्यत्र भोगना आदि विश्वासों को फैलाया। विशेषतः यथार्थ के विषय में यह धारणा कि प्रकृति के प्रत्येक कण-कण में वह व्याप्त है, और चिर-भंगुरता का सिद्धांत, बौद्ध दर्शन के ये ऐसे दो तत्व हैं जिनका चीनी कवियों और कलाकारों पर बड़ा असर पड़ा और चीन की सौंदर्य विषयक दृष्टि इन सिद्धांतों ने निर्णीत की। बौद्ध धर्म ने चीनियों में एक गहरी धार्मिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भावना और गहन विश्वास निर्मित किए, जिससे चीनी कला की महान कृतियां निर्मित हुईं, जैसी युन-काङ्, हुङ-मेन, तूङ्-ह्वान् आदि स्थानों में मिलती हैं।

कोरिया और जापान

सुदूरपूर्व में एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध केंद्र कोरिया है। ईसा की चौथी शती के आरंभ से बौद्ध धर्म से उसका परिचय हुआ। उन दिनों कोरिया प्रायद्वीप के तीन भाग थे—कोगुर्यु उत्तर में, पाकचे दक्षिण-पश्चिम में और सिल्ल दक्षिण-पूर्व में। इन तीन भागों में बौद्ध धर्म का इतिहास एक सा नहीं है। बौद्ध धर्म सबसे पहले कोगुर्यु में एक चीनी भिक्षु 372 ईसवी में लाए। बारह साल बाद बौद्ध धर्म पाकचे पहुंचा, एक मध्य-एशियायी भिक्खु मारानंद के सहारे। सिल्ल में बौद्ध धर्म सबसे अंत में पहुंचा। कोगुर्यु में बौद्ध धर्म पहुंचने के तीन बरस बाद वह सिल्ल में पहुंचा।

कोरिया के बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उसने चीन और जापान के बीच एक शृंखला का कार्य किया। यद्यपि बौद्ध धर्म को कोरिया में आरंभ से ही राजाश्रय मिलता रहा, फिर भी उसके सिद्धांतों में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ था।

कोरिया का बौद्ध धर्म ईसा की 11वीं शती में अपनी परम सत्ता पर था। यह कोरिया के वांग राजवंश का समय था। इस काल से पहले, बौद्ध धर्म सिल्ल राजवंश के प्रभाव में फैल रहा था। इस समय, कई प्रसिद्ध विद्वान बौद्ध सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए चीन पहुंचे। इनमें युआन त्सो (613-683 ईसवी), जो फासियान शाखा का था, युआन हिआओ (617-670 ईसवी) और यी सिआङ् (625-702 ईसवी), जो दोनों होउआ येन शाखा के थे, प्रसिद्ध हैं। ग्यारहवीं सदी के बाद बौद्ध धर्म जो कि अब तक सिल्ल राजवंश से संबद्ध धनवान वर्ग का धर्म था, जन साधारण का धर्म बन गया, विशेष रूप से यि ति'एन, पु'चाओ और अन्य भिक्खुओं के प्रयत्नों से। यि ति'एन नामक चीनी विद्वान जो चीनी त्रिपिटक की सूचियों के संपादन के लिए प्रसिद्ध था—इस चीनी त्रिपिटक को यि ति'एन लु कहते हैं—चीन में बौद्ध धर्म पढ़ता रहा और

उसके बाद उसने कोरिया में होउआ येन और ति'इएन त' आई शाखाओं के सिद्धांतों का प्रचार किया। उसने कोरिया की भाषा में बौद्ध धर्म पर लेख भी लिखे। फिर भी पु'चाओ ने कोरिया में जेन बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू किया जो कि बाद में इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाला सिद्ध हुआ। मंगोल साम्राज्य का युआन राजवंश, जब वांग राजवंश पर आधिपत्य प्राप्त कर चुका, तब कोरिया में बौद्ध धर्म पर लामावाद का बहुत प्रभाव पड़ा। मंगोल साम्राज्य के पतन के बाद, चोसेन (कोरिया) के ही राजवंश ने कन्फ्यूशियस के मत को अपनी संस्कृति के प्रमुख सिद्धांतों के नाते स्वीकार कर लिया और इस प्रकार से बौद्ध धर्म को अपने आदरपूर्ण स्थान से च्युत कर दिया। यद्यपि उसका कोरिया में राजाश्रय नष्ट हो गया, फिर भी जनता के धर्म के नाते वह फलता-फूलता रहा।

आधुनिक कोरिया का बौद्ध धर्म वस्तुतः ज़ेन बौद्ध धर्म है। अमिताभ बुद्ध या मैत्रेय बोधिसत्व में विश्वास से वह धर्म रंजित है।

जापान को महायान बौद्ध धर्म का देश कहते है। बौद्ध धर्म का यह रूप आरंभ में चीन में विकसित हुआ, यहां से कोरिया और फिर जापान पहुंचा। उसके बाद बौद्ध धर्म चीनी और जापानी दोनों प्रकार के भिक्खुओं के प्रयत्नों से विकसित हुआ। जापानी विद्वान सामान्यतः यह मानते हैं कि बौद्ध धर्म ने अपना पहला रूप वहां 552 ईसवी में दिखलाया और वह कुदर (पकचे) से आया, जो कि कोरिया का एक अंग था।

हमारी दृष्टि से, जापानी बौद्ध धर्म का निम्न ऐतिहासिक विभाजन किया जा सकता है :

1. आयात का काल। छठी से सातवीं शताब्दी ईसवी (आसुका और नारा काल)।
2. राष्ट्रीयकरण का काल। नौवीं से चौदहवीं शताब्दी ईसवी। (हीआन और कामाकुरा काल)।
3. परंपरा-निर्वाह का काल। पंद्रहवी से बीसवीं शताब्दी ईसवी। (मुरोमाशी, मोमोयामा और एदो काल, और आधुनिक काल)।

(1) आयात का काल— बौद्ध-धर्म का पहला रूप, जापान में अपने आप को शिंतोवाद के अनुकूल बनाने के नाते व्यक्त हुआ। शिंतोवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जापान का देशज धर्म पंथ था। इस कार्य के लिए बौद्ध भिक्खुओं ने पितर-पूजा को मान लिया और बुद्ध की प्रतिमा के साथ-साथ वे शिंतो मत के देवताओं की भी पूजा इस बहाने करने लगे, कि वे सब देवता बुद्ध के ही विभिन्न अवतार हैं। इस प्रकार से बौद्ध धर्म धीरे-धीरे जन-साधारण में स्थापित हो गया। उसने शिंतोवाद को पूरी तरह से छोड़ नहीं दिया।

इसका एक बड़ा लाभ यह था कि जब बौद्ध धर्म ने पहले जापान में अपना रूप दिखाया, तब वह चीन की बहुत विकसित संस्कृति के साथ-साथ आया। उसके अधिकतर सांस्कृतिक रूप के कारण बौद्ध धर्म धनी सामंतवर्ग ने स्वीकार कर लिया, और यही वर्ग उस समय जापान का बौद्धिक वर्ग था। एक बार भद्र वर्ग के इसे स्वीकार कर लेने पर सारे देश में बौद्ध धर्म बहुत जल्दी से फैल गया। प्राचीन जापान के कई सम्राट बौद्ध बने और उन्होंने अपने जीवन के आदर्श के रूप में बौद्ध धर्म के कई सिद्धांत मान लिए। राजपुत्र शोतोकु ने (574-621 ईसवी), जो सम्राज्ञी सुईको का रीजेंट था, बौद्ध धर्म को बड़ी देन दी। होर्युजी मठ स्थापित करके उसने तीनों पिटकों पर टीकाएं लिखवाईं। वस्तुतः जापान ने बौद्ध धर्म के लिए वही किया, जो कि सम्राट अशोक ने भारत में बौद्ध धर्म के लिए किया, या कि कांस्टेंटाइन ने ईसाई धर्म के लिए रोमन साम्राज्य में किया।

उन दिनों चीन से जो बौद्ध धर्म के पंथ लाए गए, वे छह थे—कुश (अभिधर्मकोश शाखा), सानरोन (माध्यमिका की तीन टीका वाली शाखा), जीजित्सु (सत्यसिद्धि-शास्त्र शाखा), केगौन (अवतंसक शाखा), होस्सो (धर्मलक्षण शाखा) और रित्सु (विनय शाखा)। यह बेहतर होगा कि इन्हें धार्मिक पंथ कहने के बजाय बौद्ध संस्थाएं कहा जाए।

(2) राष्ट्रीयकरण काल दो नए पंथों की स्थापना से शुरू हुआ—तेंदाई और शिंगोन। ये पंथ क्रमशः साईचो (767-822 ईसवी) और कुकई (774-835 ईसवी) ने स्थापित किए। उनका उद्देश्य था बौद्ध सिद्धांतों का राष्ट्रीयकरण जिससे कि बौद्ध धर्म जनसाधारण का धर्म बन सके। इसी के साथ, उनका उद्देश्य था बौद्ध मठों में भिक्खुओं को अनुशासित रखना, जो कि दैनंदिन ऐहिक जीवन से दूर रहते थे। इन

दो पंथों का प्रमुख गुण यह था कि उन्होंने केवल आध्यात्मिक मोक्ष पर ही जोर नहीं दिया, परंतु साथ ही इस जीवन और जगत के सिद्धांतों की परिपूर्ति पर भी जोर दिया।

तेंदाई और शिंगोन भिक्खुओं के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म का राष्ट्रीयकरण हो सका और धीरे-धीरे वह लोकप्रिय बनने लगा। फिर भी कई समस्याएं सुलझाने को बाकी रह गई थीं। ये सिद्धांत अभी भी इतने ऊंचे और केवल विद्वानों के समझने लायक थे। उन्हें जनसाधारण तक पहुंचाना था। जनसाधारण तो अंधविश्वासों में डूबा हुआ था। सो इन सिद्धांतों के साथ जब तक चमत्कार नहीं जुड़ते तब तक वे जनग्राह्य कैसे बनते? साथ ही बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ ज्यों-ज्यों परिस्थितियां बदलीं, उससे कई लोगों को यह प्रेरणा मिली कि वे इस दुनिया को छोड़कर पारलौकिक मामलों में आध्यात्मिक शांति खोजें।

एक नई बौद्ध विचारधारा दसवीं शती में चल पड़ी। यह थी अमिताभ बुद्ध में विश्वास। कई लोग इस धर्म के अनुयायी बन गए। वे केवल अमिताभ बुद्ध का नाम-जाप करते—इस आशा से कि उनके पवित्र देश में उनका पुनर्जन्म होगा। इस आंदोलन के पीछे-पीछे कई स्वतंत्र नए पंथ चल पड़े जो कि अमिताभ में विश्वास करने पर जोर देते थे। वे नए पंथ, जो कि 12वीं और 13वीं शती में चल पड़े, ये थे—युजु-नेनबुत्सु, र्योनिन (1072-1138 ईसवी) द्वारा स्थापित; जोदो, होनेन (1133-1212 ईसवी) द्वारा स्थापित, जोदो-शिन, शिनरान (1173-1262 ईसवी) द्वारा स्थापित; और जि, इप्पेन (1239-1289 ईसवी) द्वारा स्थापित। इन सब पंथों में यह बात समान थी कि मुमुक्षुओं के लक्षण सामान्य थे, और विचार और आचार को शुद्ध करने के और सरल बनाने के रास्ते एक-से बताए गए थे। इन कारणों से, कई साधारण लोग उन पंथों का अनुयायित्व कर सके। विशेषतः किसानों और सिपाहियों में से कई अनुयायी बने।

कामाकुरा काल में, जब कि ये पंथ अस्तित्व में आए, जापान में सामंतशाही का विकास हुआ। इसी कालखंड में दो नए पंथ सामने आए। एक था ज़ेन, जिसे ईसई (1141-1215 ईसवी) और दोगेन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(1200-1253 ईसवी) ने स्थापित किया, और दूसरा था निचिरेन जिसे निचिरेन (1222-1282 ईसवी) ने स्थापित किया था। इन दो पंथों में भी वे सब विशेषताएं आ गई जो कि पवित्र देश में विश्वास करने वाले ऊपर उल्लेख किए हुए पंथों में थीं, यद्यपि दोनों के सिद्धांतों में विचित्र विरोधाभास था। एक का विश्वास था कि दूसरों की शक्ति में श्रद्धा रखने से मुक्ति मिलेगी। यह था 'शुद्ध देश वाले बौद्ध धर्म' का मूलभूत दर्शन। दूसरे का अपने स्वयं के प्रयत्न से मुक्ति पाने के सिद्धांत में विश्वास था, जिस पर ज़ेन और निचिरेन सिद्धात आधारित थे। ज़ेन बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिकतर योद्धा वर्ग में से थे, और उन्होंने जापान की संस्कृति पर काफी प्रभाव डाला।

इन नए पंथों के विकास से बौद्ध धर्म पूरी तरह से जनसाधारण द्वारा स्वीकृत हो गया। इस प्रक्रिया की बहुत-सी मंजिलें इतनी स्पष्टतः अंकित हैं कि राष्ट्रीयकरण और जनसाधारणीकरण शब्दों से जापानी बौद्ध धर्म के इतिहास में युगांतकारी मोड़ ध्वनित होते हैं। इसी कारण से, आधुनिक जापानी विद्वान कामाकुरा काल की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाते हैं, जब कि बौद्ध धर्म पूरी तरह से जापान में छा गया।

(3) परंपरा-निर्वाह का काल—कामाकुरा काल के बाद जापानी बौद्ध धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ। केवल बहुविध शाखाएं विस्तृत हुईं।

ईदो काल (1603-1867 ईसवी) में बौद्ध धर्म जापान का राष्ट्रीय धर्म बन गया। इसका श्रेय तोकुगावा शोगुनते के राजाश्रय को है। इस विकास का प्रधान कारण यह था कि सरकार आशा करती थी कि इस प्रकार से जापानी जनता पर ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सकेगा। इस काल में, बौद्ध धर्म इतना लोकप्रिय बना कि इस युग के अंत में बौद्ध धर्म विषयक कार्यक्रम ने विद्वत्तापूर्ण अध्ययन का रूप ले लिया। इसी से आज के बौद्ध अध्ययन और शोध की नींव पड़ी।

1868 ईसवी में मेईजि के पुनर्स्थापन के बाद बौद्ध धर्म का त्राता जैसे खो गया। उसको मिलने वाला जनाश्रय भी कम हुआ। राष्ट्रीयतावादी शिंतो धर्म की ओर से विरोध होता रहा। भिक्षु और जनसाधारण दोनों

ने इस खतरे को कम किया। आगे चलकर सरकार ने नए विधान में पूरी धार्मिक स्वतंत्रता दे दी। साथ ही कई भिक्षु जिन्होंने बौद्ध धर्म के नए सिद्धांत वैज्ञानिक ढंग से खोज निकाले थे, पुराने सिद्धांतों में नया अर्थ पाने लगे। कुछ बौद्ध मिशनरी अमरीका, हवाई द्वीप तथा अन्य देशों में नए रूप से बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गए।

तिब्बत (मध्य) और लद्दाख

जहां-जहां बौद्ध धर्म के उपदेश पहुंचे, जनता के हृदय में एक नई ऐतिहासिक चेतना वे जगाते रहे। इसका बहुत अच्छा उदाहरण तिब्बत है। जैसे भारतीय इतिहास लिखित रूप में महान बौद्ध सम्राट अशोक के समय से लिखा जाने लगा, उसी प्रकार से तिब्बत का इतिहास भी तिब्बत के सबसे गुणवान राजा स्रोङ्-सन्-गम्-पो (जन्म 617 ईसवी) के समय से लिखा हुआ मिलता है। इस राजा ने तिब्बती बोली के लिए वर्णमाला देकर एक लिखित रूप दिया, जिससे कि भारत से उसके देश में बौद्ध धर्म आ सका। तिब्बत के आस-पास की बौद्ध दुनिया से सांस्कृतिक संपर्क उस राजा के दो शताब्दी पहले से शुरू हुए होंगे। ये आस-पास के प्रदेश थेः भारत, खोतान, मंगोलिया, चीन और बर्मा। एक संभवनीय तिब्बती दंतकथा के अनुसार, कुछ बौद्ध प्रचारक भारत से आए और उन्होंने तिब्बती राजा थो-थो-री को बौद्ध ग्रंथ भेंट रूप में दिए, परंतु इन भारतीय प्रचारकों को निराश होकर लौट जाना पड़ा, क्योंकि इस तिब्बती राजा के दरबार में कोई भी लिपि का ज्ञान नहीं रखता था। अल्प वय में ही बहुत मेधावी छोटे राजकुमार स्रोङ्-सन् को बडी लज्जा और हीन-भावना का अनुभव हुआ होगा, और उसमें अपने लोगों के पिछड़ेपन को दूर करने की बड़ी चाह जागी होगी, क्योंकि जब वह राजगद्दी पर बैठा तो उसने निश्चयपूर्वक अपनी सैनिक शक्ति इतनी बढाई कि नेपाल के राजा अंशुवर्मन जो दक्षिण में थे और उत्तर में चीन के सशक्त सम्राट ताईत्सुङ् ने यह अधिक अच्छा समझा कि इस तिब्बती राजा के साथ सुलह कर लें, और उसकी चाह को उन्होंने इस तरह आदर दिया कि दोनों ने अपनी राजकन्याओं का विवाह उस राजा के साथ कर दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ये दो रानियां, नेपाल की भृकुटी और चीन की वेन-चेङ्, अपने साथ अपने घरों में अक्षोभ्य, मैत्रेय और शाक्यमुनि की प्रतिमाएं लाईं। इस प्रकार इस तिब्बती राजा की इच्छा पूरी हुई कि बौद्ध धर्म का तिब्बत में प्रचार करके अपनी जनता को सभ्यता की अग्रपंक्ति में वह लाए। वस्तुतः इन विवाहों का निश्चय होने से पहले ही राजा ने ऐसी कई बातें की थीं जिससे उसे ऐसे ऊंचे विवाह संबंध प्राप्त हो सकें। उसने अपने दरबार के एक होशियार तिब्बती को चुना। इसका नाम था थोन्-मी सम्-भो-ट, और उसके साथ सोलह और मुमुक्षुओं को चुना, जिन्हें दक्षिण भारत में प्रमुख बौद्ध विद्यापीठों में उसने भेजा - भारतीय शिलालेख-पठन, ध्वनिशास्त्र तथा व्याकरण का अध्ययन करने के लिए, और इन विद्याओं में पारंगत होने पर तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि उन्होंने खोज निकाली, और उस भाषा का व्याकरण भी स्थिर किया। थोन्-मी ने अपने आप को सौंपा हुआ काम इतनी अच्छी तरह से किया कि तिब्बती लिपि तथा व्याकरण पर उसने सात स्वतंत्र ग्रंथ लिखे और कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद भी तिब्बती में किए। उसे सदा तिब्बती साहित्य के पिता के नाम से याद किया जाता है। उसके जीवन-काल में स्रोङ्-सन् ने ऐसे नियम प्रचलित किए जो कि बौद्ध धर्म के दस कुशलधर्मों के समान थे। ल्हासा में रामोचे और जोखङ में उसने प्रसिद्ध मंदिर बनाए, और पोतला नामक ग्यारह मंजिल वाला महल निर्मित किया। आज भी उस बड़े महल का एक हिस्सा खंडहर के रूप में बाकी है, जो कि शायद सबसे निचला हिस्सा और उसका मूल छोटा रूप रहा होगा। बौद्ध धर्म अपने सारे सांस्कृतिक विकास और सरंजाम के साथ तिब्बत में लाया गया। उसने धीरे-धीरे पुराने वृक्ष तथा नाग इत्यादि की पूजा करने वालों के बोन विश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया। तिब्बत के इतिहास में एक नए बौद्ध युग का आरंभ करने का श्रेय तिब्बत के प्रथम महान सम्राट स्रोङ्-सन्-गम्-पो को दिया जाना चाहिए। वह इस्लाम के संस्थापक मुहम्मद का, कन्नौज के सम्राट हर्ष का और चीन के तीर्थयात्री विद्वान युआन-च्वांग का समकालीन था।

यद्यपि बौद्ध धर्म तिब्बत में ऐसी सौभाग्यशाली परिस्थितियों में आया, फिर भी वह उतनी आसानी से या जल्दी से, जैसा कि स्रोङ्-सन् ने सोचा

था, एक विदेशी भूमि में गहरी जड़ें न जमा सका। देशज बोन विश्वासों से इस नए बौद्ध धर्म को कम से कम तीन शती तक निरंतर कठिन संघर्ष करना पड़ा। उसे पुराने अंधविश्वासों को दूर करना पड़ा, नए समझौते करने पड़े, अनंतकाल से जो विचित्र रिवाज और परंपराएं चली आ रही थीं, उनके अनुकूल अपने आप को ढालना पड़ा, उसे कई बार पराजय और निवार्सन भी सहना पड़ा। यह सब कुछ ग्यारहवीं शती में अतिश के आविर्भाव तक चलता रहा, जब बौद्ध धर्म अंततः सच्चे अर्थ में तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म बन गया।

स्रोङ्-सन् के बाद, उसके पांचवें वंशज के समय में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा पुनः राज्य-धर्म के नाते हुई। उसका नाम था स्री-स्रोङ्-दे-सन् (755-797 ईसवी)। अपने शक्तिशाली बोन अफसरों के विरोध के बावजूद उसने नालंदा विश्वविद्यालय के शांतरक्षित को तिब्बत बुलाया, और भारतीय बौद्ध धर्म के सच्चे सिद्धांतों को अपने लोगों में फैलाने और व्यवस्थित रूप से धर्म परिवर्तन कराने का काम बढ़ाया। शांतरक्षित द्वारा दस कुशलधर्मों और कारण-परंपरा के चक्र विषयक सिद्धांतों पर दिए गए बहुत प्रभावशाली उपदेशों का कोई असर न हुआ। कुछ प्राकृतिक विपत्तियां जैसे झंझावात और महारोग इस समय देश भर में फैले, उन्हें विरोधकों ने यह रूप दिया कि बौद्ध धर्म की विकृत शिक्षा के कारण ये प्रकोप हो रहे हैं, और राजा को अंत में कुछ समय के लिए उसे तिब्बत छोड़कर जाने का आदेश देना पड़ा, क्योंकि तिब्बती जनता उससे नाराज और उसकी विरोधी हो गई थी। भारतीय उपदेशक इतना बुद्धिमान था कि वह जान गया कि केवल तंत्रवाद की विचित्र चमत्कारमय पद्धतियों में विश्वास करने वाला ही जनसाधारण पर अपना कुछ प्रभाव डाल सकता था। जनता आदिम जादू-टोने और अद्भुत सहसा-घटितों पर इतना विश्वास करती थी। इस प्रकार से उसने यह सिफारिश की कि पद्मसंभव, जो तंत्रवाद के प्रबल समर्थक थे, उन्हें स्वात घाटी के उर्ग्यान से बुलाया जाए और इस प्रकार से विरोधियों को उन्हीं की भाषा में उत्तर दिया जाए। उसके बाद तो बौद्ध धर्म के पुनर्स्थापन के लिए शांतरक्षित वहां लौटकर चले ही आएंगे। अभी भी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

तिब्बती जितने आदर से पद्मसंभव (गुरु रिंपोचे) को देखते हैं, उससे पता चलता है कि इस काम में उसे कहां तक सफलता मिली। स्री-स्रोङ्-दे-सन् के राज्य की अन्य घटनाओं में उसकी चीनी सेना पर विजय, जो कि पोतला के सम्मुख एक स्तंभलेख पर अंकित है, और ब्सम-यास् में तिब्बती बौद्ध विहार की स्थापना उल्लेखनीय है। यह विहार बिहार के उद्यंतपुरी विहार के नमूने पर था। दूसरा काम था लद्दंकर महल में अनुवादित बौद्ध-कृतियों की सूची का निर्माण, और तिब्बत में शांतरक्षित के लौट आने पर अनुवादित कार्य को पुनर्व्यवस्थित करना। वहां आकर ईसा की आठवीं शती में शांतरक्षित की मृत्यु हुई। धर्म-प्रचारक के नाते उसका जीवन बड़ा लंबा और विख्यात रहा। शांतरक्षित की मृत्यु के बाद उसने बौद्ध धर्म के रचनात्मक पक्ष पर जो बल दिया था, वह कम होकर बौद्ध दर्शन की विध्वंसात्मक परंपराएं चल पड़ीं जिनका उपदेश चीनी भिक्खुओं ने दिया और तिब्बत में बहुत अरसे तक उनका जोर भी रहा। उनकी चुनौती का सामना करने के लिए राजा ने शांतरक्षित के सुयोग्य शिष्य और भाष्यकार, कमलशील को नालंदा से बुलाया। दोनों पक्षों के बीच में राजा के सामने बहस होती रही, और कमलशील आखिर जीत गए। चीनी दार्शनिक भिक्खु के पक्षधरों की भावनाएं हार जाने पर इतनी कड़वी हो उठीं कि भारतीय भिक्षु का खून कर दिया गया। उसका मृत शरीर मसाले से बांधकर ल्हासा के उत्तर में एक विहार में अभी भी सुरक्षित रखा है। राजा स्री-स्रोङ्-दे-बसन् जिसकी शक्ति और विद्वत्ता के कारण उसे तिब्बती मंजुश्री का अवतार मानते थे, शोक विह्वल होकर जल्दी ही मर गया। उसके शक्तिशाली बौद्ध साम्राज्य का दाय मिला उसके बहुत संवेदनशील और आदर्शवादी पुत्र मु-ने-बत्सन-पो को। करुणा और समता के बौद्ध सिद्धांत इस कल्पनाशील राजपुत्र के हृदय को इस प्रकार छू गए थे, कि ज्यों ही वह गद्दी पर बैठा, उसने अपनी प्रजा में संपत्ति का समान भाव से वितरण शुरू कर दिया। उसका आयोजन इतनी सफलता से न चल सका, क्योंकि श्रम की महत्ता को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था, और विषमताए उसमें अनिवार्य रूप से घुस गईं। उसका जनता के लिए अप्रिय

राज्यकाल अधिक समय तक न चल सका। उसी के रिश्तेदारों ने उसे जहर दे दिया और उसी के भाई स्री-ल्दे-स्रोङ्-बत्सन को गद्दी पर बैठाया। उसने भारतीय ग्रंथों को तिब्बती में अनुवादित करने में नए सिरे से प्रोत्साहन दिया, और पहला संस्कृत कोश, जिसका नाम था महाव्युत्पत्ति (८14 ईसवी) प्रकाशित हुआ।

स्री-ल्दे-स्रोङ्-बत्सन ने अपने छोटे पुत्र का नाम रल-प-चेन (८16-८38 ईसवी) रखा। वह उसका वंशज बना बड़े भाई ग्लङ्-दर्-म के स्थान पर। रल-प-चेन को वहां के देशवासी तिब्बती बौद्ध धर्म के सुवर्ण युग का तीसरा सबसे बड़ा धर्म संरक्षक मानते हैं। उसकी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा इतनी विलक्षण थी कि उसने अपने छोटे पुत्र को भिक्षुओं की प्रतिज्ञाएं दिलवाईं, दीक्षा दी, बौद्ध भिक्षुओं को कई प्रकार की सुख-सुविधाएं और शासनिक अधिकार दिए और उसके लंबे बालों को कटवाकर बौद्ध पुजारियों द्वारा उपदेश देते समय चटाई की भांति प्रयुक्त करने की भी अनुमति दी। रल-प-चेन ने अपने साम्राज्य की सीमाएं बढ़ाईं और उसी के राजाश्रय में तिब्बत का पहला इतिहास भी लिखा गया।

तिब्बत में एकछत्र राज्य, और बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा, जिससे कि अब तक उसकी सुख-सुविधा में इतनी वृद्धि हुई थी, एकदम कम हो गई, जब एक दिन रल-प-चेन का खून उसके उपेक्षित बड़े भाई ग्लङ्-दर-म के अनुयायियों ने कर दिया। उसके बाद ग्लङ्-दर-म बौद्ध धर्म का कट्टर दुश्मन बनकर गद्दी पर बैठा। बौद्ध प्रतिमाएं गाड़ दी गईं, विहार बंद कर दिए गए, धार्मिक उत्सवों पर प्रतिबंध लगा दिया और भिक्षुओं को फिर से गृहस्थ बनना पड़ा, नहीं तो उन्हें देश-निकाला दिया जाता। इन ज्यादतियों का चारों ओर गहरा विरोध स्वाभाविक था। और इसका बदला लिया गया जब एक दिन एक भिक्षु चुपचाप राजा के पास तक घोड़े पर चढ़कर गया और खासा सीधा निशाना साधकर उसने उसे मार डाला (८41 ईसवी)।

ग्लङ्-दर-म ने बौद्ध धर्म को ऐसी निर्ममता से दबाया कि जनता में उसकी बड़ी ही तीव्र प्रतिक्रिया हुई। तिब्बत की राजनीति में यह काल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बड़े ही निश्चयात्मक ढंग का है। इससे तिब्बत में एकछत्रीय राज्य का अंत हो गया। देश-निकाला जिन भिक्षुओं को मिला था वे मध्य-तिब्बत को लौट आए और पहले से भी ज्यादा शक्तिमान हो गए। ग्लङ्-दर-म के कमजोर वंशजों का अपने अधीन राज्यों पर से कब्जा कम हो गया था, और इससे विखंडन शुरू हो गया। अंत में ल्हासा के अंतिम राजा के पुत्र, द्पाल्-ह्खोर-बत्सन् (९०६-९२३ ईसवी) ने राजधानी से विदा मांगी और वे पश्चिमी तिब्बत की ओर गए, जहां उन्होंने अपने आप को एक स्वतंत्र राजा के नाते प्रस्थापित किया। वह लद्दाख, स्पुरङ् और गुगे के तीन प्रदेशों को अपने अधिकार में लाए और बाद में उन्होंने अपने तीनों पुत्रों में बांट दिया। इन तीन राजवंशों के वंशजों में कई विख्यात राजा हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म का दीपक पश्चिमी तिब्बत में बराबर जलाए रखा। विद्वान भिक्षुओं को उन्होंने राजाश्रय दिया। कई तिब्बती विद्वानों को कश्मीर में भेजा। बौद्ध धर्म के नवीनतम सिद्धांतों को समझने के लिए और कई महत्त्वपूर्ण संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती में अनुवाद करवाए। इनमें सबसे विख्यात था ह्खोर-ल्दे (जिसे कि ज्ञानप्रभ भी कहते हैं)। उसने अपने छोटे भाई के लिए राज्य-त्याग कर दिया और स्वयं भिक्षु बन गया और अपने दो बच्चों को भी भिक्षु बना लिया। बिहार के विक्रमशिला विहार के महान आचार्य अतिश (जिन्हें दीपंकर श्रीज्ञान भी कहा जाता है) को तिब्बत में बौद्ध धर्म के अध्यापक के नाते लाने का भी श्रेय उन्हें ही है। ईसा की ग्यारहवीं शती में भारत से अंतिम महान आध्यात्मिक प्रेरणा अतिश लाए, जिसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म ने तिब्बत की भूमि में गहरी जडें जमाई और वहां से बढ़कर वह धीरे-धीरे एक देशज, धार्मिक दार्शनिक विचारधारा के रूप में फला-फूला। तिब्बती राजाओं के वंशजों ने पश्चिमी तिब्बत में राज चलाया। कई प्रकार की राजनैतिक उथल-पुथल के चलते हुए भी शक्तिशाली स्रोङ्-रान् गम् पो के सीधे वंशजों का राज्य अभी भी लद्दाख में चल रहा है।

तिब्बत मे अतिश का जीवन और कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे इतनी जल्दी से वर्णित नहीं किया जा सकता। उसका विचार अन्य अध्याय में विस्तार से किया जाएगा। जब से वह तिब्बत में आए, तिब्बत में बौद्ध धर्म के कई देशज संप्रदाय और निकाय चल पड़े। इनकी अपेक्षा से, आरंभिक मिश्रित और असंशोधित बौद्ध धर्म का रूप र् णिङ्-म-प अथवा पुराना मतवाद माना गया, जिसकी चार उपशाखाएं थीं। इस निकाय के मानने वाले पद्मसंभव को अपना मत-प्रतिष्ठाता और गुरु मानते हैं। वे दैवी और दानवी दोनों प्रकार की शक्तियों की तुष्टि में विश्वास करते हैं और वे अपनी लाल टोपियों के कारण प्रसिद्ध हैं। अतिश के सुधरे हुए उपदेश जो कि मैत्रेय और असंग द्वारा स्थापित योगाचार परंपरा पर निर्भर थे, आगे चलकर उसके तिब्बती शिष्य ह्ब्रोम्-स्तोन् के ब्कह-ग्दम्स-प शाखा के स्थापन का कारण बने। इस निकाय में हीनयान और महायान दोनों के उपदेशों का संश्लिष्ट रूप था। इसमें भिक्षुओं के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य था, और जादू-टोने का भी प्राधान्य था। महान तिब्बती सुधारक त्सोन्-ख-प ने द्गे-लुग्स प (मूलतः द्गाह-ल्दन-प) नामक संप्रदाय चलाया, जिससे ब्कह-ग्दम्स-प का बहुत-सा अभिचार कम किया गया और अब यही तिब्बती बौद्ध धर्म को प्रमुखतः अधिशासित करता है। आध्यात्मिक तथा ऐहिक दोनों रूपों में इस सिद्धांत का आधिपत्य अब तिब्बत में सर्वमान्य है, और इसी का परिणाम है कि दलाई लामा जैसी संस्था वहां है—धर्मपीठ पर ये मुख्य गुरु वंश परंपरा से चलते हैं। वर्तमान दलाई लामा इस धर्म प्रधान राज्य के चौदहवें वंशज हैं।

दो और निकाय, जो कि ब्कह-ग्दम्स-प से संबद्ध हैं, परंतु जिनका दृष्टिकोण कम साधुत्ववादी या शुद्धिवादी है, वे 11वीं शती के उत्तरार्द्ध में स्थापित किए गए। उनके नाम थे ब्कह-र्ग्यु-दप और स-स्क्य-प।

ब्कह-र्-ग्यु-दप (मौखिक परंपरा) तिब्बती लामा मर-प द्वारा स्थापित की गई। यह अतिश का मित्र था और नालंदा विश्वविद्यालय के तांत्रिक नारो-प का शिष्य। इस परंपरा की समानता ध्यान-निकाय से है, जो कि चीन और जापान के सभी उत्तरी बौद्धों का वर्तमान मत है, और उसके प्रधान प्रतिनिधियों में मि-ल-रस-प हुए, जो तिब्बत के बड़े संत कवियों में माने जाते हैं, और जिन्हें गुह्यशास्त्रों की शिक्षा स्वयं मर-प ने दी। ब्कह-र्-ग्यु-दप की आगे चलकर कई और शाखाएं हुईं, जिनमें से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दो यानी कर्म-प और ह्ब्रुग-प का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। कर्म-प के तीसरे प्रमुख रङ्-व्युङ्-र्दो-र्जे कहलाए। उन्हें कर्म-बक्-सी नामक पंथ के दूसरे प्रमुख के आध्यात्मिक वंशज के नाते घोषित किया गया। वह दो वर्ष पहले मर चुके थे। तब से आध्यात्मिक वंश-परंपरा का रिवाज चल पड़ा। इस प्रकार से दलाई लामा, पंचेन लामा और अन्य लामाओं के चुनाव में, कोई सर्वमान्य अवतार गद्दी पर बैठता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह पहले लामा का पुत्र, वंशज या शिष्य ही हो। कर्म-प सिक्किम में बहुत जोरों पर है और नेपाल में उसके अनुयायी कार्मिक कहलाते हैं। दूसरा प्रधान उप-संप्रदाय है ह्ब् रुग-प (अथवा गर्जन करने वाला)। उसके सिद्धांत भूटान में इतने जोरों से फैले कि उस देश ने ही बौद्ध नाम अपना लिया।

दूसरा संप्रदाय, स-स्क्य-प कहलाता है। उसका नाम 'भूरी मिट्टी' इसलिए रखा गया कि 1071 ईसवी में जब पहला मठ बनाया गया तो वहां की जमीन भूरी थी। वहीं आजकल का स-स्क्य बना हुआ है। स-स्क्य-प शाखा पुराने रिङ् म-प शाखा से मिलती-जुलती थी, ब्ह-र्ग्युद-प शाखा से कर्म और इस संप्रदाय के भिक्षु बुद्ध-धर्म का पालन भी पूरी तरह से नहीं करते थे। वे नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के आधार पर पुराने और नए के बीच में सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। महान त्सोन-ख-प के उदय से पहले वे एक शक्तिशाली श्रेणीबद्ध श्रेष्ठ संगठन में परिणत हो चुके थे।

ईसवी सन् की 13वीं शती में जब वे मंगोल सम्राटों के संपर्क में आए तब विद्या के गहरे प्रेमी होने के नाते वे कट्टर धर्मपरिवर्तन कराने वाले भी बने। स-स्क्य श्रेष्ठों में एक प्रसिद्धि व्यक्ति था ह्-फग्स-प, जो कि मंगोलिया के राजपुत्र खूब्लाई का आध्यात्मिक गुरु बना। राजपुत्र खूब्लाई जब चीन का प्रथम मंगोल सम्राट बना तो उसने मध्य-तिब्बत की सार्वभौम सत्ता स-स्क्य के प्रधान पुजारी को सौंप दी। इस घटना का काल था 1270 ईसवी। इस प्रकार से तिब्बत में धर्मप्रधान राज्य का एक नया युग शुरू हुआ। स-स्क्य-प ने बहुत-से प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान पैदा किए, जिनमें प्रसिद्ध बु-स्तोन (1290-1364 ईसवी) सबसे बड़ा माना

जाता है। वह न केवल प्रमुख मौलिक बौद्ध भाष्यों का विख्यात भाष्यकार था और एक आधिकारिक इतिहासकार था, परंतु वह अब तक के उपलब्ध बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती अनुवादों को संकलित करने वाला भी था। उसने व्यवस्थित रूप से उन अनुवादों को दो बड़े हिस्सों में बांटा—कंजुर (बुद्ध के शब्द) जो सौ खंडों में थे, और तंजुर (टीकाएं) जो 225 खंडों में थे। यही हमें तिब्बती बौद्ध धर्म सूत्रों के रूप में मिलते हैं। तारानाथ नामक तिब्बती इतिहासकार (1573 ईसवी में जन्म) जो-नङ् नामक संप्रदाय का मानने वाला था। यह स-स्क्य-प की उपशाखा थी। त्सोङ् ख-प नामक महान सुधारक के अभ्युदय के साथ-साथ तिब्बती बौद्ध धर्म का आधुनिक काल शुरू हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। यह त्सोङ्-ख-प अम्दो प्रांत में 1358 ईसवी में जन्मा। संगठन और सर्व-ग्राहक बुद्धि की अद्भुत शक्ति उसमें थी। उसने सब व्यतिक्रम और अंधविश्वास दूर करने शुरू किए और बौद्ध भिक्षुओं का एक मजबूत संगठन बनाया, जो कि गहरी विद्या, अनुशासन और ब्रह्मचर्य पर आधारित था। इसी संगठन को द्गे-लुग्स-प (पुण्यदानों का संप्रदाय या जनसाधारण की भाषा में पीली टोपी वालों का संप्रदाय) कहते हैं। 1408 में, उसने ऐसे स्थान पर गंदेन मठ की स्थापना की जो ल्हासा से बहुत दूर नहीं है, जहां वह कुछ वर्षों तक काम करता रहा और 1419 ईसवी में मर गया। दो और बड़े मठ डेपुङ और सेरा, जो ल्हासा के पास हैं, और ताशी-ल्हुम्पी, जो त्सांग प्रांत में हैं, ऐसे धार्मिक केंद्र हैं कि उनमें सर्वोच्च धार्मिक शक्ति और प्रतिष्ठा समाई हुई है, वे सब उनके शिष्यों द्वारा अगले पचास वर्षों में स्थापित किए गए। ये विद्या केंद्र मंगोलिया और साइबेरिया में धर्म प्रचार का काम इतनी योग्यतापूर्वक और उत्साह से चलाते रहे कि आरंभ के स-स्कय-पाओं की शक्ति जब आंतरिक झगड़ों और परस्पर स्पर्द्धा से कम हो गई, तब द्गे-लुग्स्-प को मंगोल सामंत अपना आध्यात्मिक गुरु मानने लगे और उनका पक्ष लेने लगे। यही आध्यात्मिक गुरु धीरे-धीरे तिब्बत के ऐहिक शासक भी बन गए। जब उनके तीसरे सर्वोच्च सत्तावान ब्-सोद्-नम्स-र्ग्यम्त्सो (1546-1587 ईसवी) से वह मिला, तो अलताफ खान को विश्वास हो गया कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वे दोनों ही पहले जन्म में हफग्स् प और उसके शिष्य महान सम्राट खूब्लाई खान थे और पहले को उन्होंने एकदम पहचान लिया कि वही सच्चा ताले (यानी दलाई, तिब्बती में र्ग्य-म्त्सो) अर्थात् 'समुद्र' था। तब से, सभी परमश्रेष्ठ दलाई लामा कहलाए जाने लगे। इनमें सबसे विख्यात था महान पांचवां दलाई लामा (1615-1680 ईसवी) जिसे कि मंगोल सरदार गुसरी खान ने सारे देश की सार्वभौम सत्ता दे दी थी। गुसरी खान ने अंततः त्साङ् और तिब्बत के अन्य प्रदेशों से सारे विरोधकों को नष्ट कर दिया। प्रायः सत्तर वर्षो के बाद के कालखंड में जब कि स-स्क्य के बड़े पुजारी तिब्बत के एक छोटे हिस्से पर राज करते रहे, दलाई लामा का सहसा सारे तिब्बत पर संपूर्ण और दैवी सार्वभौमत्व मान लिया जाना एक ऐसी घटना है जो तिब्बत के इतिहास में एक मोड़ की तरह मानी जा सकती है। इस सुयोग्य और बहुत देशों में प्रवास किए हुए दलाई लामा के शासनकाल में संस्कृत के व्याकरण, आयुर्वेद और अन्य विषयों पर ग्रंथ अनूदित किए जाते रहे। उसका प्रधानमंत्री था सङ्स-रग्यस्-रग्य-म्त्सो। उसने कई वर्षो तक दलाई लामा की मृत्यु के समाचार गुप्त रखे। जनहित को ध्यान में रखकर उसने ऐसा किया और उस दलाई लामा के नाम पर वह राज्य का शासन-कार्य इतनी अच्छी तरह से चलाता रहा कि तिब्बत ने जो राजनीतिज्ञ पैदा किए उनमें उसे सबसे होशियार और सुयोग्य माना जाता है। सातवें दलाई लामा (1708-1758 ईसवी) की ख्याति उसकी विद्वत्ता, सहिष्णुता और विरक्ति के लिए थी। उसके राजकाल में कपुचिन और जेसुइट मिशनरी ल्हासा में आए। परंतु इस काल में भारत के साथ धार्मिक और सांस्कृतिक संबंध जैसे भुला दिए गए, चूंकि विदेशियों का आधिपत्य बढ़ा और भारत से ही पुरानी राज्य-व्यवस्था विलुप्त हो गई। इसके बाद तिब्बत के इतिहास में ऐसा कालखंड आया, जिसमें तिब्बत जैसे सबसे अलग कट गया और वहां राजनैतिक षडयंत्र होते रहे और अल्पजीवी दलाई लामा एक के बाद एक प्रमुख बनते गए। इस बड़ी निद्रा के युग के बाद हम आज के एशिया के पुनर्जागरण के युग में आते हैं, जब भारत ने स्वतंत्रता पाई और बौद्ध धर्म के प्राचीन आदर्शो का पुनर्मूल्यांकन

हुआ। बौद्ध धर्म के ये ही आदर्श तेरह शताब्दियों तक के उत्थान-पतन से भरे इतिहास में तिब्बत को जीवित और चैतन्य रखे हुए हैं।

नेपाल

बौद्ध धर्म संस्थापक शाक्यमुनि के घर के नाते नेपाल की संसार के बौद्ध देशों में अद्वितीय स्थिति है। गौतम, जो कि एक शाक्य राजा के पुत्र थे, 544 ईसा पूर्व लुंबिनी मे जनमे। लुंबिनी नामक नेपाली बस्ती कपिलवस्तु से करीब 24 कि.मी. दूर है। बहुत बचपन में ही उसने सत्य की खोज में अपने पिता का राज्य छोड़ दिया। बोधगया में संबोधि की प्राप्ति के बाद, सारनाथ में उसने प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन किया, और बाद में वह अपने घर लौट गया। उसका पुत्र राहुल उसका शिष्य बना। नेपाल के बारे में इस संक्षिप्त उल्लेख में यही कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व तीसरी शती में अशोक जब राजपुत्र था, तभी उसने नेपाल की कई जातियों में से एक का विद्रोह सफलतापूर्वक दबाया और वहां शांति और सुव्यवस्था स्थापित की। उसने लुंबिनी में बाद में जाकर बुद्ध के पवित्र जन्म-स्थान की स्मृति में एक लेखयुक्त स्तंभ निर्मित किया। यह बौद्ध धर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके बाद उसकी पुत्री चारुमती ने एक नेपाली सरदार के साथ विवाह किया, ऐसा भी कहा जाता है। नेपाल में उसने कई स्तूप और मठ निर्मित किए, जिनमें से कई अभी सुरक्षित हैं। ईसवी सन् के आरंभिक शतकों में मूल-सर्वास्तिवाद निकाय के भिक्षुओं के लिए जो अनुशासन के नियम लागू हुए थे, उनमें उस प्रदेश की कठोर जलवायु को देखते हुए कुछ बातों की छूट दी गई थी। ऐसा लगता है कि इस देश में बौद्ध मठ विषयक जीवन व्यापक प्रमाण पर विद्यमान था। ईसा की चौथी शती के महान बौद्ध दार्शनिक आचार्य वसुबंधु ने भी अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए नेपाल-यात्रा की थी।

नेपाल को वास्तविक महत्त्व सातवीं शती के राजा अंशुवर्मन के समय से प्राप्त हुआ। वह बौद्ध धर्म का पक्का समर्थक और प्रचारक था। उसने अपनी पुत्री का विवाह तिब्बत के प्रथम शक्तिमान राजा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्रोङ्-सन्-गम्-पो से करा दिया, और उसके राजाश्रय में तिब्बती में संस्कृत बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद कराने का काम शुरू कराने वाले व्यक्तियों में, नेपाली पंडित शीलमंजु का उल्लेख प्रमुखतः करना चाहिए। शांतरक्षित के काल में, यानी ईसा की आठवीं और नौवीं शताब्दी में इन दो देशों में सांस्कृतिक मित्रता का गठबंधन और मजबूत हुआ। बाद की सदियों में जब मुसलमानों ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया, तब उस प्रदेश के समृद्ध बौद्ध मठों का बड़े पैमाने पर नाश किया गया। बौद्ध भिक्षुओं को नेपाल में सुरक्षा और शरण मिली। ये अपने साथ में बहुत-से मूल्यवान हस्तलिखित ग्रंथ ले गए, जिनमें से कुछ तिब्बत के मठों में भी जा पहुंचे, जहां आज तक वे सुरक्षित रखे हुए हैं। बीच की शताब्दियों में नेपाल के पश्चिमी तिब्बत से सांस्कृतिक और राजनैतिक संबंध दृढ़तर होते गए। परंतु इतिहास के इस कालखंड की पूरी तरह से शोध अभी तक नहीं हुई है। कई सदियों तक नेपाल मध्य-हिमालय की पर्वत श्रेणियों के दोनों ओर के देशों के बीच में सांस्कृतिक कड़ी का काम करता रहा। अभी हाल में भारत और तिब्बत के बीच में आने-जाने का रास्ता नेपाल में से क्यिरोङ् से होते हुए जाता था।

भारत में बौद्ध धर्म के पतन के बाद, नेपाली बौद्ध धर्म के लोकप्रिय रूप में से कुछ मूल गुण कम होते गए, जैसे कि मठों का जीवन, जातिभेद का विरोध और सारे धार्मिक रहस्यों को कम महत्व देना। ये सब बातें आध्यात्मिक शक्ति के रूप में कम प्रभावशाली हो गईं। अभी हाल तक बौद्ध धर्म के चार संप्रदाय, जिनकी कि कई उपशाखाएं हैं, बहुत प्रमुख रहे हैं— (1) स्वाभाविक—दुनिया की सभी वस्तुओं में प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो गुण हैं; (2) ऐश्वरिक— एक स्वयंभू , संपूर्ण, अनंत परमात्मा है; (3) कार्मिक—एक सचेतन नैतिक प्रभाव है, जिसके द्वारा मूल अविद्या के आधार पर विश्व का यह यंत्र चलता है; (4) यात्रिक—चेतन बौद्धिक कारण और युक्त प्रज्ञा दोनों ही हैं। इस प्रकार से भारत और तिब्बत में जो विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएं हिंदू और बौद्ध दोनों धर्मों के प्रभाव में चलीं, उनका संपूर्ण सामंजस्य नेपाल में मिलता है। अभी हाल में बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन का महत्वपूर्ण कार्य धर्मोदय सभा ने शुरू किया है।

स्थानीय भाषा में पालि ग्रंथों के कई अनुवाद छपे हैं।

इस प्रकार से नेपाल, जो कि हिमालय की बहुत कुछ ऊंची चोटियों की छाया में है, बड़ी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत माना जाता है। उसने स्वतंत्रता और सहिष्णुता को सर्वोपरि माना है।

दक्षिण के देश

श्रीलंका

सिंहली परपरा के अनुसार सम्राट अशोक (273-236 ई० पू०) ने धर्म-प्रचारकों को सर्वत्र भेजा। उन्होंने बुद्ध के उपदेश भारत के भीतर और बाहर फैलाए। उन्होंने अपने पुत्र (या भाई) थेर महेंद्र को चार और व्यक्तियों के साथ श्रीलंका भेजा, और वहां उन्होंने बौद्ध-धर्म के सिद्धांत देवानांपिय तिस्स (247-207 ईसा पूर्व) और उसके अनुचरों को सुनाए। श्रीलंका के राजा और जनता इस नए उपदेश से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया। उसकी वहां विलक्षण रूप से उन्नति हुई। लाखों स्त्री-पुरुषों ने इस नए धर्म को अपनाया और हजारों संघ में शामिल हुए, भिक्षु बने। सब जगह मठ और विहार बनाए गए और उनकी व्यवस्था के लिए काफी दान दिए गए। रानी अनुला और अन्य कई स्त्रियों ने पब्बज्जा ग्रहण करने की अपनी इच्छा प्रदर्शित की। परंतु कोई भिक्षु स्त्रियों को दीक्षा नहीं दे सकता था। अतः सम्राट अशोक के पास संदेश भेजा गया कि कुछ प्रसिद्ध भिक्षुणियां उनकी सहायता के लिए भेजें। इस प्रकार से संघमित्रा, जो महेंद्र की बहन थी, और जिसे दीक्षा मिल चुकी थी, सिंहल भेजी गई।

सिंहल में बौद्ध-धर्म के आरंभिक इतिहास की दो बड़ी घटनाएं ऐसी हैं कि उनका गहरा असर रहा है, और बौद्ध धर्म के लाखों मानने वालों में उनके स्मरण से अभी भी पवित्र उत्साह जागता है। उस बोधिवृक्ष की शाखा को श्रीलंका में लगाना, जिसके नीचे बुद्ध को संबोधिज्ञान प्राप्त हुआ, अशोक की बहुत अच्छी कल्पना थी। सद्यः दीक्षित बौद्ध जनसाधारण के लिए यह एक प्रेरणा थी। दूसरी घटना थी 500 वर्ष बाद भारत से बुद्ध के दांत का लाया जाना।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार से, बहुत थोड़े समय में समूचा सिंहल बौद्ध धर्म का एक गढ़-सा बन गया। श्रीलंका की यह स्थिति दो हजार वर्षों बाद अभी तक वैसी ही है।

महान स्तूप दुट्ठगामणी (101-77 ईसा पूर्व) के राज्यकाल में बनाया गया, और भारत के विहारों में आए बौद्ध भिक्षुओं की एक बड़ी संगीति के आगे बौद्ध धर्म के लिए अर्पित किया गया। महावंस में उन अभ्यागतों की नामावली और अन्य विवरण दिए गए हैं।

वट्टगामणी (29-17 ईसा पूर्व) का राज्यकाल श्रीलंका में बौद्ध धर्म के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अब तक बौद्ध धर्म के पवित्र ग्रंथ, महेंद्र द्वारा मूल रूप में पठित, याद किए जाते थे और मौखिक परंपरा से रक्षित किए जाते थे। अब व्यवस्था की गई कि उन्हें लिखा जाए। इसके लिए पांच सौ पाठ करने वाले और लिखने वाले रखे गए। पालि त्रिपिटक, जो आज भी पवित्र धर्मशास्त्र की तरह सुरक्षित है, वह उनके ही परिश्रम का परिणाम था, वर्ना भारत से तो वह कभी का विलुप्त हो गया, और उसके कोई चिन्ह भी शेष न रहे।

श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रभाव को अतिरंजित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः सिंहल की सारी संस्कृति और सभ्यता भारत से ली गई है। श्रीलंका की साहित्यिक भाषा पालि बनी और अभी भी वह सम्मानपूर्वक मानी जाती है। सिंहली साहित्य भारतीय साहित्य की उपशाखा है, और सिंहल की स्थापत्य-कला, शिल्प और चित्र भारत से लिये गए हैं। सिंहल की लिपि भी भारत से आई।

दूसरी ओर, बौद्ध जगत श्रीलंका का बहुत ऋणी है। जैसे ऊपर उल्लेख किया गया है कि पालि धर्मग्रंथ अपने मूल रूप में इस द्वीप में सुरक्षित रखे गए और श्रीलंका के बौद्ध धर्म का बड़ा प्रभाव बर्मा, कंबोडिया, स्याम और लाओस पर रहा। इन्हीं देशों में थेरवाद बौद्ध धर्म आज भी फल-फूल रहा है। बौद्ध धर्म के संबंध में श्रीलंका निष्क्रिय ग्राहक नहीं रहा, उसने विविध भाष्यों के रूप में बौद्ध धर्म को विकसित करने में भी भाग लिया।

बर्मा

श्रीलंका के इतिहास-वृत्तांतों के अनुसार, दो बौद्ध भिक्षु, 'सोण' और 'उत्तर', सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का उपदेश देने के लिए सुवर्ण भूमि में भेजे गए थे। सुवर्ण भूमि को साधारणतः बर्मा माना जाता है। फिर भी कोई ऐसा विश्वसनीय साक्ष्य नहीं है कि अशोक द्वारा ही ये 'सोण' और 'उत्तर' भेजे गए थे। सुवर्ण भूमि कौन-सी रही होगी, इसके बारे में भी कई मत हैं। कुछ लोग उसे स्याम भी मानते हैं, अथवा पूरे हिंद-चीन के लिए यह शब्द प्रयुक्त करते हैं।

उत्तर और सोण की कहानी यदि छोड़ दें, तो पांचवीं शती से पहले वहां बौद्ध धर्म पनपा होगा, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। बर्मा और भारत की निकटता को ध्यान में रखते हुए और ईसवी संवत् से पहले भी दो कठिन स्थल-मार्ग भारत और बर्मा के बीच रहे होंगे, यदि ऐसा मानकर चलें, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि पांचवीं शती से पहले बौद्ध धर्म भारत से बर्मा में गया होगा। परंतु इस समय से आगे ऐसे निश्चित वृत्तांत मिलते हैं कि जिनसे न केवल थेरवाद बौद्ध धर्म का अस्तित्व, परंतु उसकी विकसित अवस्था भी जानी जा सकती है। प्युस के पुराने राज्य को श्रीक्षेत्र कहा जाता है और उसकी राजधानी कहीं प्रोम के निकट रही होगी। उसके भग्नावशेष आधुनिक ह्मावज़ा में मिलते हैं।

ह्मावज़ा के स्थापत्य–अवशेष आधुनिक प्रोम से आठ कि.मी. दूर हैं और चीनी वर्णनों से इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि पालि धर्म-सूत्रों सहित थेरवाद बौद्ध धर्म इस प्रोम के आस-पास के प्रदेश में पांचवीं शती के उत्तरकाल में भारतीय धर्म प्रचारकों द्वारा प्रसारित किया गया होगा। वे भारत के दक्षिण और उत्तर समुद्र के किनारे से शायद वहां आए होंगे। साथ ही साथ हमें मूलसर्वास्तिवाद के और महायानवाद के चिन्ह भी मिलते हैं, जो कि पूर्वी भारत से आए होंगे।

इस अनुमान के लिए विपुल प्रमाण हैं कि बौद्ध धर्म का थेरवादी रूप हिंदू मोन या तलैंगों में फैला। ये पेगू में या हंसावती में बस गए थे। थातोन (सुद्धम्मवती) और अन्य अड़ोस-पड़ोस के प्रदेशों को तब सामूहिक रूप से रामञ्ज-देस कहा जाता था। ईसा की ग्यारहवीं शती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

से कुछ पहले थातोन इस धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण केंद्र बन चुका था। उससे भी पहले म्राम्म ने, जो कि एक तिब्बती द्रविड़ जाति थी, पगन में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया था और वही नाम सारे देश का रख दिया था। म्राम्म लोग जंगली, बेपढ़े-लिखे थे और उनमें एक विकृत प्रकार का तंत्रवाद प्रचलित था। 1044 ईसवी में एक नए राजा अनवरथ (अनिरुद्ध) पगन की गद्दी पर बैठे और वे थातोन के एक थेरवादी तलैंग भिक्षु अर्हन द्वारा बौद्ध बनाए गए। उसे धर्म-दर्शी भी कहा जाता है। नए राजा ने अर्हन और श्रतोन के अन्य कुछ भिक्षुओं के सारे प्राचीन विकृत धर्म के विरुद्ध जैसे धर्मयुद्ध किया और थेरवाद को स्थापित किया। फिर भी धर्मग्रंथों की बड़ी आवश्यकता थी। अनिरुद्ध ने मनूह के यानी थातोन के राजा के पास दूत भेजे। उसने त्रिपिटक के पूरे पाठ मांगे थे। मनूह ने मना किया तो अनिरुद्ध अपनी पूरी सेना लेकर थातोन पर चढ़ाई कर बैठे और उसे जीत लिया। वह विजयी होकर लौटे और अपने साथ न केवल राजा मनूह को बंदी बनाकर लाए, अपितु अन्य बौद्ध भिक्षुओं को भी। बत्तीस हाथियों पर लादकर वह बौद्ध ग्रंथ और अवशेष भी लाए। विजय करने वाला विजितों की संस्कृति से पूरी तरह से बंदी बना हो, इस बात का शायद ही इससे बड़ा कोई उदाहरण मिलेगा। पगन के बर्मी लोगों ने मोन लोगों का धर्म, भाषा, साहित्य और लिपि अपनाई। अनिरुद्ध और उसके वंशज थेरवादी बौद्ध धर्म के बड़े मानने वाले बने और उनकी राजनैतिक सत्ता के साथ-साथ वह समूचे बर्मा पर फैल गया। ब्राह्मण धर्म, जो कि वहां पहले फैला था, के स्थान पर धीरे-धीरे बौद्ध धर्म फैलने लगा। वही धर्म आज भी पूरे बर्मा में बिना किसी प्रतिद्वंद्विता के फैला हुआ है। एक नए बौद्ध के आवेश से अनिरुद्ध ने कई पगोदा या मंदिर और विहार बनवाए। उसके वंशजों ने उसका अनुकरण किया। वह श्रीलंका से त्रिपिटक के पूरे मूल पाठ लाया और अर्हन ने उन्हें थातोन के पास जो पाठ थे, उनके साथ मिलाया। अनिरुद्ध के पुत्र, क्यनजित्थ ने अपने पिता का पूरा अनुकरण किया और पगन में प्रसिद्ध आनंद विहार बनाया।

1181-82 ईसवी में श्रीलंका में दीक्षित कपट नामक भिक्षु द्वारा एक सिंहली भिक्षु संघ की स्थापना बर्मा में बौद्ध धर्म के इतिहास में एक

महत्वपूर्ण घटना है। श्रीलंका के भिक्षु बर्मा के भिक्षुओ को सही तौर से दीक्षित नहीं मानते थे, और यही भावना कपट और अन्य अनुयायियों की थी। सिंहल संघ और म्रम्म-संघ के बीच प्रतिद्वंद्विता तीन शतियों तक चलती रही और अंत में सिंहल संघ की विजय हुई।

मलय प्रायद्वीप

मलय प्रायद्वीप के कई हिस्सों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे संस्कृत में लिखे हैं और चौथी तथा पांचवीं शती में प्रचलित भारतीय वर्णमाला में हैं। इनमें से तीन निश्चित रूप से बौद्ध धर्म से संबद्ध हैं और इनसे सिद्ध होता है कि इस प्रदेश में उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार था। परंतु इन सब में सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष नाखोन श्री तम्मराट (लिंगोर) में पाए गए हैं। यह प्रधानतः एक बौद्ध उपनिवेश था, जिसमें वह महान स्तूप बनाया गया, जिसकी खोज अभी होनी है। इस स्तूप के आस-पास जो पचास मंदिर हैं, वे शायद बहुत प्राचीन काल के हैं।

महायान बौद्ध-धर्म इस प्रदेश में ईसा की छठी शती में फैला। यह बात केद्दाह के पास पाए गए मिट्टी के फलक पर उत्कीर्ण एक लेख से जानी जाती है। वह शायद छठी शती का है। उसकी लिखावट से ऐसा जाना जा सकता है। उसमें तीन संस्कृत के श्लोक हैं, जो महायान शाखा के कुछ दार्शनिक सिद्धांतों के बारे में हैं। इन तीन-श्लोकों में से दो माध्यमिक शाखा के कई पाठों के चीनी अनुवादों में पाए गए हैं, और ये तीनों सागरमतिपरिपृच्छ (नाञ्जियो 976) के चीनी अनुवाद भी मिलते हैं।

महायान बौद्ध धर्म इस प्रदेश में ईसा की आठवीं शती तक पनपता रहा; शायद आगे भी बहुत दिनों तक। लिंगोर में पाए गए एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार राजा और उसके पुजारियों ने बौद्ध देवताओं के लिए तीन ईंटों के मंदिर और पांच स्तूप बनवाए। ये स्तूप शक संवत् 697 (यानी 775 ईसवी) में बनवाए गए थे।

स्याम (थाईलैंड)

बौद्ध धर्म स्याम में, जिसे थाई देश कहते हैं, बहुत प्राचीन काल से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

फला-फूला। शायद ईसा की पहली या दूसरी शती में। पोंग तुक और फ्रा पाथोम के प्राचीन पुरातत्व से यही सिद्ध होता है। फ्रा पाथोम बैंगकाक के करीब 50 कि.मी. पश्चिम में है, और पोंग तुक शायद पश्चिम में 32 कि.मी. दूर है। एक धार्मिक इमारत के कुछ खंडहर, बुद्ध की प्रतिमाएं, उत्कीर्ण मृण्मूर्तियां और बौद्ध धर्म के सुनिश्चित प्रतीक, यथा धर्मचक्र, जो शायद प्रथम या द्वितीय शती के हैं, यहां पाए गए हैं।

इससे कुछ बाद के काल के अगणित भग्नावशेष और कुछ अच्छे मूर्तिकला के नमूने मिले हैं, जिन पर गुप्तकाल का गहरा प्रभाव है। इन्हें द्वारावती वर्ग का कहा गया है। युआन्–च्वांग के समय में यानी सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में द्वारावती एक बड़ा समृद्ध राज्य था।

आठवीं या नौवीं शती में स्याम और लाओस कांबुज (कंबोडिया) के राजनैतिक अंग थे और वहां की धार्मिक स्थिति का प्रभाव इन पर भी पड़ा था। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों इन देशों में साथ-साथ फूले-फले। तेरहवीं शती के मध्य में थाई लोग स्याम और लाओस के स्वामी बने और कंबोडियों की उन पर जो राजनैतिक प्रभुता थी, उसे उन्होंने समाप्त कर दिया। थाई राजाओं के प्रभाव में थेरवाद शाखा का बौद्ध धर्म और पालि भाषा सारे स्याम और लाओस में फैली और फली-फूली। थाई राजा श्री सूर्यवंश राम महाधार्मिक राजाधिराज न केवल बौद्ध धर्म के बड़े आश्रयदाता थे, परंतु उन्होंने स्वयं भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी और अपने राज्य में सब जगह उन्होंने बौद्ध सिद्धांतों का प्रचार किया था। सन् 1361 ईसवी में उन्होंने कुछ विद्वान भिक्षुओं को एवं पंडितों को श्रीलंका भेजा और महासामी संघराज नामक महान भिक्षु को वे आग्रहपूर्वक स्याम में लाए। उन्हीं की प्रेरणा और सक्रिय प्रयत्नों से, बौद्ध धर्म और पालि साहित्य को न केवल दृढ़ आधार मिला, परंतु वह कई छोटे-छोटे हिंदू राज्यों में फैला, जैसे आलवीराष्ट्र, खेमराष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गसिल, योनकराष्ट्र और हरिपुंजय। अब इन्हें लाओस कहते हैं। इनमें से कई ऐसे हैं कि उनके अपने स्थानिक वृत्तांत पालि में मिलते हैं। इस समय के बाद स्याम और पड़ोसी देशों में बौद्ध धर्म खूब फूला-फला। ब्राह्मण धर्म का ह्रास हुआ, और केवल व्रतोत्सवों में उसके कुछ चिन्ह शेष रहे।

कांबुज (कंबोडिया)

चीनी वृत्तांतों से और पुरातत्व की शोध से यह सिद्ध होता है कि पांचवीं शती के अंत से बौद्ध धर्म कंबोडिया में फूला-फला, यद्यपि उसे कोई प्रमुख स्थान नहीं मिला। क्योंकि शैव-मत जैसे ब्राह्मण-धर्मों से वह कम लोकप्रिय था। महान सम्राट यशोवर्मन ने, जो नौवीं शती के अंत में राज्य करते थे, एक सौगताश्रम स्थापित किया। वह विशेष रूप से बौद्ध भिक्षुओं के लिए था। उसके लिए बड़े विस्तृत नियमादि बनाए गए।

राजा जयवर्मन सप्तम (1181 से करीब 1220 ईसवी तक) बड़े श्रद्धालु बौद्ध थे और उनकी मृत्यु के बाद उन्हें महापरम सौगत की उपाधि दी गई। उनके आलेखों से पता चलता है कि जीवन के प्रति वैशिष्ट्यपूर्ण बौद्ध दृष्टिकोण क्या था, विशेषतः दान और समस्त विश्व के प्रति करुणा के भाव क्या थे। उन्होंने धार्मिक संस्थाओं के स्थापन में बड़ी उदारता से योग दिया।

जयवर्मन सप्तम का एक संस्कृत लेख उसकी रानी की धार्मिक वृत्ति के बारे में बहुत अच्छी जानकारी देता है। यह कहा जाता है कि जब जयवर्मन सर्वप्रथम चंपा में गए, तब उनकी पत्नी जयराज देवी ने लंबे समय तक चलने वाले कई प्रकार के तपस और साधना के द्वारा अपनी वैवाहिक निष्ठा व्यक्त की। तब उसकी बड़ी बहन ने उसे बौद्ध धर्म की प्रव्रज्या दिलाई। यह कहा जाता है कि उसने एक ऐसा व्रत किया कि जिससे वह अपने सामने अपने अनुपस्थित पति की प्रतिमा देख सकती थी। जब उसके पति लौटे, तब उसने अपने पवित्र और उदार कार्य और भी बढ़ाए। इनमें एक नाटक का अभिनय भी था। इस नाटक का कथानक जातकों से लिया गया था और इसमें जाति-बहिष्कृत लड़कियों में से एकत्रित की गई भिक्षुणियों ने भाग लिया था।

कांबुज में 13वीं शती ईसवी तक बौद्ध धर्म फलता-फूलता रहा। यह स्मरणीय है कि इस समय तक, यद्यपि बौद्ध धर्म समृद्ध अवस्था में था, फिर भी न तो वह राज्य-धर्म था और न इस देश में एक प्रधान धार्मिक पंथ के रूप में ही था। इसके बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती कि बौद्ध धर्म को ऐसी स्थिति कब मिली। परंतु यह परिवर्तन निस्संदेह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्याम के थाई लोगों के प्रभाव के कारण घटित हुआ। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वे बड़े पक्के बौद्ध थे। उन्होंने कंबोडिया के एक बड़े हिस्से को जीत लिया था। पहले स्याम पर कंबोडिया का प्रभाव था, किंतु अब स्थिति उलटी हो चुकी थी, और कंबोडियावासी थाई लोगों के प्रभाव से अपना धर्म परिवर्तित कर पूरे बौद्ध बन गए थे। अंगकोरवाट आदि बड़े मठों के ब्राह्मण देवताओं के स्थान पर बौद्ध प्रतिमाएं आ गई थीं। यह प्रतिमा-परिवर्तन कब हुआ होगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परंतु धीर-धीरे बौद्ध धर्म कांबुज में प्रधान धर्म पंथ बना और अब उस देश में ब्राह्मण धर्म का शायद ही कोई चिन्ह शेष बचा हो। कांबुज के केवल कुछ उत्सवों और त्योहारों में ब्राह्मणत्व के चिन्ह दिखाई देते हैं।

चंपा (वियतनाम)

हिंद-चीन प्रायद्वीप के पूर्वी समुद्र किनारे के दक्षिण में जो प्रदेश था, उसे अन्नाम कहते थे। अब यह वियतनाम कहलाता है। इसी का प्राचीन नाम था चंपा। स्पष्टतः हिंदू उपनिवेश निर्माताओं ने उसे यह नाम दिया था। बौद्ध धर्म ईसा की तीसरी शती से पहले इस देश में जम गया था, यह बात इससे अनुमित होती है कि एक उत्तम अमरावती-शैली की, कांसे की एक बुद्ध प्रतिमा इसी समय में पाई गई। एक चीनी वृत्तांत से यह जाना जाता है कि जब चीनियों ने चंपा की राजधानी को 605 ईसवी में जीता, तब वे अपने साथ 1,350 बौद्ध ग्रंथ ले गए। इस महत्वपूर्ण घटना से यह जाना जा सकता है कि ईसा की सातवीं सदी से पहले बौद्ध धर्म इस देश में बहुत समय तक फलता-फूलता रहा होगा। इ-त्सिंग लिखता है कि चंपा में बौद्ध सामान्यतः आर्यसम्मितीय शाखा के होते थे। सर्वास्तिवादी शाखा के भी कुछ अनुयायी वहां थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वहां श्रावकयान संप्रदाय का प्रचार था, परंतु, ईसा की आठवीं शती अथवा उसके आस-पास के उत्कीर्ण लेखों से यह जाना जाता है कि चंपा में बौद्धों का महायान संप्रदाय प्रबल था, और शायद तांत्रिक रूप भी, जो बाद में महायान शाखा से निकला। कभी-कभी बौद्ध धर्म राजाश्रय और ऊंचे अधिकारियों का आश्रय पाता रहा। एक स्थान पर एक बड़ी बौद्ध

संस्था के भग्नावशेष भी मिलते हैं जिसका नाम दोंग दुआंग है। इन भग्नावशेषों में एक मंदिर और मठ है, जिसे राजा जय इंद्रवर्मन ने 875 ईसवी में बनवाया था।

महायान शाखा का बौद्ध धर्म चंपा में एक सजीव शक्ति के रूप में ईसा की 15वीं शती तक चलता रहा, जब उस देश को उत्तर से आए हुए अन्नामवासियों ने पूरी तरह से जीत लिया। अन्नामवासी पहले तौन्-किन् में रहते थे और चीन से उन्होंने अपनी संस्कृति ली। चंपा के प्राचीन धर्म का स्थान चीनी बौद्ध धर्म और इस्लाम ने ग्रहण किया।

इंडोनेशिया

ईसा की 5वीं शती के आरंभ तक जावा द्वीप के लोगों पर बौद्ध धर्म का बहुत कम प्रभाव था। फाहियान ने करीब 414 ईसवी में जावा द्वीप की यात्रा की और उसने लिखा है कि जहां अन्य प्रकार के धर्म, विशेषतः ब्राह्मण धर्म इस प्रायद्वीप में फैले, वहां 'बौद्ध धर्म की स्थिति उल्लेखनीय नहीं थी', परंतु भारतीय भिक्षु गुणवर्मन जैसे उत्साही धर्मप्रचारक को इस बात का श्रेय है कि फाहियान की जावा-यात्रा के बाद पच्चीस वर्षों के भीतर बौद्ध धर्म न केवल वहां प्रचलित हुआ वरन् उसने बहुत बड़ा प्रभुत्व स्थापित किया।

बौद्ध धर्म सुमात्रा के द्वीप में बहुत पहले प्रचलित हुआ, विशेषतः श्रीविजय राज्य में, जिसे पलेम्बांग कहा जाता है। इस प्रदेश में पाए गए कुछ उत्कीर्ण लेखों से जाना जाता है कि जो राजा श्रीविजय में 683-684 ईसवी में राज्य करता था, वह बौद्ध था। प्रसिद्ध चीनी यात्री इ-त्सिंग ने ईसा की सातवीं शती के अंतिम चरण में भारत की यात्रा की। उसने लिखा है कि श्रीविजय का राजा और अड़ोस-पड़ोस के अन्य राजा भी, बौद्ध धर्म को मानते थे, और श्रीविजय बौद्ध ज्ञान का बड़ा महत्वपूर्ण केंद्र था। श्रीविजय के बौद्ध भिक्षु एक हजार से अधिक थे और मध्यदेश (भारत) की भांति वे सब विषय पढ़ते थे। इ-त्सिंग ने कुछ समय श्रीविजय में बिताया और बौद्ध धर्म ग्रंथों की शिक्षा ग्रहण की। उसने दक्षिण समुद्र के द्वीपों में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का बहुत मनोरंजक वृत्तांत लिखा है। दक्षिण समुद्र के दस देशों के नाम देकर वह लिखता है कि इन देशों के और अन्य छोटे द्वीपों के सब लोग 'बौद्ध धर्म मानते हैं और मलयु

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(श्रीविजय) को छोड़कर सर्वत्र हीनयान धर्म माना जाता है। मलयु में कुछ लोग महायान मानने वाले भी हैं।'

बौद्ध धर्म का एक विशाल केंद्र होने के नाते इंडोनेशिया का ईसा की सातवीं से 11वीं शती तक जो महत्त्व था, वह कुछ अन्य तथ्यों से भी सिद्ध होता है। धर्मपाल नामक नालंदा विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध आचार्य सुवर्णद्वीप में आए। सातवीं शती में इंडोनेशिया सुवर्णद्वीप ही कहलाता था। अतिश दीपंकर नामक प्रसिद्ध भिक्षु और विद्वान (11वीं शती) विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रमुख बने और तिब्बत में उन्होंने बौद्ध धर्म का दूसरा कालखंड शुरू किया। ये अपने प्रारंभिक जीवन में चंद्रकीर्ति नामक प्रधान स्थविर से बौद्ध धर्म की शिक्षा लेने सुवर्ण द्वीप में गए। शैलेंद्र वंश ने महायान शाखा को प्रोत्साहन दिया। शैलेंद्र वंश मलय प्रायद्वीप और इडोनेशिया के एक बड़े हिस्से पर राज्य करता रहा। शैलेंद्र राजा बौद्ध धर्म के बड़े आश्रयदाता थे और उन्होंने जावा में बोरोबुदूर, कलसन और मेदुत जैसे विराट स्मारक बनवाए। उत्कीर्णलेखों के साक्ष्य से पता चलता है कि शैलेंद्र राजाओं में से एक गुरु गौड़ देश (बंगाल) का था। इसमें कोई कोई संदेह नहीं कि बंगाल के पाल राजा और दक्षिण के चोल राजाओं का शैलेंद्र काल में, जावा पर धार्मिक विषयों में बहुत प्रभाव रहा। शैलेंद्र राजाओं ने नालंदा और नागपट्टिनम् में मठ स्थापित किए और पाल और चोल सम्राटों ने उनकी व्यवस्था के लिए ग्राम दान में दिए। शैलेंद्रों के प्रभाव में जावा और सुमात्रा में बहुत लंबे समय तक महायान चलता रहा। संभवतः बंगाल के प्रभाव के कारण विकृत तांत्रिक प्रकार का बौद्ध धर्म जावा और सुमात्रा दोनों में फैला। इन दोनों देशों के कुछ बाद के राजाओं का विस्तृत वृत्तांत मिलता है। वे इन संप्रदायों के मानने वाले थे। दो महत्वपूर्ण महायान-ग्रंथ भी मिलते हैं— संग ह्यंग कमहयनन मंत्रनय और संग ह्यंग कमहयनिकन। ये दोनों जावा में महायानवाद के प्रमुख सिद्धांतों की पूरी जानकारी देते हैं।

सुमात्रा और जावा के अलावा, मलयेशिया के अन्य द्वीपों में भी, विशेषतः बाली और बोर्नियो में बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ था, इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण धर्म फिर भी अधिक प्रबल था और बौद्ध धर्म धीरे-धीरे इन प्रदेशों से लुप्त हो गया।

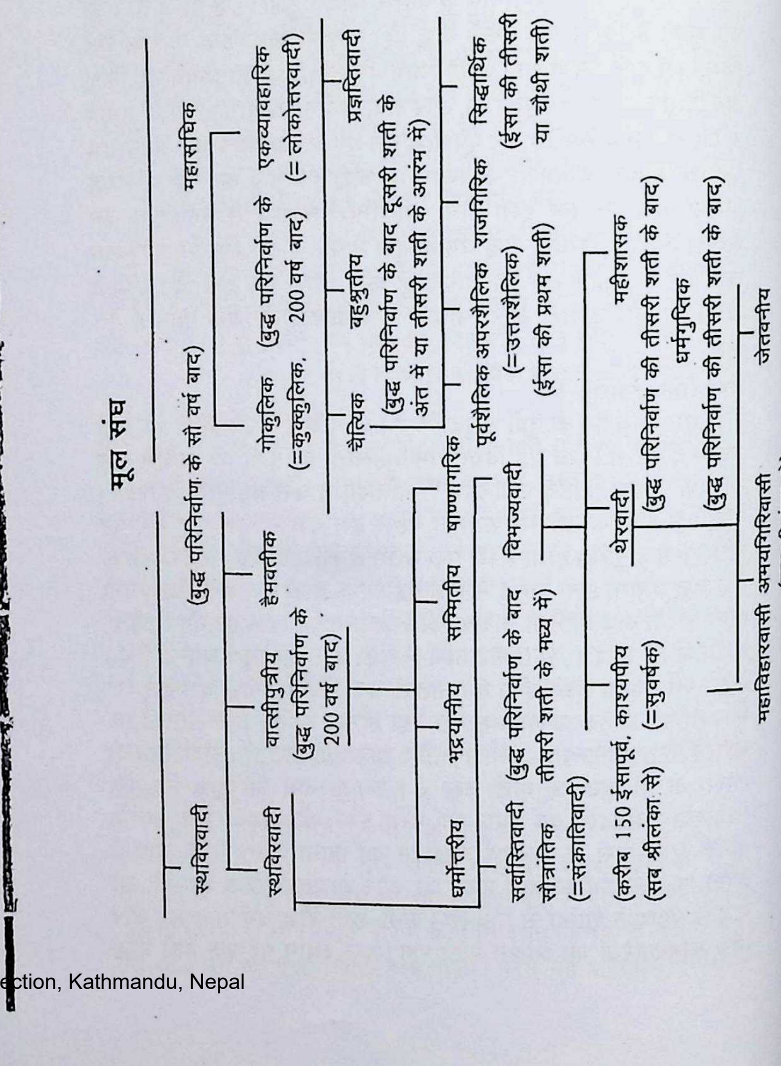

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म की प्रधान शाखाएं और संप्रदाय

भारत

ऐसा लगता है कि बुद्ध के जीवन काल में ही ऐसे लोग थे जो उसके अधिकार को नहीं मानते थे। बुद्ध के भतीजे देवदत्त ने, ईर्ष्यावश राजा अजातशत्रु से दुरभिसंधि करके कई बार बुद्ध को मारने के यत्न किए। उसने बौद्ध संघ में फूट डालने का भी यत्न किया। उसने कहा कि बौद्ध भिक्षुओं को अधिक कड़े नियमों का पालन करना चाहिए। बारहों महीने पेड़ों के नीचे रहना चाहिए, मांस और मत्स्य वर्जित होना चाहिए, और श्रद्धालुओं के घर निमंत्रण पाने पर भी नहीं जाना चाहिए। ऐसे भी भिक्षु थे—जैसे उपनंद, छन्न, मेत्तिय-भुम्मजक, अथवा षड्वर्गीय (पालि छब्बग्गिय) जो विनय के नियमों को तोड़ने में सुख मानते थे। इसके अलावा कुछ लोगों में ऐसी विकृत आदत होती है कि जहां कोई नियम बना, वे उसका विरोध करते हैं। कुछ लोग आराम और सुख का जीवन बिताना चाहते हैं और इस कारण से वैयक्तिक स्वच्छंदता पर किसी भी प्रकार के बंधन लगाने वाले नियमों की ओर वे ध्यान नहीं देते। उदाहरणार्थ, सुभद्र ने ज्यों ही बुद्ध की मृत्यु के समाचार सुने, उसने आराम की सांस ली और कहा कि अब उसे बार-बार ये आज्ञाएं न सुननी होंगी कि 'अमुक बात करो। अमुक बात न करो।'

तिब्बत से प्राप्त वैरोचन बुद्ध की प्रतिमा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बोधिसत्व

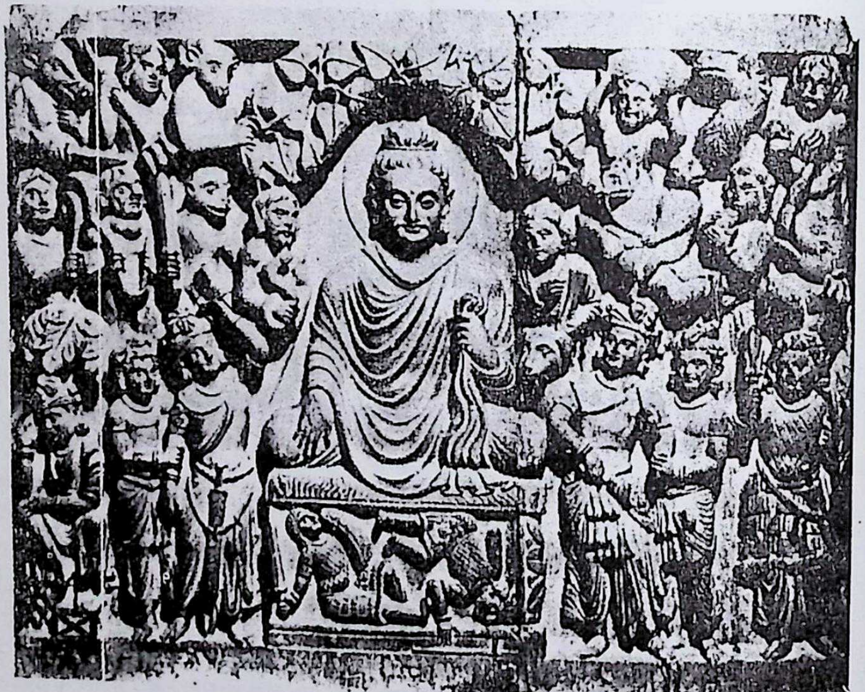

भगवान बुद्ध की मार-विजय का एक दृश्य (गांधार शैली)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

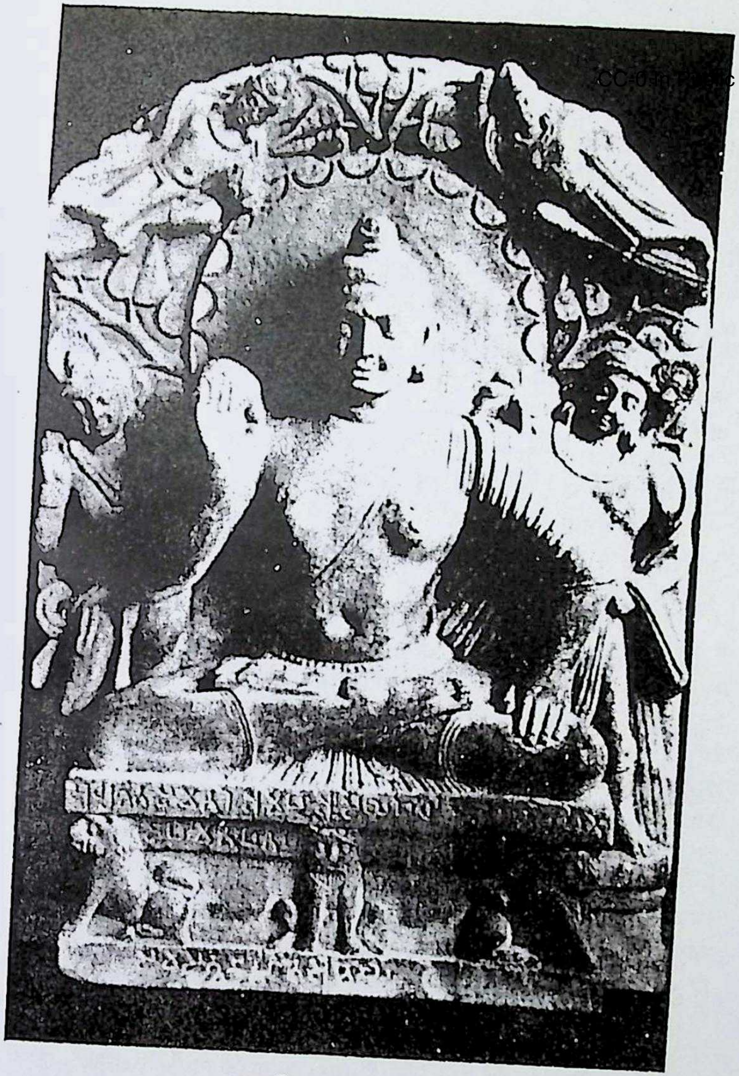

ध्यानावस्थित बुद्ध (मथुरा शैली)

बुद्ध की मृत्यु के बाद किसी को भी बुद्ध के समान सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नहीं थे। वस्तुतः उन्होंने अपने व्यक्तिगत सेवक आनंद से कहा कि धर्म और विनय भविष्य में प्रधान सत्ताएं होंगी। ऐसे सभी वचनों को जो विद्वान भिक्षु या संघ या स्वयं बुद्ध ने कहे, उन्हें बुद्ध के सुत्तों में ग्रथित वचनों से और विनय से मिलाकर देखना होगा।

जब राजगृह में पांच सौ भिक्षुओं ने महाकाश्यप के सभापतित्व में बौद्ध ग्रंथों की प्रथम संगीति बुलाई, तब पुराण जैसे, या तिब्बती प्रमाण के अनुसार, गवांपति जैसे लोग थे, जिन्होंने उन्हें नहीं माना। क्योंकि उनका कहना था कि जो कुछ ग्रथित किया गया, वह मूलतः बुद्ध ने जो कुछ कहा और जिसे उन्होंने सुना था, उससे भिन्न था। ये विभिन्न पंथ या संप्रदाय शायद इसलिए चल पड़े कि कुछ व्यक्तियों या गुटों के प्रति व्यक्तिगत लगाव से कुछ सामान्य हित-संबंध बन गए हों, या सहवास, अध्ययन, भौगोलिक प्रदेश आदि के कारण कुछ गुट बन गए हों या कदाचित ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों सचमुच में, प्रामाणिक मतभेद और दृढ़तर हो गए हों।

बुद्ध के वचन और उन पर भाष्य मौलिक गुरु-शिष्य परंपरा से चलते रहे। महापरिनिब्बान सुत्त में गुरु को भय था कि उनके उपदेशों का विकृतीकरण न हो और इसलिए उन्होंने चार पद्धतियां बताईं कि जिनके आधार पर उनके सूत्र सही हैं या नहीं, यह परखा जाता था। एक शतक बहुत लंबा समय होता है और बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष बाद भिक्षुओं में यह मतभेद पैदा हुआ कि स्वयं बुद्ध ने क्या कहा था? उसका भाष्य क्या था? एक बार भिक्षुओं ने संघ तक यह मतभेद लाने की स्वतंत्रता ली, और उसके पश्चात् बुद्ध निर्वाण के बाद दूसरी व तीसरी शती में वे संप्रदाय अट्ठारह तक पहुंचे। वैशाली के वज्जियों ने पहला मतभेद शुरू किया। विनय (चुल्लवग्ग) में और सिंहली वृत्तांतों में लिखा गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शती बाद वैशाली में दूसरी संगीति बुलाई गई, वज्जी भिक्षुओं की 'दस वत्थूनि' का विचार करने के लिए।

वसुमित्र तथ अन्य लेखकों के तिब्बती और चीनी अनुवादों से और ही दूसरा वृत्तांत मिलता है। उनके अनुसार यह संघ या संगीति बुलाने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का कारण था महादेव के पांच सिद्धांतों के प्रति भिक्षुओं में मतभेद।

महादेव मथुरा के एक ब्राह्मण का पुत्र था, और 'बड़ा ही पढ़ा-लिखा और विद्वान था।' पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम में वह दीक्षित हुआ और तब वह राजा द्वारा आरक्षित संघ का प्रधान बना। उसके पांच सिद्धांत थे:

1. अर्हत् अनजाने लोभ के कारण पाप कर सकता है।
2. कोइ अर्हत् ऐसा भी हो सकता है, जिसे अपने अर्हत्पन का पता न चले।
3. अर्हत् को सिद्धांत के मामले में संदेह हो सकते हैं।
4. गुरु के बिना अर्हत्पन तक नहीं पहुंचा जा सकता।
5. अट्ठमग्ग का पाठ गंभीरतापूर्वक सद्धर्म का विचार करते हुए दुख और आश्चर्य के संबोधन से शुरू होकर उसी से अंत हो।

दूसरी संगीति क्यों बुलाई गई थी, इसके बारे में अलग-अलग परंपराएं हैं। सभी वृत्तांतों में एक बात का उल्लेख स्पष्ट है कि बुद्ध के परिनिर्वाण की एक शताब्दी बाद मतभेद शुरू हुए। ये मतभेद कट्टर भिक्षुओं के द्वारा व्यवहृत बहुत कठोर नियमों को शिथिल करने और उनकी औरों के द्वारा अवहेलना के कारण शुरू हुए। जो भिक्षु नियमों से बाहर चलते थे, वे बाद में महासंघिक कहलाए, और कट्टर पुराणपंथी भिक्षु थेरवादी (स्थविरवादी) कहलाए। यह अधिकतर 'पुराणपंथी और उदारमतवादी उच्च-श्रेणीय और लोकतंत्रात्मक विचारधारा' के बीच मतभेद था। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संगीति या बौद्ध-परिषद से नई विचारधाराएं विकसित हुईं।

बौद्ध-परिषद का निर्णय पुराणपंथी भिक्षुओं के पक्ष में था। वज्जियों ने अधिकांश भिक्षुओं का निर्णय नहीं माना और उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि संगीति एकदम बंद हो गई और जिसका बहुत दिनों से भय था, वही फूट पैदा हो गई। संघ की एकता पर उससे बहुत आघात पहुंचा। जो भिक्षु कट्टरपंथियों के मत नहीं मानते थे, उन्होंने दूसरी संगीति बुलाई, जिसमें दस हजार भिक्षुओं ने भाग

लिया। सचमुच में वह एक महासंगीति थी। इसी कारण से वे लोग महासंघिक कहलाए। एस० बील ने लिखा है कि 'चूंकि इस परिषद में सर्वसाधारण जन और पावन व्यक्तियों ने भाग लिया था। अतः इसे महासंगीति कहा जाता है।' सब भाग लेने वालों ने संगीति के नियमों का पालन स्वीकार किया। उनका विश्वास था कि उनके निर्णय महान गुरु की शिक्षा से मिलते-जुलते हुए थे, और वे थेरवादियों से भी अधिक कट्टर थे। संघ में सबसे पहली फूट यों शुरू हुई। प्राचीन बुद्ध-संघ के दो निकाय बने—थेरवादी और महासंघिक। यह खाई बढ़ती गई और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन्हीं में से और कई शाखाएं अस्तित्व में आईं।

इन विविध शाखाओं की सरणि के इतिहास में यह देखा गया कि संघ में पहली फूट के बाद कई और खंड तथा विभाग होते गए, उपशाखाएं बनती गईं। समय के अनुसार थेरवाद में से ग्यारह और महासंघिक में से सात और शाखाएं निकलीं। यह सब एक के बाद एक बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन-चार सौ वर्षों के भीतर हुआ।

कई अधिकृत स्रोतों से—थेरवादी, साम्मितीय, महासंघिक परंपराओं से—और बाद में तिब्बती और चीनी अनुवादों से जाना जाता है कि इन विविध शाखाओं का आरंभ कैसे हुआ। यद्यपि इन पारस्परिक वर्णनों में एकसूत्रता नहीं है, फिर भी उन सबके आधार पर एक फ्रांसीसी विद्वान मस्यू आंद्रे बैरो ने कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले हैं, जो काफ़ी सही जान पड़ते हैं।

सभी विभिन्न मतवादों का विस्तार से वर्णन करना यहां संभव नहीं। अतः केवल कुछ महत्त्वपूर्ण शाखाओं का ही विचार यहां किया जाएगा :

स्थविरवादी अथवा थेरवादी

पालि साहित्य में बुद्ध का सबसे प्राचीन जो उपदेश मिलता है, वह थेरवादी शाखा का है। वही बौद्ध धर्म की सबसे पुरानी शाखा है। इस विचारधारा के अनुसार बुद्ध की प्रकृति मानवीय थी, यानी उनमें मानवीय कमजोरियां थीं। यद्यपि कभी-कभी उनमें अतिमानवीय गुण भी दिखाए

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गए हैं, उन्हें कुछ सूत्रों में देवातिदेव कहा गया है। फिर भी, उदाहरणार्थ चातुमा-सुत्त में, वे अपने साथियों और अनुयायियों से असंतुष्ट हैं, और कहते हैं कि वे मछुआहों की भांति अनुशासनहीन व्यवहार करते हैं, जोर - जोर से बोलते हैं। उनमें मानवीय कमजोरियां भी दिखाई गई हैं, जैसे कि जब वे कहते हैं कि "अब मेरी अस्सी वर्ष की आयु है, और मेरी पीठ में दर्द है"। (पिट्ठि मे आगिलायति)।

बुद्ध के उपदेश इस विचारधारा के अनुसार बहुत सरल हैं। वह कहते हैं : "सारे पापों से दूर रहो। सब अच्छी बातें जमा करो और मन को पवित्र करो।" ये बातें शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसरण से प्राप्त होंगी। इनका विवरणपूर्वक वर्णन किया गया है। शील अथवा सद्व्यवहार ही मानवीय जीवन में सारी प्रगति का मूलाधार है। साधारण गृहस्थ को हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक व्यसनों से बचना चाहिए। यदि वह भिक्षु हो जाए, तो उसे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। गृहस्थ के लिए आवश्यक सद्व्यवहार के चार बाकी नियम पालन करने चाहिएं, और उसे पुष्पमालाएं या अन्य किसी प्रकार के सौंदर्य-प्रसाधन का व्यवहार नहीं करना चाहिए। नरम गद्दे वाले आसन या बिस्तर उपयोग में नहीं लाने चाहिएं, सुवर्ण या चांदी का उपयोग नहीं करना चाहिए, न नाच देखना चाहिए, न संगीत के जलसे या अन्य असभ्य तमाशों में जाना चाहिए; दोपहर के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। कभी-कभी अच्छे व्यवहार का अर्थ लिया जाता है कि बुरे जीवन-व्यवहारों (दश अकुशल-कर्मपथ) से दूर रहना, उदाहरणार्थ, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निंदा, कठोर शब्द, अहंतापूर्ण वचन, लोभ, असूया, गलत दार्शनिक मत आदि। समाधि, अथवा मनन, ध्यान की चालीस वस्तुओं में से एक या दूसरे से प्राप्त की जा सकती है। मनन का उद्देश्य मन को पूर्णतः संतुलित रखना है, जिससे एक ही समय में एक साथ चार आर्य-सत्य की प्रज्ञा हो सकती है, और प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम का भी ज्ञान पाया जा सकता है। उसके अनुसार इस जीवन का पूर्व जीवन से और उत्तर जीवन से संबंध प्रस्थापित किया जा सकता है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आकार देता है, और सारा विश्व उससे बंधा है। अतः

कर्म एक तेजी से चलते हुए रथ की धुरी है।

इस विचारधारा का दर्शन भी बहुत सरल है। सारे ऐहिक वस्तु-जात अनित्य हैं, दुख से भरे हैं और निःसार हैं। सभी चीजें नाम और रूप से बनी हुई हैं। आगे उन्हें इस प्रकार वर्णित किया गया है कि उनके पांच स्कंध हैं, रूप नामक भौतिक गुण और चार अ-भौतिक गुण—वेदना, सञ्ञा (संज्ञा), संखार (संस्कार) और विञ्ञान (विज्ञान)। इनके और बारह 'आयतनानि' नामक हिस्से किए गए हैं, जो इंद्रिय-संवेदना के विषय हैं, और अट्ठारह धातु माने गए हैं। पहले हिस्सों में छः ज्ञानेंद्रियां—आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन (जो कि बौद्ध दृष्टिकोण से एक इंद्रिय है) हैं, और उनके द्वारा संवेद्य विषय हैं, उदाहरणार्थ भौतिक पदार्थ, ध्वनियां, गंध, स्वाद, स्पर्श, और धर्मायतन यानी केवल मन से संवेद्य वस्तुएं। बाद के विभाजन में, छः चेतनाएं थीं, जो बारह आयतनों में जोड़ दी गईं और इस प्रकार से अट्ठारह धातु बन जाते हैं। इस प्रकार से, बौद्ध धर्म के इस प्राचीनतम निकाय के अनुसार विश्व के घटकों का अनेकवादी स्वरूप है। यह संख्या दो से पांच, फिर बारह और अंततः 18 तक बढ़ती जाती है। यह संख्या जैसा कि हम आगे देखेंगे, अन्य निकायों में अट्ठारह से भी ज्यादा बढ़ गई है। पालि स्रोतों के अनुसार, पाटलिपुत्र की संगीति में, इस निकाय के सिद्धांत विभज्यवाद निकाय के सिद्धांतों के रूप में स्वीकृत कर लिए गए थे।

अभिधम्मट्ठ-संग्रह (इस निकाय के मनोवैज्ञानिक-नैतिक तत्वों के 8वीं से 12वीं शती के ग्रंथ) में अनुरुद्धाचार्य नामक लेखक ने चार अंतिम विभाग दिए हैं—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण। चित्त के 89 विभिन्न विभाग दिए गए हैं (एक अन्य विभाजन के अनुसार 125 विभाग हैं), चैतसिक के 52, रूप के 28। निर्वाण वह सुखमय स्थिति है, जहां वासना, विद्वेष, भ्रम आदि से हम मुक्त हो जाते हैं; वस्तुतः यह एक वर्णनातीत अवस्था है।

जब एक व्यक्ति वस्तुओं का सही रूप जान लेता है, तब वह यह सांसारिक जीवन छोड़ने का यत्न करता है, चूंकि ऐसे जीवन में कोई तत्व शेष नहीं रहता। वह इंद्रिय-सुखों में अधिक रस लेना और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्म-पीड़न—ये दोनों अतिवाद छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाता है, जिसे मध्यमा-प्रतिपत कहते हैं, और फिर दिव्य अट्ठमार्ग के अनुसार अपने जीवन को ढालता है। अट्ठमार्ग में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् निश्चय, सम्यक् शब्द, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीवन-पद्धति, सम्यक् यत्न, सम्यक् ध्यान, सम्यक् एकाग्रता आती है। वह यह अनुभव कर लेता है कि सांसारिक दुख तृष्णा के कारण हैं, और उसके लिए यह संभव है कि दिव्य अष्टांगमार्ग का अनुसरण करके वह इस दुख को समाप्त कर ले। उस निर्वाण की स्थिति में पहुंचकर वह अर्हत बन जाता है। इस निकाय के मानने वालों का आदर्श है अर्हत् का जीवन। ऐसे जीवन में (भविष्यत्) जन्म-सरणि समाप्त हो जाती है। पवित्र जीवन पूरी तरह पूर्ण हो जाता है, जिसमें जो कुछ किया जाना चाहिए, वह किया जा चुका होता है और फिर सांसारिक जीवन की ओर मुड़ना नहीं होता।

महीशासक

बहुत-से बौद्ध विद्वानों में इस पंथ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इसका कारण यह है कि इस शाखा के दो गुट थे, जो दो विभिन्न काल - खंडों में प्रसिद्ध हुए। पालि स्रोतों के अनुसार यह पंथ वज्जि पुत्तकों के साथ स्थविरवादियों से अलग हुआ और इसी में से सर्वास्तिवादी निकले, जबकि वसुमित्र यह कहता है कि यह पंथ सर्वास्तिवादियों से निकला था। सबसे पुराने महीशासक शायद पुराणों में मिलते हैं, जो, जैसे पहले लिखा जा चुका है, राजगृह की प्रथम संगीति के निश्चयों को अपनी स्वीकृति नहीं देना चाहते थे। यह विचारधारा, ऐसा लगता है कि, श्रीलंका तक फैली। जातककथा के आरंभिक श्लोक में यह कहा गया है कि उसके लेखक ने महीशासक परंपरा में जनमे हुए अपने एक मित्र बुद्धदेव के आग्रह पर वह लिखी। थेरवादियों की भांति, आरंभिक महीशासक भी एक साथ चारों सत्यों के ज्ञान में विश्वास करते थे। उनके लिए न गत था न आगत, केवल वर्तमान और नौ असंस्कृत धर्म मात्र थे। ये नौ असंस्कृत धर्म थे—(1) प्रतिसंख्या निरोध, ज्ञान द्वारा समाप्त करना; (2) अप्रतिसंख्या निरोध, अज्ञान द्वारा समाप्त करना, अर्थात

कारणों का स्वाभाविक रूप से समाप्त होना; (3) आकाश; (4) आनेञ्जता, स्थिरता (5) कुशल-धर्म-तथता; (6) अकुशल- धर्म-तथता और; (7) अव्यकृतधर्म-तथता; (8) मार्गांग-तथता और; (9) प्रतीत्य-समुत्पाद-तथता। इसमें से अंतिम महासंघिकों की सूची में भी है।

थेरवादियों की ही तरह महीशासकों का विश्वास था कि अर्हत् पीछे लौटकर नहीं आते। साथ ही उनका विश्वास था कि स्रोतापन्न या पहली मंजिल वाले, शायद इस तरह से लौट आते हैं। कोई देव पवित्र जीवन नहीं बिता सकता था। और न अपधर्मी को कोई चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त हो सकती थी। अंतरा-भव या इस जन्म और अगले जन्म के बीच में कोई स्थिति नहीं होती थी। संघ में बुद्ध भी शामिल है, और इस कारण से पहले को जो दान दिया जाए, वह केवल बुद्ध को दिए जाने वाले दानों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। दिव्य अट्ठमग्ग में से सम्यक् वाक्, सम्यक् क्रिया, सम्यक् जीवन-पद्धति सच्चे तत्व नहीं हैं, चूंकि वे मानसिक दशाएं नहीं हैं। दिव्य मार्ग से उन्हें निकाल दिया जाए।

यह एक मनोरंजक बात है कि बाद के महीशासकों ने इस पंथ के पहले मानने वालों से भिन्न और विरोधी मत भी रखे। सर्वास्तिवादियों की भांति इनका भी गत, आगत और अंतरा-भव में विश्वास था, और ये मानते थे कि स्कंध, आयतन और धातु बीजों के रूप में बसते हैं।

सर्वास्तिवादी

जिन बौद्ध पंथों ने संस्कृत भाषा का प्रयोग अपने ग्रंथों के लिए किया, उनमें सर्वास्तिवादी स्थविरवादियों के निकटतम हैं। भारत में स्थविरवादियों के ह्रास के साथ, इस पंथ को महायान का विरोध करना पड़ा। अभिधम्म-कोश के प्रणेता आचार्य वसुबंधु इस मत के बड़े मानने वाले थे। बाद में अपने बंधु असंग के प्रभाव से वे महायानवादी बने। यह पंथ भारत में पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत (अब पाकिस्तान) में फूला-फला। कनिष्क (ईसा की प्रथम शती) इस पंथ के बड़े आश्रयदाता थे। उन्हीं के राज्यकाल में एक संगीति बुलाई गई, जो बौद्ध धर्म के इतिहास में प्रसिद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो चुकी है। यह कहा जाता है कि इस संगीति में, जो वसुमित्र के निर्देश में बुलाई गई, सूत्र के विनय और अभिधम्म के बौद्ध पाठ तांबे के पत्रों पर खोदे गए और एक स्तूप के भीतर रखे गए। परंतु वे ताम्रपत्र आज तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

इस पंथ का यह विश्वास कि 'सर्वम् अस्ति', सब चीजों का अस्तित्व है, संयुत्त-निकाय के समय तक चला आता था। उसमें यह सूत्र हैः 'सब्बम् अत्थि'। इसी विश्वास के कारण इस पंथ का नाम सर्वास्तिवाद रखा गया। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादी भी बौद्ध धर्म के वास्तववादी या यथार्थवादी हैं। वे विश्वास करते थे कि वस्तुएं वर्तमान में ही अस्तित्व में नहीं रहतीं, परंतु गत और अनागत में भी रहती हैं। गत और अनागत वर्तमान की परंपरा में ही होते हैं। वात्सीपुत्रीयों के समान, साम्मितिय और कुछ महासंघिक अर्हतों के प्रभुत्व के विरोध में विद्रोह करते रहे। अर्हतों को स्थविरवादियों में बहुत अद्वितीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। उनका विश्वास था कि अर्हत् का पतन या वापस लौटना हो सकता है। जब कि विचित्र बात यह थी कि साथ ही साथ वे यह भी विश्वास करते थे कि स्रोतापन्न या पहली मंजिल वाला व्यक्ति लौटकर नहीं आ सकता। उन्होंने यह भी कहा कि मन से एक निरंतर संज्ञा-प्रवाह बहता रहे तो उससे मन की समाधि प्राप्त होती है। यह पंथ, स्थविरवादियों की भांति बुद्ध की मानवोपरि शक्तियों को नहीं मानता था। महासंघिक मानते थे कि बुद्ध और बोधिसत्व में ऐसी शक्ति है। उनकी श्रद्धा थी कि देवताओं के लिए पवित्र जीवन संभव है और अविश्वासी लोगों में भी मानवोपरि शक्ति हो सकती है। वे अंतरा-भव अथवा इस जीवन और अगले जीवन के बीच अस्तित्व में विश्वास करते थे। वे यह भी मानते थे कि बोधिसत्व पृथक्-जन थे और अर्हत् भी अपने पुराने कर्मों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे, और उन्हें कुछ न कुछ सीखना शेष था।

वे नैरात्म्य में विश्वास करते थे। व्यक्ति में किसी भी स्थिर तत्त्व को वे नहीं मानते थे, यद्यपि सभी वस्तुओं की स्थायी वास्तविकता वे मानते थे। स्थविरवादियों की भांति वे विश्व में तत्त्वों की अनेकता में विश्वास

करते थे। उनके अनुसार ये तत्त्व 75 थे। इनमें से 72 संस्कृत थे और 3 असंस्कृत। ये तीन थे—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध। 72 संस्कृत धर्मों को चार खंडों में विभाजित किया गया था। रूप 11 प्रकार का, जिसमें एक अविज्ञप्ति-रूप भी था; चित्त—46 चित्त संप्रयुक्त धर्म थे और 14 धर्म चित्तविप्रयुक्त थे; अंतिम था एक नवीन प्रकार के तत्त्वों का वर्ग, जो न तो मानसिक कहे जा सकते थे, न भौतिक। फिर भी मानसिक या भौतिक आधार के बिना वे सक्रिय नहीं हो सकते थे। ये 75 तत्त्व कारण-सरणि से बंधे हुए थे, उनमें से छः हेतु थे और चार प्रत्यय। कुछ लोगों के अनुसार इस पंथ के मानने वाले हेतुवादी कहलाते थे।

हैमवत

इस नाम से ही स्पष्ट है कि हिमालय प्रदेश में कहीं इस मत का आरंभ हुआ। अट्ठारह निकायों पर अपनी पुस्तक में वसुमित्र कहते हैं कि हैमवत स्थविरवादियों के वंशज थे, किंतु भव्य और विनीतिदेव इसे महासंघिकों की ही एक शाखा मानते हैं। स्थविरवादियों की भांति हैमवतों का विश्वास था कि बोधिसत्वों का कोई विशेष स्थान नहीं था, परंतु उनके विरुद्ध वे कहते थे कि देवता ब्रह्मचर्य का पवित्र जीवन नहीं बिता सकते थे और अश्रद्धालु लोगों में चमत्कारिक शक्ति नहीं हो सकती थी।

वात्सीपुत्रीय

इन्हीं के साथ साम्मितिय उपशाखा भी जोड़ी जाती है। इन्हें बौद्ध मतवादियों में अलग से चीन्हा जा सकता है, क्योंकि ये पुद्गल सिद्धांत में विश्वास करते थे। पुद्गल व्यक्ति का स्थिर-तत्त्व है। इस पंथ ने वे सब सूत्र खोज निकाले, जिनमें पुद्गल शब्द था, और इन्होंने यह मान लिया कि ऐसे पुद्गल के बिना पुनर्जन्म संभव नहीं था। अभिधम्मकोश में वसुबंधु ने पुस्तक के अंत में एक विशेष अध्याय में, इस दृष्टिकोण का विरोध करने का यत्न किया। वात्सीपुत्रीयों के अनुसार पुद्गल न स्कंधों के समान था, न उनसे भिन्न था। स्थविरवादियों की तरह वे इसमें

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विश्वास करते थे कि अर्हत् का पतन हो सकता है और अविश्वासी भी चमत्कार दिखला सकते हैं। इसके उप पंथ के साम्मित्तियों के अनुसार देवता पवित्र जीवन नहीं बिता सकते। ये अंतरा-भव में भी विश्वास करते थे, और अभिधम्म के मानने वालों की तरह से सौत्रांतिकों की प्रथम और दूसरी तंद्रा के बीच की अवस्था में विश्वास करते थे। उस अवस्था में वितर्क का लोप हो जाता है, और विचार बना रहता है। महीशासकों के अनुसार उनका विश्वास दिव्यपंथ के पांच तत्वों में था। यह भी कहा जाता है कि हर्ष के राज्यकाल में उसकी बहन राज्यश्री ने इस पंथ को राजाश्रय दिया। इस मत के मानने वाले कभी अवंतिक कहलाते थे, चूंकि वे अवंती के निवासी थे।

धर्मगुप्तिक

धर्मगुप्तिक महीशासकों से टूटकर अलग हो गए थे। अलग होने का कारण बुद्ध और संघ को जो भेंट चढ़ाई जाए, उसके बारे में मतभेद था। इस मत के अनुसार बुद्ध को भेंट चढ़ाना और स्तूपों की श्रद्धा करना प्रधान धर्म था। उनके विनय के नियमों से यह स्पष्ट है। महासंघिकों की तरह वे भी विश्वास करते थे कि अर्हत् पाप वासनाओं से मुक्त था और नास्तिक और अविश्वासी अतिमानुषी या चमत्कार करने की शक्ति नहीं पा सकते थे।

यह मत मध्येशिया और चीन में लोकप्रिय बना। इसका अपना सूत्र, विनय और अभिधम्म साहित्य था। इसके विशिष्ट प्रतिमोक्ष के नियम चीन के मठों में पालन किए जाते थे।

काश्यपीय

काश्यपीय सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्तिकों से कई गौण बातों में भिन्न थे, और स्थविरवादियों के निकट थे। इसीलिए उन्हें स्थावरीय भी कहते हैं। तिब्बती स्रोतों के अनुसार वे सुवर्षक कहलाते हैं। काश्यपीयों का विश्वास था कि वह गत जिसका फल मिल चुका, वह समाप्त हो चुका है, परंतु वह जो अभी पका नहीं है, वह अभी जी रहा है। सर्वास्तिवादियों के मत में यों कुछ सुधार हुआ। वे तो गत को वर्तमान की भांति जीवित

मानते थे। काश्यपीयों के लिए कहा जाता है कि उन्होंने सर्वास्तिवादी और विभज्यवादियों के बीच में समन्वय किया, और उनका अपना एक त्रिपिटक भी है।

सौत्रांतिक या सांक्रांतिक

पालि स्रोतों के अनुसार सांक्रांतिक शाखा काश्यपीय से निकली है और सौत्रांतिक सांक्रांतिक से, जब कि वसुमित्र के अनुसार दोनों एक-से हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह पंथ संक्रांति में विश्वास करता था। इसका अर्थ था वस्तुएं एक जन्म से दूसरे जन्म में रूप बदलती हैं। उसके अनुयायियों के अनुसार, एक व्यक्ति के पांच स्कंधों में से एक सूक्ष्म स्कंध ऐसा है जो कि जन्मांतरित होता है। समूचा पुद्गल स्थानांतरित नहीं होता, जैसा कि साम्मित्तिय मानते थे। काश्यपीय शाखा के अनुसार यह सूक्ष्म स्कंध ही सच्चा पुद्गल है। पुद्गल भी वही सूक्ष्म चेतना है जो सारे शरीर में व्यापी रहती है। महासंघिकों का यह मत है, और यह योगाचारियों के आलय-विज्ञान से मिलता-जुलता है। यह भी संभव है कि इस शाखा ने यह सूक्ष्म चेतना का सिद्धांत महासंघिकों से लिया और उसे योगाचार पंथ को दे दिया। उसका इस बात में भी विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर बुद्ध बनने की संभावनाएं हैं—यह सिद्धांत महायान का था। ऐसे मतों के कारण यह मत श्रावकयान (जिसे कि सही अर्थ में नहीं, परंतु अक्सर हीनयान कहा जाता है) और महायान के बीच दोनों को मिलाने वाले पुल की तरह माना जाता है।

महासंघिक

यह सर्वसामान्यतः माना जाता है कि महासंघिक महायान के पहले बीज बोने वाले थे, और इस प्रकार से उसके आरंभकर्त्ता थे। उन्होंने इस नए मतवाद का पक्ष बड़े उत्साह से और उमंग से अपनाया, और कुछ दशाब्दियों के भीतर ही शक्ति और लोकप्रियता की दृष्टि से यह पंथ बहुत विकसित हुआ। विनय के तत्कालीन प्रचलित नियमों को उन्होंने अपने सिद्धांतों पर घटित किया, और नए नियम भी बनाए। इस प्रकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

से बौद्ध धर्म और संघ में उन्होंने पूरी तरह से क्रांति कर दी। साथ ही उन्होंने सूत्रों के और विनयपाठ के अर्थ और काव्य में परिवर्तन घटित किए। उन्होंने कई ऐसे सूत्रों को ग्रथित किया और नियमबद्ध बनाया, जो कि बुद्ध के वचन माने जाते थे। उन्होंने बहुत-से सूत्रपाठ अस्वीकृत कर दिए, यद्यपि वे प्रथम संगीति में मान लिये गए थे। उन्होंने यह भी कहा कि सूत्र बुद्ध के वचन नहीं हैं, यथा परिवार, अभिधम्म, पटिसंभिदा, निद्देस और जातकों के कुछ भाग। परिवार विनय का ही एक परिशिष्ट था और शायद किसी सिंहली भिक्षु की रचना है। अभिधम्म तीसरी संगीति में संकलित हुआ। यह संगीति राजा अशोक के समय हुई थी। पटिसंभिदा, निद्देस और जातकों के कुछ भाग आज भी बुद्ध-वचन नहीं माने जाते। अधिकारी विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि ये धर्मसूत्र माने जाएं अथवा नहीं, क्योंकि ये सूत्र बाद के काल की रचनाएं लगती हैं। ये सब पाठ बाद में जोड़े गए हैं और महासंघिकों के सूत्रसंग्रह में ये नहीं हैं। इस प्रकार से धम्म और विनय के सूत्रपाठ उन्होंने नए सिरे से विकसित किए, और महाकस्सप की संगीति में जो अस्वीकृत पाठ थे, वे भी उसमें जोड़े। इस प्रकार से धर्मसूत्रों में एक दुहरा विभाजन उठ खड़ा हुआ। महासंघिकों का संकलन आचारिकवाद कहलाया। थेरवाद से इसे भिन्न करने के लिए यह नाम दिया गया।

युआन्-च्वांग ने लिखा है कि महासंघिकों का अपना धर्मसूत्रपाठ था, जिसे उन्होंने पांच हिस्सों में विभाजित कर दिया था। वे हिस्से थे—सूत्र, विनय, अभिधर्म, धारणी और इतर। महासंघिकों का विनय, युआन्-च्वांग के अनुसार वही था जो महाकस्सप-संगीति में संकलित किया गया था। वह लिखता है कि दक्षिण में धनकटक में उसने अभिधम्म दो भिक्षुओं से सीखा। वह अपने साथ भारत से वापस चीन में 657 संस्कृत ग्रंथ ले गया और उसने चीनी सम्राट के आदेश से उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनमें पंद्रह सूत्र, विनय और अभिधर्म पर महासंघिक ग्रंथ थे। उससे भी पहले फाहियान महासंघिकों के संपूर्ण विनय का चीनी लिप्यंतर पाटलिपुत्र से ले गए थे। नांजियो की सूची से दो महासंघिक विनयग्रंथों का पता लगता है—भिक्षु विनय और भिक्षुणी

विनय—जो अब चीनी भाषा में ही बाकी हैं। महासंघिक पंथ के मूल ग्रंथों में से अब हमें कोई मिलता है तो केवल महावस्तु अथवा महावस्तु-अवदान है। महासंघिक शाखा के लोकोत्तरवादियों के विनयपिटक का यह प्रथम ग्रंथ है। उसके अनुसार, बुद्ध लोकोत्तर हैं और वे केवल बाह्यतः ऐहिक जीवन से संबद्ध हैं। बुद्ध के इस रूप का महायान दर्शन के विकास में बड़ा योग रहा है। महावस्तु का मुख्य विषय है बुद्ध की जीवनी और उसी में संघ की स्थापना और प्रथम धर्मांतरों का इतिहास दिया हुआ है। वह अंशतः संस्कृत में और अंशतः प्राकृत में, अथवा एक प्रकार की मिश्रित भाषा में, जो संस्कृत से मिलती-जुलती है, लिखा गया है। यह ग्रंथ संभवतः ईसा पूर्व दूसरी शती और ईसा की चौथी शती में रचा गया।

उत्कीर्णलेखों से भी प्रमाण मिलते हैं कि महासंघिक-सूत्र अवश्य रहे होंगे। उदाहरणार्थ, अमरावती के उत्कीर्णलेखों में, विनय-धर, महाविनय-धर और संयुक्त भाणक जैसे शब्द आते हैं और ये सब भिक्खुओं और भिक्खुणिओं के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। इसी प्रकार से नागार्जुनकोंडा के उत्कीर्णलेख में ये शब्द आते हैं: दीघ-मज्झिम-पंचमातुक-ओसक-वाचकानम्, दीघ-मज्झिम-निकाय-धरेण इत्यादि। इस सारे प्रमाण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महासंघिकों के धर्मसूत्र ईसा की प्रथम शती तक शायद अस्तित्व में रहे होंगे।

विनीतदेव (ईसा की आठवीं शती) के अनुसार, महासंघिकों का साहित्यिक माध्यम प्राकृत भाषा थी। बु-स्तोन् कहता है कि महासंघिकों के धर्मसूत्र प्राकृत में लिखे गए थे। झोमा कोरोस लिखता है कि महासंघिकों का 'निर्वाण-विषयी सूत्र' एक विकृत उपभाषा में लिखा गया था। महावस्तु की भाषा मिश्रित संस्कृत थी, यह पहले ही कहा जा चुका है। यह एक प्रकार की प्राकृत थी। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि इस पंथ का साहित्य प्राकृत में था।

बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती में महासंघिक पंथ की कई उपशाखाएं हो गईं—एकव्याहारिक (इसे एक व्यावहारिक भी कहते हैं), लोकोत्तरवाद, कुक्कुटिक (गोकुलिक), बहुश्रुतीय, और प्रज्ञप्तिवाद आदि। उसके कुछ समय बाद शैल पंथ चला। चैत्यक इसलिए कहलाते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

थे कि वे चैत्यों को मानते थे। दोनों ने महायान-पंथ के विकास में सहायता दी। शैलों का नाम इसलिए पड़ा कि उनके कार्यक्षेत्र के आसपास पर्वत थे। श्रीलंका की गाथाओं के अनुसार, वे आंध्र देश में इतने लोकप्रिय थे कि वे अंधक कहलाते थे। फिर भी पालि भाषा में लिखा है कि 'चेतिगवादी (चैत्यवादी) और अंधक दोनों ही कुछ सिद्धांतों के लिए प्रतीक रूप में प्रयोजित प्रादेशिक नाममात्र थे।' जिन शाखाओं में महासंघिकों का विभाजन हुआ था, उनमें चैत्यक और शैल प्रमुख थे और उनका दक्षिण में बड़ा प्रभाव था।

आरंभ में महासंघिक अधिक प्रगति नहीं कर सके, चूंकि कट्टर पुराणपंथी योगवादियों ने उनका बड़ा विरोध किया। उन्हें मगध में अपना सिक्का जमाए रखने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ा था, परंतु वे धीरे-धीरे- शक्तिशाली बनते गए और उनका बड़ा बलवान संघ बना। यह इस बात से सिद्ध होता है कि इस शाखा ने पाटलिपुत्र और वैशाली में अपने केंद्र स्थापित किए और उत्तर और दक्षिण में अपना जाल फैलाया। युआन्-च्वांग कहता है कि 'पाटलिपुत्र के बहुत-से छुटभैयों की बहुसंख्या ने महासंघिक शाखा बनाई।' इ-त्सिंग (671-695 ईसवी) भी लिखता है कि मगध (मध्यदेश) में उसे महासंघिक मिले, कुछ लाट में और सिंधु देश में, और कुछ उत्तरी, दक्षिणी और पूर्वी भारत में भी। मथुरा के सिंह-शीर्ष स्तंभ (120 ईसा पूर्व) पर जो शिलालेख है, उसके अनुसार एक बुधिल नामक आचार्य को कुछ अनुदान दिया गया था, जिससे कि वह महासंघिकों को शिक्षा दे। यह सबसे प्राचीनतम पुरालेख-साक्ष्य है कि महासंघिक अस्तित्व में थे। वरदकपात्र, जो अफगानिस्तान में पाया गया और जिसमें बुद्ध के धातु हैं, वह कमलगुल्य ने हुविष्क के राज्यकाल में महासंघिक भिक्षुओं को दिया था। अंदरह (अफगानिस्तान) में युआन्-च्वांग को तीन मठ या विहार मिले, जो इसी पंथ के थे। इससे सिद्ध होता है कि यह पंथ भारत के उत्तर-पश्चिम में भी लोकप्रिय था। महाराष्ट्र में कार्ले की गुफाओं में जो एक अभिलेख है, उसके अनुसार महासंघिक पंथ को एक गांव और नौ कमरों का प्रकोष्ठ अनुदान में दिया गया। यह स्पष्ट है कि महासंघिकों का कार्ले में केंद्र था और उनका

पश्चिम के लोगों पर प्रभाव था। फिर भी वे केवल मगध तक सीमित नहीं थे, परंतु भारत के उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशों में फैलते गए, और उनके अनुयायी सारे देश में बिखरे थे। फिर भी यह बात कि दक्षिण में इस पंथ की जो उपशाखाएं थीं, उनके बारे में सही नहीं है। अमरावती और नागार्जुनकोंडा के उत्कीर्णलेखों में हंघी (अयिर-हघाण), चैत्यिक (चेतियवादक), महावनसेलियान (अपर महावनसेलिय), पुवसेले, राजगिरि-निवासिका (राजशैल), सिद्धथिका, बहुश्रुतीय, और महीशासक उपशाखाओं का उल्लेख है। ये अधिकतर स्थानिक उपशाखाएं थीं। केवल अंतिम को छोड़कर शेष सब महासंघिक पंथ की उपशाखाएं थीं। अमरावती स्तूप बेजवाड़ा के पश्चिम में करीब 30 कि.मी. पर स्थित है। यह स्तूप ईसा पूर्व दूसरी शती में बनाया गया था, और बाहर का शिल्प-वेष्टन ईसा की दूसरी शती में और अंदर का शिल्प-वेष्टन ईसा की तीसरी शती में बनाया गया होगा, ऐसा अनुमान है। अमरावती के बाद नागार्जुनकोंडा दक्षिण भारत में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुनकोंडा के स्मारक बौद्ध धर्मानुयायी इक्ष्वाकु कुल की कुछ रानियों और राजपुत्रियों के दान से बने। ये स्मारक ईसा की तीसरी या चौथी शती के रहे होंगे। य़द्यपि महाचेतिय कदाचित और भी पहले का रहा होगा। नागार्जुनकोंडा के ये भवन महासंघिक पंथ के महत्त्वपूर्ण केंद्रों के नाते विख्यात हुए होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि महासंघिकों का कार्य उत्तर और दक्षिण दोनों ओर फैला था। फिर भी उनका दक्षिण में अधिक प्रभाव रहा होगा, विशेषतः गुंटूर और कृष्णा प्रदेशों में, जहां कि चैत्यक और शैल उपशाखाओं ने बहुत ही सफलता प्राप्त की। अंधक नाम से स्पष्ट है कि शैलों को आंध्र में बड़ी लोकप्रियता मिली होगी।

महासंघिक और उसकी सब उपशाखाओं के प्रमुख सिद्धांत कथावस्तु में, महावस्तु में, वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव की रचनाओं में ग्रथित हैं। बहुश्रुतीय और चैत्यक महासंघिक शाखा के बाद के अंकुर थे, और वे मूल महासंघिक से अपने मतों में कुछ-कुछ भिन्न थे।

महासंघिक, थेरवादियों की ही तरह से, बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धांत मानते थे, और इस मामले में वे एक दूसरे से भिन्न नहीं थे। ये मूल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्धांत थे—चार आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग, आत्मा का अनस्तित्व, कर्म-सिद्धांत, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत, 37 बोधि-पक्षीय धर्म और आध्यात्मिक विकास की क्रमिक स्थितियां। उनके अनुसार बुद्ध लोकोत्तर हैं, उनके शरीर, उनकी आयु और उनकी शक्तियां असीम हैं, वे न तो सोते हैं, न सपने लेते हैं। वे आत्म-स्थित हैं और सतत समाधि की अवस्था में होते हैं, वे नाम से उपदेश नहीं देते, वे एक क्षणिक-चित्त हैं। जब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं होता, इन बुद्धों को क्षय-ज्ञान होता है और अनुत्पाद-ज्ञान होता है। संक्षेप में, इन बुद्धों से संबद्ध सब कुछ मानवोपरि है। महासंघिकों की बुद्ध की इस कल्पना ने महायान की बाद की त्रिकाय विचारधारा के विकास में योग दिया। उनके अनुसार, बोधिसत्व ऐहिकोपरि हैं, और वे साधारण व्यक्तियों की चार गर्भस्थ स्थितियों में से नहीं गुजरते। वे सफेद हाथियों के रूप में अपनी माताओं की कोख में प्रवेश करते हैं और कोख से वे दाहिनी तरफ से जन्म लेते हैं। उन्हें कभी काम, व्यापाद, विहिंसा की भावनाओं का अनुभव नहीं होता। सभी सचेतन प्राणियों के लाभ के लिए वे अपनी मुक्त इच्छा से चाहे जिस किसी भी रूप में जन्म लेते हैं। इन सभी विचारों से बुद्धों और बोधिसत्वों को देवरूप मिला। महासंघिकों की एक शाखा, महादेव के मानने वाले, यह मानते हैं कि अर्हतों की भी अपनी कमजोरियां होती हैं, उन्हें भी और लोग सिखा सकते हैं, उनमें कुछ अज्ञान का अंश और संदेह का अंश होता है, और वे केवल दूसरों की सहायता से ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से, अर्हतावस्था पवित्रता की अंतिम अवस्था नहीं है।

महासंघिकों के कुछ अन्य विश्वास इस प्रकार के हैं:

(1) पांच विज्ञान, सराग और विराग दोनों प्रकार के होते हैं।

(2) रूपेंद्रिय केवल मांसल होते हैं। वे अपने आप में इंद्रियों के विज्ञान को नहीं पहचान सकते।

(3) प्रज्ञा के द्वारा दुख की पूर्ण समाप्ति और निर्वाण संभव है।

(4) स्रोतापन्न पीछे मुड़कर जा सकता है, परंतु अर्हत नहीं। वह अपना स्वभाव चित्त और चैतसिक धर्मों से जान सकता है। सब प्रकार के पाप कर सकता है, पंचानंतर्यानि छोड़कर। ये पांच महापाप हैं: मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, अर्हत् का वध, बुद्ध का रक्तपात और संघ में फूट डालना।

(5) कुछ भी अव्याकृत नहीं है। अर्थात् वस्तुओं का स्वभाव या तो अच्छा है या बुरा, क्योंकि वे अच्छी भी न हों और बुरी भी न हों, ऐसा नहीं हो सकता।

(6) मन का मूल स्वभाव पवित्र होता है, वह उपक्लेश और आगंतुकरजस से कलंकित होकर विकृत हो जाता है।

(महासंघिकों की यह विचारधारा योगाचार के विज्ञानवादी दर्शन की पूर्वपीठिका थी जिसमें कि आलय-विज्ञान विशुद्ध चेतना का भाव माना जाता है और जो भौतिक वस्तुओं द्वारा विकृत होकर अपवित्र बनता है।)

(7) मृत्यु के बाद और पुनर्जन्म से पूर्व जीव का कोई अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार से महासंघिक अन्य पंथों से बहुत भिन्न थे, सैद्धांतिक मामलों में और अनुशासन के नियमों में भी। इस विचारधारा के मानने वाले पीत चीवर पहनते थे, जिसका निचला हिस्सा बाईं ओर मजबूत खिंचा रहता था।

बहुश्रुतीय

अमरावती और नागार्जुनकोंडा के शिलालेखों में बहुश्रुतीय मत का उल्लेख है। वह महासंघिक की ही एक बाद की धारा थी। उसका आरंभ एक ऐसे आचार्य द्वारा हुआ जो बौद्ध धर्म के सूत्रों में बहुश्रुत था।

इन बहुश्रुतियों के मूल सिद्धांत ये थे: वे मानते थे कि बुद्ध के उपदेश अनित्यता, दुख, शून्य, अनात्मन् और निर्वाण से संबद्ध हैं। वे लोकोत्तर हैं, चूंकि उनसे मुक्ति मिलती है। उसके अन्य उपदेश लौकिक हैं। इस मामले में बहुश्रुतीय बाद में आने वाले महायान आचार्यों के पूर्व उद्घोषकर्त्ता थे। उनके अनुसार निर्वाणिक कोई विशेष साधन नहीं था। इसके अतिरिक्त संघ भौतिक नियमों को मानने वाला नहीं था। महादेव के पांच प्रमेयों को वे अपना ही मत मानते थे। कुछ सैद्धांतिक मामलों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

में शैल शाखाओं में और इनमें बहुत कुछ साम्य था, और अन्य मामलों में वे सर्वास्तिवादियों के निकट थे।

परमार्थ के अनुसार, इस उपशाखा ने बौद्ध धर्म की दो प्रमुख विचार धाराओं—श्रावकयान और महायान—को मिलाने का यत्न किया। हरिवर्मन् का सत्यसिद्धिशास्त्र इस मत का प्रथम सूत्र ग्रंथ है।

बहुश्रुतियों को 'कट्टर और महायान मत के बीच का पुल' माना जाता है, क्योंकि उन्होंने दोनों के उपदेशों को मिलाने का यत्न किया। हरिवर्मन् आत्म-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य में विश्वास करते थे। कट्टर विचारधाराओं के अनुयायियों की भांति वह विश्व की अनेक-रूपता में विश्वास करते थे, उनके अनुसार उसमें 84 तत्व थे। महायानवादियों की भांति, उनका विश्वास था कि दो प्रकार के सत्य हैं--संवृति और परमार्थ। उनका यह भी विश्वास था कि रूढ़ सत्य के दृष्टिकोण से आत्मा अथवा विश्व का 84 तत्वों में विभाजन तो अस्तित्व में था, परंतु परम सत्य के दृष्टिकोण से सर्वशून्य भी था। वे बुद्धकाय और धर्मकाय के सिद्धांतों में विश्वास करते थे। इसका स्पष्टीकरण वे यों देते थे कि शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन आदि से यह धर्मकाय बने हैं। यद्यपि बुद्ध के परम मानवोपरि स्वभाव में उनका विश्वास नहीं था, फिर भी बुद्ध की विशेष शक्तियों में उनका विश्वास था, जैसे दश बलानि और चार वैशारद्य आदि। इन्हें स्थविरवादी भी मानते थे। उनके मतानुसार, वर्तमान ही वास्तविक था, जबकि भूत और भविष्यत् का कोई अस्तित्व नही था।

चैत्यक

चैत्यवाद शाखा महादेव नामक उपदेशक से शुरू हुई, बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती के अंत में। इस महादेव को महासंघिकों के आरंभकर्त्ता महादेव से भिन्न मानना चाहिए। वह एक विद्वान और अध्यवसायी साधु था, जिसे महासंघिक संघ में दीक्षा मिली थी। वह महासंघिकों के पांच सिद्धांत मानता था और उसने एक नया संघ चलाया। चूंकि वह एक ऐसे पर्वत पर रहता था, जिस पर एक चैत्य था, इसलिए उसके अनुयायी चैत्यक कहलाए। साथ ही, यह नाम अमरावती और नागार्जुनकोंडा के शिलालेखों में भी उल्लिखित है। चैत्यवाद शैल मतो का मूल था।

सामान्यतः कहा जाए तो चैत्यक मूल महासंघिकों के आधारभूत सिद्धांतों को मानते थे, किंतु कुछ गौण बातों में उनसे भिन्न मत रखते थे। चैत्यक मत के कुछ विशेष सिद्धांत ये थे :

(1) चैत्यों के निर्माण, अलंकरण और पूजा से बड़ा पुण्य मिलता है, चैत्यों की प्रदक्षिणा भी पुण्यदायिनी होती है।

(2) चैत्यों को फूल, मालाएं, सुगंध आदि चढाना बहुत पुण्यप्रद होता है।

(3) उपहार चढ़ाने से धार्मिक पुण्य मिल सकता है। ऐसे पुण्य अपने मित्रों और परिवार-जनों को हम उनके सुखों के लिए दे सकते हैं—यह विचार आदिम बौद्ध धर्म के लिए अज्ञात था, परंतु महायानवाद में प्रचलित था। इन मान्यताओं ने बौद्ध धर्म को जन-साधारण में लोकप्रिय बनाया।

(4) बुद्ध आसक्ति, ईर्ष्या, द्वेष तथा भ्रांति से मुक्त हैं। वे जित-राग-दोस-मोह हैं और धातुवर-परिगहित हैं। वे अर्हतों से बढ़कर हैं, चूंकि उनके पास दस बल हैं।

(5) सम्यक्-दृष्टि वाला व्यक्ति द्वेषमुक्त नहीं हो सकता, और इस कारण से वह हत्या के पाप के खतरे से मुक्त नहीं होता।

(6) निर्वाण एक 'आगत धातु' अवस्था है।

इससे यह स्पष्ट होगा कि महासंघिक और उसकी उपशाखाओं के सिद्धांतों में वे बीज हैं, जिनसे बाद का महायान विकसित हुआ।

बुद्ध और बोधिसत्व को देवता-रूप देने वाला यह प्रथम मतवाद था, जिसका अंत में यह परिणाम हुआ कि महायान में बुद्ध और बोधिसत्व का संपूर्णतया दैवी रूप बन गया। इसी कारण से यह धर्म जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय हुआ। उनके संभोगकाय के सिद्धांत से त्रिकाय सिद्धांत बना, जो कि महायान के प्रमुख लक्षणों में से एक है। चैत्यों की पूजा और भेंट चढ़ाने का जो रिवाज महासंघिक पंथों ने चला दिया, उससे बौद्ध धर्म का यह जनप्रिय रूप विकसित हुआ। महासंघिक महायान आंदोलन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

के पूर्व-घोषक माने जा सकते हैं। उन्हीं के द्वारा बौद्ध धर्म अधिक से अधिक जनता को आकर्षित कर सका, अन्यथा वह ऐसा न कर पाता।

कथावत्थु पर लिखे भाष्य में कुछ और पंथों का उल्लेख है: राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, वाजिरिय, उत्तरापथक, वेतुल्लक और हेतुवादी। पहले चार अंधक नाम से पहचाने जाते हैं। वाजिरिय के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। उत्तरापथक उत्तर में और उत्तर-पश्चिमी देशों में था, वह अफगानिस्तान में भी था। उन्हें 'तथता' सिद्धांत का श्रेय दिया जाता है, जो कि महायानियों की विशेषता थी। इस मत का विश्वास था कि बुद्ध की विष्ठा भी सुगंधित थी। उनका विश्वास था कि मार्ग एक ही था, और कट्टरपंथों में जैसे माना जाता था, वैसे चार मार्ग नहीं थे, और जनसाधारण भी अर्हत् बन सकते थे। वेतुल्लक अथवा महाशून्यतावादियों का विश्वास था कि बुद्ध या संघ का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं था, परंतु वे दोनों केवल अरूप कल्पनाएं थीं। ऐसा कहते हैं कि उन्हें यह भी मत मान्य था कि केवल सहानुभूति या करुणा से प्रेरित शरीर संभोग उचित है। भिक्षु या भिक्षुणी, यति या साधुनियां भी ऐसा काम-संबंध रख सकती हैं। यह मत शायद तंत्रवाद से प्रभावित रहा हो। जैसे कि पहले ही कहा गया है, कुछ लोग हेतुवादियों को सर्वास्तिवादियों से मिलते-जुलते मानते हैं, जब कि कथावस्तु-भाष्य के अनुसार वे एक स्वतंत्र शाखा हैं। यह मत भी उनका माना जाता है कि दुनियादार या सांसारिक मनुष्यों को परम-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती, और एक व्यक्ति दूसरे को सुख दे सकता है।

ईसा की दूसरी और तीसरी शती के उत्कीर्णलेखों से पता चलता है कि निम्न निकाय अवश्य रहे होंगे : सर्वास्तिवादी, महासंघिक, चैत्यक, साम्मित्तिय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, महीशासक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, बहुश्रुतीय और काश्यपीय। ईसा की सातवीं शती में युआन्-च्वांग और इ-त्सिंग के प्रवास-वृत्तांतों से पता चलता है कि उस समय कई मठ और विहार थे, और कई बौद्ध संप्रदायों के मानने वाले उनमें रहते थे। इ-त्सिंग के वर्णन के अनुसार कुछ विशेष संप्रदायों के स्पष्ट उल्लेख हैं: एक तो श्रावकयान या कट्टर मत के मानने वाले और दूसरे सुधरे हुए मतों

को मानने वाले लोग भी थे। परंतु यह भी स्पष्ट है कि, सामान्यतः बौद्ध संघ दो प्रमुख गुटों में विभाजित था : पुराना कट्टरपंथी श्रावकयान और बाद का सुधरा हुआ महायान।

माध्यमिक

महायान बौद्ध धर्म दो विचारधाराओं में विभाजित है : माध्यमिक और योगाचार।

माध्यमिक मध्यमा-प्रतिपदा पर जोर देते थे। वाराणसी के प्रथम धर्मोपदेश में बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया। वह न तो आत्मपीड़न का मार्ग था और न इंद्रिय-सुख-विलास का। फिर भी, माध्यमिक पंथ के मानने वालों का मध्यम मार्ग वही नहीं था। यहां पर मध्यम मार्ग का अर्थ है अस्तित्व और अनस्तित्व, चिरंतनता और अचिरंतनता, आत्म और अनात्म आदि के विषय में दोनों ही मतों को न मानना। संक्षेप में, उसके अनुसार संसार न तो वास्तविक है, न अवास्तविक है, वरन् केवल एक सापेक्षता मात्र है। फिर भी, यह मानना चाहिए कि वाराणसी में जिस मध्यम मार्ग का प्रचार किया गया उसका एक नैतिक अर्थ था। माध्यमिकों के विचार अध्यात्म शास्त्र-विषयक अधिक हैं।

माध्यमिक मत आचार्य नागार्जुन अथवा आर्य नागार्जुन ने शुरू किया। इनका समय ईसा की दूसरी शती था। उनके बाद कई माध्यमिक विचारकों की एक जगमगाती नक्षत्रमालिका आती है, उदाहरणार्थ, आर्यदेव (ईसा की तीसरी शती), बुद्धपालित (ईसा की पांचवीं शती), भावविवेक (ईसा की पांचवीं शती), चंद्रकीर्ति (ईसा की छठी शती) और शांतिदेव (ईसा की सातवीं शती)। नागार्जुन ने कई ग्रंथ लिखे। इनमें माध्यमिक-कारिका उनका सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसमें माध्यमिक मतवाद का दर्शन व्यवस्थित रूप से सन्निहित है। इसमें यह कहा गया है कि शून्यता ही परम है। संसार और निर्वाण या शून्यता में कोई अंतर नहीं है। शून्यता या परम सत्ता उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म के समान है। ग्रंथारंभ में मंगलाचरण में नागार्जुन अपने दर्शन के मूल तत्त्वों को संक्षेप में देते हैं। उन्होंने आठ नकारों द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद समझाया है। इसमें

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न तो आरंभ है, न अंत है; न चिरता है न अचिरता, न एकता है न अनेकता; न अंदर आना है, न बाहर जाना। सारतः केवल अनारंभ मात्र है, जो शून्यता का पर्यायवाची है। अन्यत्र भी वह लिखते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है। शून्यता आरंभ का उल्लेख करते हुए भी मुख्यतः वह मध्याम-मार्ग है जो कि अस्तित्व और अनस्तित्व के दो परस्पर विरोधी छोरों से दूर है। शून्यता वस्तुओं का सापेक्ष अस्तित्व है या एक प्रकार की सापेक्षता है। प्रो० राधाकृष्णन के शब्दों में 'शून्यता का अर्थ माध्यमिकों के अनुसार संपूर्ण और परम अस्तित्वहीनता नहीं है, परंतु सापेक्ष सत्ता है।' माध्यमिकों के तत्त्व ज्ञान में शून्यता की प्रधानता है, अतः उसे शून्यवाद कहते हैं। माध्यमिक-कारिका में आगे चलकर दो प्रकार के सत्यों का उल्लेख हैः संवृति और परमार्थ। संवृति का अर्थ वह अज्ञान अथवा भ्रांति है जो वस्तु जगत को घेरे हुए है और मिथ्याभास पैदा करती है। परमार्थ का अर्थ है कि सांसारिक वस्तुएं एक भ्रांति या प्रतिध्वनि की भांति अनस्तित्व-भरी हैं। परमार्थ-सत्य, संवृति-सत्य को पाए बिना प्राप्त नहीं हो सकता। संवृति-सत्य साधन है तो परमार्थ-सत्य साध्य। इस प्रकार से, सापेक्ष दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद सांसारिक घटनाओं का अर्थ दे सकता है, परंतु परमार्थ की दृष्टि से सब समय में अनारंभ ही निर्वाण या शून्यता है।

ईसा की पांचवी शती के आरंभ में माध्यमिक मत की दो शाखाएं हुई : प्रासंगिक और स्वातंत्र। प्रासंगिक मत अपनी पुष्टि में तर्क के उस अस्त्र का सहारा लेता है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु की नकार और विसंगति में परिणति होती है, स्वातंत्र मत भिन्न तर्क का आश्रय लेता है। प्रथम मत बुद्धपालित द्वारा और दूसरा भावविवेक द्वारा स्थापित किया गया।

माध्यमिक ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि माध्यमिक मत का मूलाधार द्वंद्वात्मक तर्क-पद्धति है।

यह भी यहां उल्लेख करना चाहिए कि चीन के ति-ईन्-ताई और सान्-लुन् पंथ शून्यता के सिद्धांत को मानते थे, और इस प्रकार से भारतीय माध्यमिक पद्धति की एक परंपरित सरणि मात्र थे। जापान के सान्-रोन् पंथ भी इसी पद्धति को मानते थे।

योगाचार

महायान की दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा है योगाचार। इसकी स्थापना मैत्रेय अथवा मैत्रेयनाथ (ईसा की तीसरी शती) ने की थी। असंग (ईसा की चौथी शती), वसुबंधु (ईसा की चौथी शती), स्थिरमति (ईसा की पांचवीं शती), दिङ्नाग (ईसा की पांचवीं शती), धर्मपाल (ईसा की सातवीं शती), धर्मकीर्ति (ईसा की सातवीं शती), शांतरक्षित (ईसा की आठवीं शती) और कमलशील (ईसा की आठवीं शती) इस मतवाद के बड़े प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने मूल संस्थापक के कार्य को अपने लेखन से आगे बढ़ाया और इस मत को ऊंचे स्तर पर चढ़ाया। असंग और उसके भाई वसुबंधु के जमाने में यह मत अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुंचा। असंग ने इसको योगाचार नाम दिया और वसुबंधु ने विज्ञानवाद शब्द का प्रयोग किया।

योगाचार का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसमें बोधि की प्राप्ति के लिए योग को सबसे प्रभावशाली पद्धति माना गया। बोधिसत्वपन की 'दश भूमियां' पार करके ही बोधि प्राप्त की जा सकती थी। इसी को विज्ञानवाद भी कहा जाता है। इसका कारण यह तथ्य है कि वह विज्ञप्तिमात्र को अंतिम सत्य मानता है। संक्षेप में, वह आत्मनिष्ठ आदर्शवाद सिखाता है, या वह सिखाता है कि अकेला विचार ही सत्य है। योगाचार दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को, और विज्ञानवाद उसके वैचारिक पक्ष को व्यक्त करता है। 'लंकावतार-सूत्र' इस मत की प्रधान रचना है, जिसके अनुसार केवल चित्त मात्र वास्तविक है, बाह्य वस्तुएं नहीं। वे स्वप्नों की भांति अवास्तविक हैं, मृगजल और 'आकाशपुष्प' की भांति हैं। चित्त मात्र, आलयविज्ञान से इस मामले में भिन्न है। आलयविज्ञान स्व-तथा-पर, आत्म-तथा-वस्तु के द्वंद्व के भीतर जो चेतना व्याप्त है, उसका आधार है। आलयविज्ञान तथागत का गर्भ है। वसुबंधु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' इस मत का मूलाधार ग्रंथ है। उसके अनुसार बाह्य वस्तु-जगत की वास्तविकता में विश्वास व्यर्थ है। उसके अनुसार चित्त अथवा विज्ञान (विज्ञान मात्र) की ही अकेली वास्तविकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

आलयविज्ञान में वस्तु-जगत के बीज हैं—आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों ही प्रकार के। बहते पानी के समान आलयविज्ञान एक निरंतर परिवर्तनशील संज्ञा प्रवाह है। बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ, उसका प्रवाह एकदम रुक जाता है। वसुबंधु के ग्रंथों के भाष्यकार स्थिरमति के अनुसार, आलय में सब धर्मों के बीज हैं, जिनमें विकृति के भी बीज शामिल हैं। दूसरे शब्दों में, सब धर्म आलयविज्ञान में संभाव्य रूपों में रहते हैं। योगाचारी आगे लिखते हैं कि किसी विशेषज्ञ को पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पुद्गल-नैरात्म्य क्लेशावरण और धर्म-नैरात्म्य ज्ञेयावरण के हटाने से प्राप्त होता है। ये दोनों नैरात्म्य निर्वाण के लिए आवयक हैं।

योगाचार ज्ञान की तीन अवस्थाएं मानता है : परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। परिकल्पित किसी काल्पनिक विचार का, अपने कारण और स्थितियों द्वारा निर्मित किसी वस्तु पर, आरोपण मात्र है। वह केवल कल्पना में रहता है, और वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं। परतंत्र अपने कारण और स्थितियों द्वारा निर्मित वस्तु का ज्ञान है। यह सापेक्ष ज्ञान है और इससे जीवन के व्यावहारिक प्रयोजनों का समाधान होता है। परिनिष्पन्न तथता का परम सत्य है। परिकल्पित और परतंत्र संवृति-सत्य से मिलते हैं और परिनिष्पन्न माध्यमिक मत के परमार्थ सत्य से। इस प्रकार से माध्यमिकों के दो के स्थान पर योगाचार में ज्ञान के तीन प्रकार हैं।

योगाचार माध्यमिक से इस प्रकार से भिन्न है कि वह वास्तविकता में गुण हैं, ऐसा मानता है। पहले मत में वास्तविकता विज्ञान मात्र है, दूसरे में वह शून्यता है।

उत्तर के देश

तिब्बत और नेपाल

तिब्बत और नेपाल में बौद्ध धर्म का ब्यौरा पहले एक अध्याय में आ चुका है, जहां कि बौद्ध धर्म के अन्य देशों में विस्तार का वर्णन है, और उसकी पुनरावृत्ति यहां अनावश्यक है।

चीन

यह कहा जाता है कि ईसा पूर्व 217 में भारतीय लोग चीन की राजधानी शेन्सी में अपना धर्म प्रचारित करने के लिए आए। ईसा पूर्व 122 में, एक सुवर्ण प्रतिमा सम्राट के पास लाई गई और चीनी वृत्तांतों के अनुसार वह चीन में पूजा के लिए लाई गई प्रथम बौद्ध प्रतिमा थी।

बौद्ध धर्मसूत्रों को एकत्रित करने के लिए और चीन में भिक्षुओं को बुलाने के लिए 61 (या 62) ईसवी में सम्राट मिंग-ति ने एक दूत-मंडल भारत में भेजा, मध्य-भारत का एक निवासी काश्यप मातंग उसके साथ चीन गया, और उसने एक महत्त्वपूर्ण छोटे सूत्र का अनुवाद किया। इसका नाम था 42 अनुच्छेद। चीनी वृत्तांत के अनुसार वह लो-याङ में मरा।

चौथी शती के आरंभ में, चीनी लोगों ने बौद्ध मठों के रीति-रिवाजों को अपनाना शुरू किया था। उदाहरणार्थ, 335 ईसवी में चाऊ साम्राज्य के एक राजकुमार ने पूर्वी छिन् वंश के राज्य में अपने नौकरों को बौद्ध पद्धति को अपनाने दिया था। इस काल में, उत्तरी चीन में कई प्रकार के मठ स्थापित किए गए और जनता के $^{9}/_{10}$ वें भाग ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, ऐसा कहा जाता है।

ईसा की चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच में क्रमशः फाहियान और युआन्-च्वांग जैसे विद्वान भारत में आए और चीन को लौट गए। वे अपने साथ कई बौद्ध ग्रंथ भी ले गए। उनकी पूजा उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय दोनों प्रकार के लोगों द्वारा की गई। चीनी सम्राटों की प्रार्थना पर कुछ भारतीय विद्वान भी चीन गए। इनमें कुमारजीव, बोधिधर्म और परमार्थ का उल्लेख किया जा सकता है। फाहियान और युआन्-च्वांग के साथ-साथ वे कई प्रकार के चीनी बौद्ध पंथों के संस्थापक बने।

जब बौद्ध धर्म पहली बार चीन पहुंचा तो वहां किसी प्रकार का विशिष्ट मतवाद नहीं चला, परंतु धीरे-धीरे चीनी बौद्ध विभिन्न प्रकार के बौद्ध मतों से और उनसे संबद्ध विभिन्न प्रथाओं से परिचित होने लगे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ीन में बौद्ध धर्म जैसे-जैसे फैला, उसकी उपशाखाएं भी देश भर में उत्तर । दक्षिण तक फैली। कट्टरपंथी बौद्ध धर्म धीरे-धीरे उदार और ।र्वमतमिश्रित हो गया और उसे अपने विशेष गुण प्राप्त होने लगे।

ग़ान (ध्यान) शाखा

ोधिधर्म ने अपनी स्वयं की पद्धति निर्मित की, जिसके अनुसार सापेक्ष और परम की अभेद-चेतना से ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता था।

बोधिधर्म चीन में 470 ई० में आया और उन गुह्य मतवादों का संस्थापक बना, जो कि पांच प्रमुख शाखाओं में बांटे गए। ये गुह्य शाखाएं दान (संस्कृत ध्यान, जापानी जेन) या आधुनिक उच्चारण में 'चान' कहलाई। बोधिधर्म तीसरा राजपुत्र था जो या तो दक्षिण भारत से या फारस से वहां आया था। यह भी कहा जाता है कि उसने शाओ-लिन्-स्सु मठ की दीवार के पास नौ वर्ष तक ध्यान और मनन किया। बोधिधर्म के अनुयायी सर्वत्र सक्रिय थे, और देशज धर्मों पर उन्होंने पूरी विजय पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक जापान में इन गुह्य मतों के उपदेश बहुत मूल्यवान माने जाते हैं।

यह स्वाभाविक है कि बोधिधर्म यद्यपि इन गुह्य मतों का संस्थापक था, फिर भी उसने अपने मत नागार्जुन के दर्शन पर आधारित किए। नागार्जुन महायान बौद्ध धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य था। नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन शुरू किया। उसके अनुसार सब चीजें शून्यता में परिणत होती हैं। इस प्रकार से उसने मध्यमा प्रतिपदा की स्थापना की। उसके दर्शन ने काऊ-हेई-वेन पर प्रभाव डाला। उसने ता-चि-तु-लुन् नामक शास्त्र का अध्ययन किया था और 'चुंग-क्वान्' अथवा मध्य मार्ग पर केंद्रित होने के विचार को अपनाया था। काऊ-हेई-वेन की कल्पना और आधार पर, तु-हेई-यग और लिऊ-हिड्-सि ने नान्-ङो और त्सिड्-युएन शाखाएं स्थापित कीं।

इन मतवादों के अनुसार, अंतर्मुख होकर देखना और बाहर न देखना ही ऐसा रास्ता है जिससे ज्ञान प्राप्त होता है। यह मनुष्य के मन के लिए वैसा ही है जैसा बुद्धत्व प्राप्त करना। इस पद्धति में 'अंतरानुभव'

या 'प्रत्यक्षानुभव' पर बल है। उसकी विशेषता यह है कि उसके पास कोई शब्द नहीं है जिससे कि वह अपने आप को व्यक्त कर सके। उसके पास कोई साधन नहीं है जिससे वह अपने आप को तर्क दे सके, अपने सत्य का कोई ऐसा व्यापक प्रमाण नहीं है जिसे कि तर्क द्वारा पुष्ट किया जा सके। यदि वह अपने आप को व्यक्त भी करता है तो संकेतों और प्रतीकों के रूप में ही। समय के साथ-साथ यह विचार-पद्धति एक प्रत्यक्षानुभव का दर्शन बन गई, यहां तक कि वह आज भी अपनी विशिष्टता रखे हुए है।

चान (ध्यान) बौद्ध मत के अलावा, बौद्ध धर्म की अन्य उपशाखाओं को सार रूप में देना उचित होगा। केवल तिएन-ताई पंथ छोड़कर शेष सब अब मिट चुके हैं और वे अब सक्रिय नहीं हैं।

तिएन-ताई मत

चीन में आज एकमात्र जीवित बौद्ध मत यही है। इसकी स्थापना चि-काई ने की थी। तिएन-ताई पर्वत को साक्षी रखकर यह तिएन-ताई-त्सुंग कहलाता है। वहां चि-काई 597 ईसवी में 67 वर्ष की आयु में मरा। उस समय सोयुई वंश का राज था। यह कहा जाता है कि अपने आरंभिक जीवन में बोधिधर्म द्वारा स्थापित शाखा के उपदेशों का चि-काई ने अनुसरण किया। इसके बाद वह इस पद्धति से ऊब गया, और उसने बौद्ध धर्म की एक नई शाखा चलाई, जिसके मूल सूत्र हैं मिआओ-फा-लिएन-ह्वा-चिन (सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र सं० 134), त-चि-तु-लुन् (महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र शास्त्र सं० 1169), नेइ-फन्-चिन् (महानिर्वाण सूत्र सं० 113) और त-पन्-जो-पो-लो-मि-तो-चिन् (महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र सं० 1)।

चि-काई ने ज्ञान की तीन पद्धतियां स्थापित कीं, जिन्हें चि-क्वान अथवा 'संपूर्ण ज्ञान' कहा जाता है। इस पद्धति में तीन ज्ञानी अवस्थाएं हैं: रिक्त (कुङ्), अनुमानित (किआ) तथा मध्य (चुङ्)। ये तीन प्रमाण-पद्धतियां महेश्वर की तीन आंखों के समान हैं। शून्य या रिक्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पद्धति ऐंद्रिक ज्ञान के भ्रम को नष्ट करती है और परम प्रज्ञा को स्थापित करती है। 'अनुमानित' अवस्था विश्व की विकृति को दूर करती है और सब बुराइयों से मुक्ति स्थापित कराती है। अंत में 'मध्य' मार्ग अविद्याजन्य भ्रांति को दूर करता है और प्रकाशित मन को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार के त्रिविध अन्वेषण की पद्धति नागार्जुन दर्शन पर आधारित है। नागार्जुन दक्षिण-पूर्वी भारत में दूसरी शती में रहा होगा।

चीन के इन बौद्ध मतों का मूल भारतीय बौद्ध धर्म रहा होगा, परंतु चीनी शाखाओं द्वारा बौद्ध ग्रंथों के अनवरत अध्ययन से एक नए प्रकार के धार्मिक अनुभवों का निर्माण हुआ जो कि भारत की अपेक्षा चीन की ऐतिहासिक पार्श्वभूमि से अधिक निर्मित थे। यद्यपि यह विकास भारतीय महायान बौद्ध धर्म के प्रारंभ से संभव हुआ, फिर भी उसके सिद्धांतों का अर्थ विचित्र चीनी पद्धति से दिया गया, जिससे कि चीनी परंपरा को ही आदर मिला। चीनियों ने, भारतीय मूल पाठों का, अपने ढंग से, अपने पूर्वजों से प्राप्त प्राचीन रीतियों से मिलते-जुलते हुए, अर्थ लगाया।

जापान

जापान में तेरह बौद्ध पंथ हैं। वे हैं केगौन (अवतंसक), रि-त्सु (विनय), होस्सो (धर्मलक्षण), तेंदाई, शिंगोन (तांत्रिक), जोदो, जोदोशिन, युजुनेनबुत्सु, जि, रिंज़ाई, सोतो, ओबाकु, निचिरेन आदि। इनके अलावा तीन अन्य पंथ थे, जिनके नाम थे सानरोन (माध्यमिकों के तीन शास्त्र), कुशा (अभिधम्म-कोश निकाय), और जोजित्सु (सत्यसिद्धिशास्त्र निकाय), परंतु वे अब प्रायः लुप्त हैं और उन पर स्वतंत्र प्रभाव बहुत कम है।

यह ध्यान रखने की बात है कि जापान में अधिकतर बौद्ध पंथ चीन से शुरू हुए। केगौन, रित्सु और होस्सो का चीनी मूल रूप ज्यों का त्यों है, जब कि अन्य स्थानिक निर्मितियां हैं और पूर्णतः नए सिरे से बनाए गए हैं। बाद के पंथों के कुछ विशेष लक्षण आगे दिए गए हैं।

तेंदाई पंथ

तेंदाई पंथ 804 ईसवी में जापान में साई-चो द्वारा स्थापित किया गया।

वह दैन्ग्यो-देशी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। वह इस पंथ में बहुत छुटपन में प्रविष्ट हुआ और चीन में उच्च अध्ययन के लिए गया। वहां प्रसिद्ध तिएन्-ताई शाखा के आचार्यों से धर्म में उसने शिक्षा पाई। जापान लौटने पर हिएई पर्वत पर एन्याकुज़ी मंदिर पर उसने नए सिद्धांत की स्थापना की। यह मंदिर जापान में बौद्ध अध्ययन और धर्माचार का महत्त्वपूर्ण केंद्र बना। यह भी उल्लेखनीय है कि अन्य संप्रदायों के संस्थापक और विद्वान मंदिर से विद्यार्थियों के नाते संबद्ध थे। यद्यपि यह चीनी तिएन्-ताई की शाखा थी, फिर भी तेंदाई पंथ ने अन्य सिद्धांतों के, यथा तांत्रिक बौद्ध धर्म और ध्यान और विनय शाखाओं के सिद्धांतों को अपने में मिलाया।

चीनी तिएन्-ताई से वह बाह्याचारों में भिन्न था। यद्यपि दोनों का मूलाधार महायान सूत्र वाला सद्धर्मपुंडरीक था, जिसका एकयान सिद्धांत पर जोर था। साई-चो ने क्वानजिन् (मन का प्रत्यक्ष अनुभव) नामक व्यावहारिक पद्धति भी शुरू की।

शिंगोन पंथ

जापान में इस पंथ का संस्थापक कुकई (जिसे कोबो दैशी कहा जाता है) था, जो साई-चो से वय में छोटा और उसका समकालीन चिंतक था। वह विरक्त, प्रवासी, सुंदर लिपिकार और शिल्पी था। कुकई बहुगुणी विद्वान था। साई-चो के उदाहरण से प्रेरित होकर 804 ईसवी में वह चीन में गया और चीनी पुजारी होउई-कोउओ के शिष्य के नाते उसने गुह्य शिंगोन पंथ का अध्ययन किया। जापान लौटने पर उसने शिंगोन पंथ का सुप्रसिद्ध मठ कोया सान के पर्वत पर स्थापित किया।

शिंगोन पंथ के सिद्धांत महावैरोचन-सूत्र तथा अन्य तांत्रिक सूत्रों पर आधारित हैं। यह पंथ मुख्यतः जादूभरी और रहस्यमयी विधियों में से एक है। यह तिब्बत के तांत्रिक बौद्ध मत के समान है। शिंगोन संस्कृत-'मंत्र' से बना शब्द है। इस पंथ के सिद्धांत के अनुसार मंत्र अथवा धारणी के उच्चारण मात्र से बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है।

शिंगोन पंथ अब जापान में एकमात्र ऐसा पंथ बचा है जिसने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

तांत्रिक आदर्शों को सुरक्षित रखा है। फिर भी, सुव्यवस्थित विकास होने से उसमें वे बुराइया नहीं घुस पाईं जो भारत और तिब्बत के बौद्ध तांत्रिकों में आ गई थीं।

इसमें जोदो, जोदो-शिन, युजुनेनबुत्सु और जि पंथ आते हैं। इन पंथों का मुख्य सिद्धांत यह है कि निर्वाण अमिताभ की एकमात्र उद्धारक शक्ति में विश्वास करने से प्राप्त होता है। इस पंथ के मानने वाले अमिताभ का नाम लेते हैं, और आशा करते हैं कि उसके आशीर्वाद से स्वर्ग में पुनर्जन्म प्राप्त कर सकते हैं।

जोदो पंथ जापान में 1175 में ग्रेन्कू द्वारा स्थापित किया गया। वह एक प्रसिद्ध संत था और उसे होनेन कहते हैं। उसका सिद्धांत मुख्यतः शान्-ताओ (613-681 ईसवी) के सिद्धांतों पर आधारित था। शान्-ताओ चीन के अमिताभ पंथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्यों में से एक था। उसने सुखावतीव्यूह-सूत्रों (बड़े और छोटे दोनों संस्करणों) और अमितायुर्ध्यान सूत्रों को धर्मसूत्र ग्रंथ की भांति चुना। अमिताभ बुद्ध में विश्वास के लाभ उसने सिखाए।

यह सिद्धांत सरल होने से सामान्य जनता में लोकप्रिय बना। नेनबुत्सु या अमिताभ बुद्ध के नाम का स्मरण इस धर्म के अनुयायियों में एक स्वाभाविक आचार था, परंतु उनका अधिक बल विश्वास पर था, प्रत्यक्ष नाम स्मरण पर नहीं। फिर भी नेनबुत्सु को गौण नहीं मानना चाहिए। यह भी माना जाता है कि जो अपने कार्य में व्यस्त रहने से बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की गहराई में जा नहीं पाते, वे भी अमिताभ के स्वर्ग में, यदि उसमें पूरा विश्वास हो, तो जन्म लेंगे। होनेन के उपदेशों ने जनसाधारण में बहुत लोकप्रियता पाई और जोदो पंथ जापान में बहुत ही प्रभावशाली बना।

जोदो-शिन पंथ के उपदेश शिनरन द्वारा स्थापित हुए। उन्होंने जोदो पंथ में बहुत-से नए सुधार किए। शिनरन के अनुसार, सभी जीवित व्यक्ति अमिताभ द्वारा दिए गए वचन से बचाए जाएंगे। इस प्रकार से बुद्ध के नाम का स्मरण और साधारण जीवन के अन्य बाह्याचार, एक कृतज्ञ हृदय की ही अभिव्यंजनाएं हैं।

शिनरन ने धर्मस्थान के संगठन में कई महत्वपूर्ण सुधार किए, जिनका उद्देश्य था पुजारियों और जनसाधारण के बीच के अंतर को कम करना। दोनों वर्गों में कोई अंतर वे नहीं समझते थे। सभी मानवप्राणी बुद्ध के शुद्ध प्रदेश में पुनर्जन्म ले सकने के एक-से हकदार हैं : 'न तो कोई गुरु थे न शिष्य। सब बुद्ध के आगे बंधु और मित्र जैसे थे।' शिनरन तथा इस पंथ के और लोग जन-साधारण में सामान्य जीवन बिताते थे, और अपने आप को उपदेशक नहीं मानते थे, किंतु अमिताभ के रास्ते के अनुयायी ही अपने आप को समझते थे।

शिनरन के उदार दृष्टिकोण के कारण, शिन पंथ जल्दी से जनता में लोकप्रिय हो गया, विशेषतः किसानों में और श्रमिकों में। उससे जो धार्मिक स्वतंत्रता उसके अनुयायी सीखे, उससे राजनैतिक और सामाजिक स्वतंत्रता की खोज उन्होंने शुरू की, और इसका परिणाम यह हुआ कि ईसा की 16वीं शती में अपने सामंती स्वामियों के विरुद्ध किसानों ने कई विद्रोह किए।

युजुनेनबुत्सु संप्रदाय र्योनिन (1072-1132 ईसवी) द्वारा स्थापित हुआ और जि संप्रदाय इप्पेन (1239-1289 ईसवी) द्वारा। इन संप्रदायों का जापान में कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं था। र्योनिन का सिद्धांत केगोन दर्शन से प्रभावित था, इप्पेन का ज़ेन बौद्ध धर्म द्वारा।

ज़ेन बौद्ध धर्म

ज़ेन शब्द ज़ेना (चीनी : चान) से बना है, जो कि संस्कृत 'ध्यान' का लिप्यंतर मात्र है। इसका अर्थ है एकाग्रचिंतन।

ज़ेन बौद्ध धर्म की जापान में तीन शाखाएं हैं : रिन्ज़ाई, सोतो और ओबाकु। जापान में प्रथम दल जापानी भिक्षु आइसई (1141-1215 ईसवी) द्वारा स्थापित किया गया, द्वितीय दोजेन (1200-1253 ईसवी) द्वारा और तीसरा चीनी भिक्षु इंगेन द्वारा लगभग 1653 ईसवी में। आइसई और दोजेन ने कई वर्ष चीन में अध्ययन करने में बिताए।

ज़ेन बौद्ध धर्म का सारांश निम्न सूत्र में है : 'अपने मन के भीतर देखो और तुम्हें बुद्धत्व प्राप्त होगा।' इस संप्रदाय का बहुत बड़ा जोर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मनन या ध्यान पर होता है, उसी के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति-संभव है।

अब हम दोजेन का सिद्धांत देखें, जो कि ज़ेन बौद्ध धर्म के सबसे प्रमुख और प्रतिनिधि रूपों में से एक है।

दोजेन ने एक भिक्खु के नाते निम्न प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जीवन आरंभ किया : 'यद्यपि सभी जीवित व्यक्तियों में, उनके स्वभाव के अनुसार, बुद्धत्व विद्यमान था, फिर भी इतने सारे बुद्धों ने आत्म-ज्ञान का रास्ता क्यों अपनाया?' जापान में किसी ने उसके प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दिया, इसलिए वह चीन में उत्तर पाने के लिए गया। वहां उसने एक ज़ेन बौद्ध भिक्षु के शिष्यत्व में ज्ञान प्राप्त किया। जापान लौट आने पर उसने निम्न सिद्धांत प्रचारित किए : 'सभी मानव प्राणी पहले से ही ज्ञान से आलोकित हैं। वे स्वभाव से बुद्ध हैं। ध्यान का प्रयोग बुद्ध का अपना कार्य है।'

बुद्ध के कार्य अविश्रांत रूप से बराबर मानव-समाज के सुधार के लिए चलते रहते हैं, परंतु मानवी प्राणियों को भी, जिस समाज में वे रहते हैं, उसकी भलाई के लिए निरंतर प्रयत्न करना चाहिए।

ज़ेन बौद्ध धर्म योद्धाओं में बहुत लोकप्रिय हुआ, जिनके लिए मन का स्थायित्व बहुत आवश्यक था। शोगुनों द्वारा उसे प्रश्रय और प्रोत्साहन मिलने से ज़ेन बौद्ध धर्म सारे देश में तेजी से फैला। रिन्ज़ाई संप्रदाय का सोतो से अधिक शोगुंते सरकार से संबंध था। सोतो स्थानिक भू-स्वामियों और किसानों में बहुत लोकप्रिय था। जहां तक अनुयायियों की संख्या का प्रश्न है, सोतो संप्रदाय संप्रति शिन संप्रदाय के बाद में आता है।

ज़ेन बौद्ध धर्म ने जापानी संस्कृति के विकास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जापान में वह उन दिनों की उच्चतम चीनी संस्कृति को लाया। चित्रकला काले और सफेद रंगों में होने लगी, नोह नृत्य, चाय का उत्सव और फूलों की रचना, ये सब ज़ेन बौद्ध धर्म के प्रभाव से अधिक प्रचलित हुए। साथ ही यह नहीं भूल सकते कि जापानी बुशिदो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नाग पर आसीन बुद्ध (थाईलैंड)

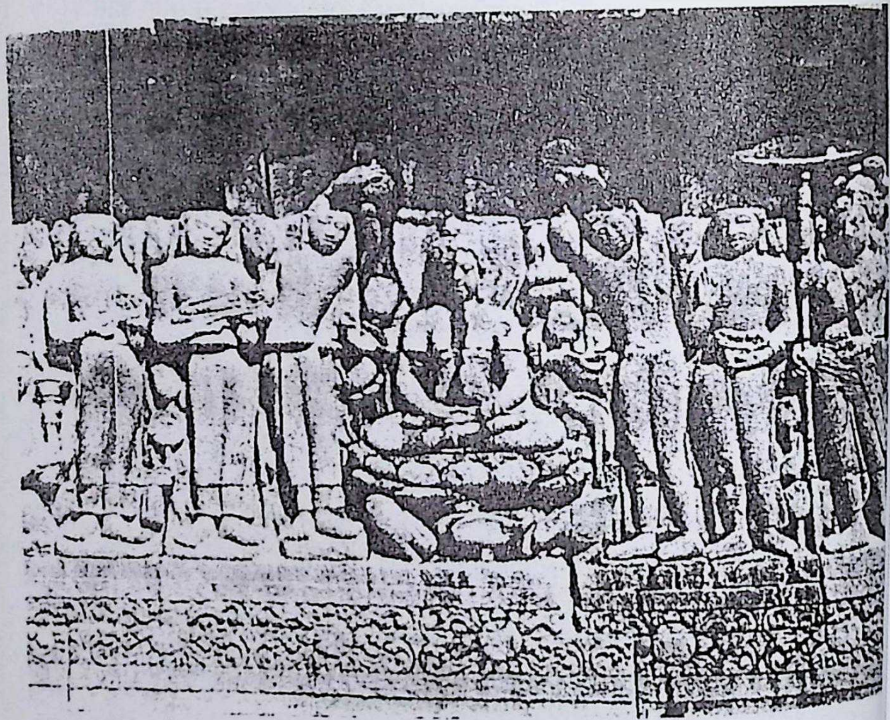

प्रथम उपदेश देने से पूर्व स्नान करते बुद्ध
बोरोबुदूर (जावा) का एक भित्तिचित्र

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

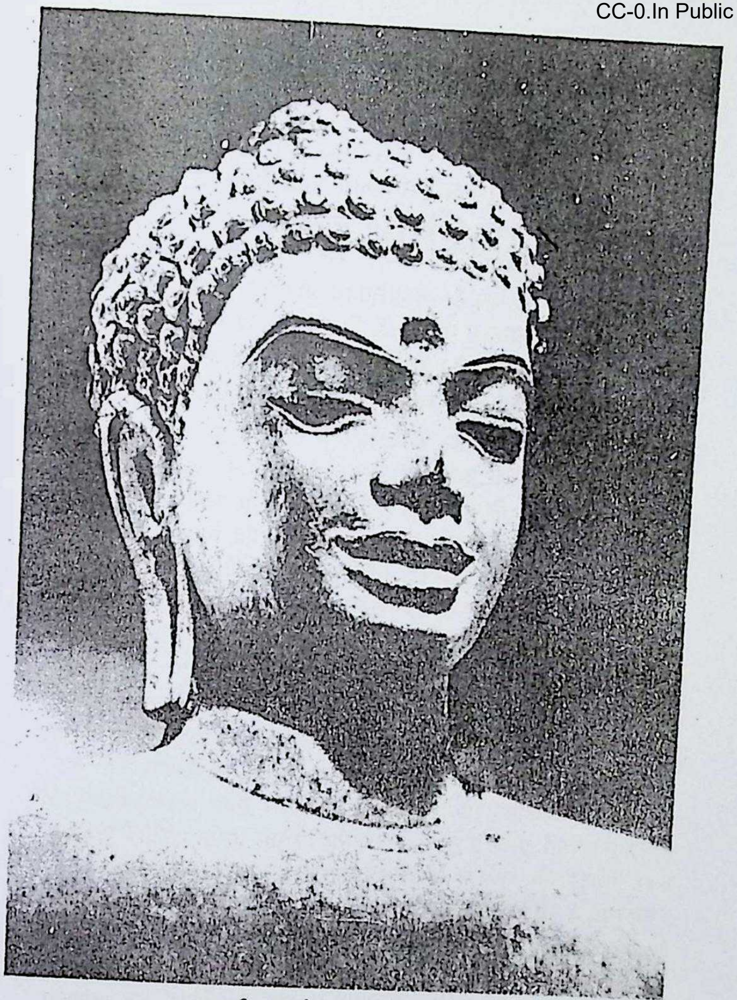

द्वारावती राज्य में बुद्ध प्रतिमा (थाईलैंड)

(जापानी वीरता) के सिद्धांतों के बनाने में जेन बौद्ध धर्म का बड़ा हाथ था।

निचिरेन पंथ

इस पंथ का नाम उसके संस्थापक के नाम पर है। वह जापान के बड़े देशभक्त और संत थे। कोमिनाते में एक मछुए के घर में 1222 ईसवी में उनका जन्म हुआ। 15वें वर्ष में उन्हें एक मठ में दीक्षा प्राप्त हुई। कियोजुमी पर्वत पर यह मठ था। उन्होंने बौद्ध साहित्य की कई शाखाओं का अध्ययन किया और वे देश भर घूमे। बौद्ध धर्म के प्रधान सिद्धांतों की खोज में कई वर्षों के अध्ययन और प्रचार के बाद, उन्होंने सद्धर्मपुंडरीक को सत्य का अंतिम उद्घाटन घोषित किया। उन्होंने 'नेमु म्योहो रेंगे क्यो' (सद्धर्मपुंडरीक को प्रणाम) नामक सूत्र शुरू किया। कदाचित्त जोदो पंथ के नेरबुत्सु के प्रभाव को दूर करने के लिए उन्होंने ऐसा किया। उनके अनुसार शाक्यमुनि बुद्ध, परम बुद्ध हैं और सद्धर्मपुंडरीक सूत्र का नाम स्मरण या उसके शीर्षक का पाठमात्र संबोधि की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है।

उसने अपने मत अन्य पंथों के विरुद्ध इतने जोरों से व्यक्त किए कि वह कई बार मुश्किल में पड़ गया। फिर भी हर बार वह किसी तरह से चमत्कारिक ढंग से बच निकलता था।

दक्षिण के देश

सौभाग्य से, दक्षिण एशिया के बौद्ध देशों में बौद्ध धर्म के मूल तत्त्वों पर कोई गंभीर मतभेद नहीं पैदा हुए। इन सब देशों ने, वियतनाम को छोड़कर, जो कि महायान देश है, थेरवाद पंथ के सिद्धांत मान लिये और वहां के कई पंथों के बीच के मतभेद छोटी-छोटी बातों तक सीमित रहे।

श्रीलंका

सिंहली स्रोतों में अभयगिरि, दक्खिन-विहार और जेतवन के पंथों का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उल्लेख है। इनके कारण सिंहल की बौद्धधर्मानुयायी जनता में बड़े गंभीर संप्रदाय बन गए। इनमें अभयगिरि पंथ, जिसे कि कभी धम्मरुचिनिकाय भी कहा जाता था, महाविहार पंथ के प्रतिष्ठित प्रतिद्वंद्वी के नाते प्रसिद्ध था। वह महाविहार पंथ से कई मूलभूत बातों में अलग था। इस पंथ के मानने वाले वेतुल्यवादी कहलाते थे। महाविहार पंथ और अभयगिरि पंथ के बीच में जो लंबी लड़ाई हुई, उसमें प्रथम की श्रीलंका में विजय हुई। अब श्रीलंका में तीन प्रमुख बौद्ध संघ हैं, जिनके नाम जहां से उपसंपदाएं लाई गई थीं, उन देशों पर रखे गए हैं, अर्थात् स्याम, ऊपरी या निचले बर्मा के नाम पर।

बर्मा

सासनवंस के अनुसार बर्मी संघ भी विनय के नियमों के भाष्य जैसे गौण मामलों पर विभक्त हो गया था। उनके लिए विचारास्पद एक प्रश्न यह था कि यदि राजा किसी बौद्ध भिक्खु को हाथी दान में दे तो वह उसे अपने उपयोग के लिए रख ले या उसे जंगल में मुक्त छोड़ दे। दूसरा मतभेद का मामला यह था कि कोई भिक्खु अपने शिष्य की किसी गृहस्थ से सिफारिश करे या नहीं? बाद में, इस बात पर भी मतभेद उठ खड़े हुए कि भिक्खुजन, जब किसी गांव में भिक्षाटन करने जाएं तब एकांशिक हों (यानी केवल बाएं कंधे पर चीवर पहनें और दूसरा खुला छोड़ दें) या पारुपन हों (दोनों कंधों को ढकें)। एक सौ बरस तक इस बात पर बहस चलती रही। अंत में राजा बादोंह प्रा ने 1781 ईसवी में इस मामले में एक राजाज्ञा जारी की। कभी-कभी पंखा या भूर्जपत्र को शीर्ष-वस्त्र बनाने जैसी छोटी-छोटी बातें भी मतभेद का कारण बन जाती थीं और उससे और ज्यादा फूट पड़ती थी।

अभी तो बर्मा में तीन प्रमुख फिरके हैं। इनमें मुख्यतः व्यक्तिगत आचार-व्यवहार के प्रश्न पर मतभेद हैं, मौलिक सैद्धांतिक प्रश्नों पर कम। सुधम्म-संघ सबसे पुराना और संख्या में सबसे बड़ा है, उसमें छातों और चप्पलों के प्रयोग, पान-सुपारी चबाने-खाने, तमाखू पीने, और परित्त के पाठ के समय पंखों के प्रयोग के लिए अनुमति है। श्वेगिन पंथ,

जिसकी स्थापना जागर महाथेर ने राजा मिंदोन (19वीं शती ईसवी) के समय की थी, दोपहर को सुपारी या पान चबाने के पक्ष में नहीं है, और वह तमाखू पीने की भी अनुमति नहीं देता। भिक्षुओं का द्वारनिकाय पंथ काय-द्वार, वाचि-द्वार, मनो-द्वार जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक पसंद करता है, काय-काम, वाचिकाम, मनोकाम आदि शब्दों का प्रयोग कम।

थाईलैंड और कंबोडिया

इन दोनों देशों में दो पंथ हैं--महानिकाय और धम्मयुत्तिकानिकाय, जो कि निचले बर्मा के रामञ्ञ पंथ से ही निकला है। अनुशासन में पिछला अधिक कड़ा माना जाता है। कंबोडिया में दोनों का अंतर पालि शब्दों के उच्चारण तक और अन्य छोटी-छोटी बातों तक ही सीमित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध साहित्य

जहां तक हमें विदित है, व्यवस्थित बौद्ध साहित्य की मुख्य सामग्री, वह मूल में हो या अनुवाद में, प्रधानतः पालि, संस्कृत (शुद्ध और मिश्रित) तिब्बती और चीनी भाषाओं में उपलब्ध है, यद्यपि उन देशों की भाषाओं में भी जहां बौद्ध धर्म का प्रचार होता गया, बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद हुआ।

बौद्ध साहित्य के भंडार में पालि त्रिपिटक ही, पावन बौद्ध साहित्य का सबसे प्राचीन और संपूर्ण उपलब्ध संग्रह है। यह तीन भागों में व्यवस्थित रूप से विभाजित, सुरक्षित है। पहला विभाग 'विनय-पिटक' या अनुशासन पुस्तक है, दूसरा 'सुत्त-पिटक' या उपदेशों की लोकप्रिय पुस्तक है और तीसरा 'अभिधम्मपिटक' है, जिसमें मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित दुरूह दर्शन की पुस्तकें संग्रहीत हैं। इन तीन पिटकों की अन्यान्य पुस्तकों के नाम और उनके पारस्परिक संबंध का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

इस सूत्रात्मक साहित्य के अतिरिक्त पालि में, जो अन्य साहित्य भी है, उसमें मिलिंद पञ्ह, नेत्ति-प्रकरण, विनय और अभिधम्म पिटकों पर बुद्धदत्त लिखित भाष्य, पालि त्रिपिटक ग्रंथों पर टीकाएं, जिनमें बुद्धघोष या धम्मपाल द्वारा लिखित जातकट्ठ कथाएं, श्रीलंका की गाथाएं जैसे दीपवंस, महावंस और चूलवंस और प्राचीन संस्कृत काव्य के अनुकरण पर परवर्ती काल में पालि में रचित ग्रंथ इत्यादि आते हैं। व्याकरण के ग्रंथों में, कच्चायन, मोग्गल्लान, रूपसिद्धि और सद्दनीति सुप्रसिद्ध हैं। बुद्धघोष की विद्वत्तापूर्ण मौलिक कृति 'विशुद्धिमग्ग' भी उल्लेखनीय है,

जिसे प्रारंभिक बौद्ध धर्म का एक विश्वकोश कहा जा सकता है।

दुर्भाग्य से बौद्ध ग्रंथों का संपूर्ण सूत्र साहित्य पालि के समान संस्कृत में हमें सुरक्षित उपलब्ध नहीं है। फिर भी ऐसा लगता है कि सर्वास्तिवादियों के पास पालि निकायों से मिलते-जुलते 'आगम' तथा पालि अभिधम्म-पिटक की सात पुस्तकों के ही अनुरूप अभिधर्म की सात पुस्तकें मौजूद थीं। मूल-सर्वास्तिवादियों के पास, एक विनय-पिटक था, जिसकी गिलगित में सुरक्षित पांडुलिपियों के बहुत-से अंश अब प्रकाश में आए हैं। यद्यपि साधारणतया ये संस्कृत ग्रंथ, अपने जैसे पालि ग्रंथों से समानता रखते हैं फिर भी अनेक स्थानों में उल्लेखनीय रूप से मूल पालि ग्रंथों से दूर चले गए हैं।

संस्कृत में, वह शुद्ध हो या मिश्रित, हम अनेक ऐसे स्वतंत्र ग्रंथ या ग्रंथांश पाते हैं जो विभिन्न प्रकार के हैं, कोई हीनयान से संबंधित तो कोई महायानी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। महावस्तु एक ऐसा ही ग्रंथ है, जो महासंघिक लोकोत्तरवादियों का विनय-पिटक समझा जाता है। किंतु उसका विषय इतना विविध है कि हमें उसमें दीघ, मज्झिम तथा सुत्तनिपात से मिलते-जुलते कुछ सूत्र और उनके साथ पालि जातकों से मिलती-जुलती कुछ कहानियां देखने को मिलती हैं। बुद्ध की जीवनी का अधूरा विवरण देने वाला 'ललितविस्तर' ग्रंथ मिश्रित संस्कृत में रचित है। इसके संबंध में यह मान्यता है कि यह वैपुल्य सूत्र के अंतर्गत आने वाली महायान पंथी रचना है। बुद्धचरित और सौंदरनंद के कारण अश्वघोष प्रसिद्ध हुए और पालि चरिया पिटक से समता रखने वाली और कुछ परिष्कृत संस्कृत रचना जातकमाला के कारण आर्यशूर। पालि अपदानों से मेल रखने वाला एक वृहद् अवदान-साहित्य भी उपलब्ध है, जिसमें अच्छे-बुरे कर्मों के अच्छे-बुरे परिणामों को समझाने के उद्देश्य से लिखी कहानियां प्राप्त होती हैं।

महायान सूत्रों में, नौ धर्म-ग्रंथ मुख्य माने गए हैं, जिनमें निम्न का विशेष उल्लेख किया जा सकता है :

1. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता
2. सद्धर्म-पुंडरीक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

3. ललितविस्तर
4. लंकावतार
5. सुवर्णप्रभास
6. गंडव्यूह
7. तथागतगुह्यक
8. समाधिराज
9. दशभूमीश्वर

ये वैपुल्य सूत्र कहलाते हैं। नागार्जुन, वसुबंधु तथा असंग इसी महायान पंथ के हैं और उनकी रचनाओं में इसी पंथ दर्शन का निरूपण हुआ है। इस विषय की चर्चा हम आगे अन्य अध्याय में करेंगे।

तिब्बत में भी 4,566 से अधिक भारतीय बौद्ध धर्म के अनूदित ग्रंथों का संकलन हैं। वे दो वर्गों में विभाजित हैं : 1. ब्कह्-ग्युर जो अधिकतर कंजुर कहलाता है, इसमें 1,108 ग्रंथ हैं; 2. ब्स्तन-ग्युर जो तंजुर कहलाता है, उसमें 3,458 ग्रंथ हैं। कंजुर के और भी सात विभाग किए गए हैं– 1. विनय, 2. प्रज्ञापारमिता, 3. बुद्धवतंसक, 4 रत्नकूट, 5. सूत्र, 6. निर्वाण, और 7. तंत्र। तंजुर के और दो ही विभाग हैं – 1. तंत्र, और 2. सूत्र।

कई भारतीय ग्रंथों के अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध होते हैं। अपनी ग्रंथ-सूची में बुनियु नानजियो ने 1,662 तक ग्रंथ गिनाए हैं, जो चार विभागों में वर्गीकृत हैं : 1. सूत्र-पिटक, 2. विनय-पिटक, 3. अभिधर्म-पिटक, और 4. विविध। परवर्ती काल की एक और सूची–होबोगिरिन में, ताइशो संस्करण के 55 खंडों में मुद्रित 2,184 ग्रंथों का उल्लेख है, और 25 खंडों में, चीन और जापान में लिखे परिशिष्ट ग्रंथ हैं। जापान में, चीनी त्रिपिटक के तीन संपूर्ण अनुवाद मिलते हैं, जिनके साथ त्रिपिटक के ताइशो संस्करण के 21 परिशिष्ट खंड भी अनूदित जोड़ दिए गए हैं। मंचूरी भाषा में भी, इसी का अनुवाद पाया जाता है। मंगोली भाषा में तिब्बती तंजुर का अनुवाद उपलब्ध है।

इस अध्याय का उद्देश्य, केवल पालि और बौद्ध संस्कृत में लिखी मुख्य पुस्तकों का सर्वेक्षण करना है।

पालि और बौद्ध संस्कृत की मुख्य पुस्तकों का सर्वेक्षण

एक समय था जब पालि, प्राकृत, मिश्रित संस्कृत और शुद्ध संस्कृत में वृहद् बौद्ध साहित्य उपलब्ध था। यह सचमुच बड़ी विचित्र-सी बात है कि एक मंजुश्री मूलकल्प को छोड़कर एक भी बौद्ध धर्म संबंधी रचना भारत की सीमा के भीतर प्राप्त नहीं हुई। बौद्ध-साहित्य के भारत से इस प्रकार संपूर्ण रूप से लोप हो जाने के मुख्य कारण ये हैं :

1. बौद्ध साहित्य का अध्ययन बौद्ध चैत्यों और विहारों में रहने वाले परिव्रजित भिक्षुओं तक ही सीमित रह गया।
2. बौद्ध साहित्य जो प्रधानतः धार्मिक था, पांडुलिपियों के रूप में चैत्यों के कक्षों में सुरक्षित रहा, उसने साधारण जनता के घरों में कभी स्थान नहीं पाया।
3. कालांतर में चैत्यों, विहारों के पतन और उनमें हुई लूट-मार के कारण पांडुलिपियां नष्ट-भ्रष्ट हो गईं।

आज हम जिस बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते हैं, वह हमें भारत के बाहर श्रीलंका, बर्मा, स्याम, नेपाल में स्थापित चैत्यों से प्राप्त हुआ है। चीन और तिब्बत से प्राप्त सूची में उल्लिखित ग्रंथों से इस बौद्ध-साहित्य के विस्तार का पता चलता है। इसके साथ मध्य-एशिया और गिलगित में किया गया पांडुलिपियों का अन्वेषण तथा तिब्बत में महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिये गए पांडुलिपियों के चित्र और प्राध्यापक जी. तुस्सी द्वारा किए गए पांडुलिपियों के संग्रह आदि ने भी इस दिशा में हमारे ज्ञान की काफी वृद्धि की है।

मध्य-एशिया, गिलगित तथा तिब्बत में पाई गई संस्कृत की मूल पांडुलिपियां, जो अधिकतर ईसा की पांचवीं या छठी या उससे पहले की हैं, मध्य-एशिया और गिलगित के बौद्ध स्तूपों तथा चैत्यों के तले बने शिला-कक्षों में और तिब्बत के मंदिरों में सुरक्षित थीं, जहां पर ये अध्ययन हेतु नहीं वरन् केवल पूजा करने के लिए ही रखी गई मालूम होती हैं। उक्त पांडुलिपियों की खोज और अनुसंधान से, बौद्ध साहित्य और उसकी भाषाएं, जिनमें वह लिखा गया, दोनों के विकासक्रम पर काफी प्रकाश पड़ता है। विशेषतः बौद्ध ग्रंथों के अनुवादों से मध्य-एशिया की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मृत बोलियों का हमें पता चला है।

बौद्ध साहित्य के मुख्यतः दो विभाग किए जा सकते हैं—हीनयान साहित्य जो पालि और मिश्रित संस्कृत में रचित हुआ, और महायान साहित्य जो मिश्रित और शुद्ध संस्कृत में लिखा गया। हीनयान और महायान पंथ की विभिन्न शाखाओं के साहित्य को लेकर इसके और भी उपविभाग किए जा सकते हैं।

जीवन-चरित

प्राचीन बौद्ध लेखकों और संकलन-कर्त्ताओं के लिए बुद्ध की जीवनी हमेशा आकर्षण का विषय रही है। बुद्ध की पांच जीवनियां उपलब्ध हैं : 1. महासंघिकों (लोकोत्तरवादियों) की महावस्तु, 2. मिश्रित संस्कृत में रचित सर्वास्तिवादियों का ललितविस्तर, 3. शुद्ध संस्कृत में चमत्कारिक काव्यमय शैली में लिखा गया अश्वघोष का बुद्ध-चरित, 4. जातकों की भूमिका के रूप में शुद्ध पालि में लिखित निदानकथा, और अंत में, 5. धर्मगुप्त का अभिनिष्क्रमण-सूत्र जो संभवतः सूत्र रूप में मिश्रित संस्कृत में था, पर जिसके चीनी अनुवाद का ही पता लगा है। 'रोमांटिक लिजेंड ऑफ दी शाक्य बुद्ध' के शीर्षक से बील महोदय ने उसका अंग्रेजी रूपांतर (1875) किया है। इनके अतिरिक्त बुद्ध के जीवन की अन्यान्य घटनाओं का वर्णन भी, पालि और संस्कृत के 'विनय' तथा निकायों में मिलता है। उदाहरण के लिए 'महापदानसुत्त' पूर्व बुद्धों की, विशेषतः गौतम बुद्ध के अनुरूप समझे जाने वाले विपस्सी की जीवनी से संबंध रखता है। अरिय-परियेसन-सुत्त बोधिसत्व के गृहत्याग से लेकर उनके प्रथम धर्मोपदेश तक की घटनाओं का वर्णन करता है। महापरिनिब्बाण-सुत्त बुद्धदेव की अंतिम यात्रा और दहनक्रिया तथा उनके भौतिक अवशेषों के बंटवारे का पूरा विवरण देता है। इसी प्रकार से सुत्तनिपात, अपदान और महावंस के खंडों में भी बुद्ध की जीवनी संक्षेप में कही गई है।

परवर्ती काल की एक पालि काव्य-रचना महाबोधिवंस उपलब्ध है। इसमें उन 24 बुद्धों के विषय में गाथाएं कही गई हैं, जिनके जीवनकाल में, गौतम बुद्ध ने बोधिसत्व बनने के लिए आवश्यक गुण और योग्यताएं

प्राप्त कीं।

45 वर्षों से अधिक समय तक किए गए बुद्ध के धर्मप्रचार के कार्यों का एक सही चित्र जातक कथाओं के भूमिका-भागों में और पांच निकायों तथा विनय-पिटक के सुत्तों में देखने को मिलता है।

बुद्ध की उपर्युक्त पांच जीवनियों में सबसे व्यवस्थित है 'ललितविस्तर'। उसकी गंभीर ध्वन्यात्मक गाथाएं बड़ी ही हार्दिकता से प्रस्तुत की गई हैं, यद्यपि उसमें से कुछ वर्णनात्मक गद्य और पद्य अंश कुछ अस्वाभाविक लगते हैं फिर भी यह मान्यता है कि वे महापुरुष के प्रति श्रद्धा और भक्ति जगाने में सफल हैं। 'ललितविस्तर' के बाद 'महावस्तु' का नाम आता है, जिसमें भिन्न-भिन्न परंपराओं के अनुसार बुद्ध के जीवन की घटनाएं कही गई हैं। किंतु इसमें घटनाओं का सिलसिला बंधा नहीं है, शैली प्राचीनता का पुट लिये हुए है। फिर भी इसका यह महत्व है कि इसमें बुद्ध के जीवन की घटनाओं को उनके पूर्वजन्म की कथाओं पर आधारित कर प्रस्तुत किया गया है। पूर्वजन्म से संबंध जोड़ने की यह प्रथा प्राचीन लेखकों में साधारणतः प्रचलित थी। निकाय और विनय, यहां तक कि मूल सर्वास्तिवादियों की 'विनय' भी इस प्रभाव से बच नहीं सकी है। अभिनिष्क्रमण सूत्र के संबंध में कोई विचार करना सरल नहीं है क्योंकि उसका मूल ग्रंथ अप्राप्य है। बील महोदय ने उसका जो संक्षिप्त अंग्रेजी रूपांतर किया है उससे इतना कहा जा सकता है कि उसका स्थान 'महावस्तु' की अपेक्षा 'ललितविस्तर' के निकट होने योग्य है। 'महावस्तु' की भांति उसका प्रारंभ हुआ है और 'ललितविस्तर' के ही अनुकरण में अंत में, धर्मप्रचार के दिनों के बुद्धदेव के विशिष्ट कार्यों को, जातक कथाओं द्वारा पोषित किया गया है। जीवनी के संपादक ने कुछ घटनाओं पर विशेष ध्यान दिया है और उस नाते, वह या तो महासंघिकों या काश्यपीयों या महास्थविरवादियों की परंपरा में चल पड़ा है। पालि में रचित निदानकथा का कुछ अपना ढंग है। वह उन चार बुद्धों का विस्तृत विवरण देती है, जिनके जीवनकाल में बोधिसत्व ने भिन्न–भिन्न रूप धारण कर जन्म लिया था और बुद्धत्व प्राप्ति की आवश्यक योग्यता अर्जित की थी। महावस्तु की भांति इसमें भी,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जातक-कथाओं का उल्लेख मिलता है, परंतु कहानियां विस्तार से प्रस्तुत नहीं की गई हैं।

जीवनियों में 'बुद्ध-चरित' का अपना स्थान है। बुद्ध के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं को छोड़कर इसमें अन्य जीवन-चरितों की कोई बात नहीं पाई जाती है। काव्य की कथा प्रथम संगीति के अधिवेशन तक चलती है और पालि परंपरा के अनुकूल इसमें गौतम बुद्ध ऐसे मानव की तरह चित्रित हैं जो बीते जन्म के संचित पुण्यों के कारण अब पूर्णत्व को पहुंच पाए। काव्य की दृष्टि से बुद्ध-चरित बौद्ध साहित्य में अद्वितीय है।

महावस्तु

महावस्तु मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ (1325 मुद्रित पृष्ठों का) एक विस्तृत ग्रंथ है। महासंघिकों की लोकोत्तरवादी शाखा के विनय-पिटक की वह प्रथम पुस्तक मानी जाती है। महासंघिक उन भिक्षुओं का प्रथम दल है जो बुद्ध के परिनिर्वाण की एक शताब्दी बाद, कट्टर थेरवादी या स्थविरवादियों के वर्ग से अलग हो गया था। महासंघिक दल का निवासस्थान प्रायः वैशाली और पाटलिपुत्र ही रहा, पर कालांतर में भिक्षुओं ने आंध्र राज्य के गुंटूर जिले में, अमरावती और नागार्जुनकोंडा में अपना निवास बदल लिया।

महावस्तु की भाषा और शैली, उसे ईसा-पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी की रचना ठहराती है।

प्राच्य-विद्या के जिन विशेषज्ञों ने इसका अध्ययन किया है, उनमें अधिकतर विद्वानों का यह विचार है कि यह एक अव्यवस्थित रचना है जिसमें बहुत सारे ऐतिहासिक तथ्यों और काल्पनिक गाथाओं की खिचड़ी मिलती है। इस आलोचना में आंशिक सत्य है, यद्यपि यह मानना होगा कि इसमें बिखरी पड़ी अन्यान्य घटनाएं एक-दूसरे से सर्वथा असंबद्ध भी नहीं हैं। आगे यह दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा कि 'महावस्तु' के संकलनकर्त्ता ने शाक्यमुनि के जन्म और उनके पूर्वजन्म संबंधी बहुतेरी काल्पनिक गाथाओं और परंपराओं को किस ढंग से संजोकर प्रस्तुत किया है।

रचना के प्रारंभ में, लेखक, महामौद्गल्यायन द्वारा देखे गए नरक और वहां की यातनाओं का वर्णन करता है। इसके बाद वह उन चार चर्याओं का उल्लेख करता है जिनको बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति अनिवार्य रूप में अपनाता है। प्रथम चर्या प्रकृतिचर्या कहलाती है जिसके साधक माता-पिता, श्रमण, ब्राह्मण और वृद्धों के आज्ञाकारी सेवक होते हैं, अच्छे कर्म करते हैं, दूसरों को दान देने के लिए उपदेश देते हैं और बुद्धों की पूजा करते है। चर्यावस्था में रहने वाला व्यक्ति साधारण व्यक्ति ही है, वह बोधिसत्व की कोटि में नहीं आता। अपराजितध्वज बुद्ध होने के समय से शाक्यमुनि ने इस चर्या का अभ्यास किया था।

दूसरी चर्या प्रणिधि या प्रणिधान कहलाती है। इस अवस्था में जीव, संबोधि प्राप्त करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। शाक्यमुनि बुद्ध के रूप में अपने कई प्रकार के अस्तित्व में शाक्यमुनि ने पांच बार ऐसी प्रतिज्ञा की थी।

तीसरी चर्या—अनुलोम—में पिछली चर्या की क्रियाओं को ही आगे बढ़ाया जाता है और बुद्ध बनने के लिए आवश्यक गुणों को प्राप्त किया जाता है। शाक्यमुनि ने इस चर्या को तब आरंभ किया था जब वे समितावी बुद्ध थे। दूसरी और तीसरी चर्याओं में बोधिसत्व जातकों में बतलाए गुणों को प्राप्त करता है और क्रमशः पहली भूमि से लेकर आठवीं तक बढ़ता जाता है। राजकुमार कुस के रूप में जब शाक्यमुनि ने जन्म लिया तब वे सातवीं भूमि पर पहुंचे थे।

चौथी या अंतिम चर्या अविवर्त या अनिवर्तन कहलाती है और यह अवस्था बोधिसत्व के आठवीं भूमि पर पहुंचने के साथ आरंभ होती है। इधर आकर फिर लौटने की संभावना ही नहीं रहती। शाक्यमुनि का मेघमानव के रूप में जब पुनर्जन्म हुआ था तब वे दीपंकर बुद्ध के समय, इस चर्यावस्था में पहुंचे और संबोधि-प्राप्ति की सफलता पर उनसे आशीर्वाद भी पाया। सर्वाभिभू बुद्ध ने भी उनकी सफलता का अनुमोदन किया था जब शाक्यमुनि अभिय या अभिजी भिक्षु बनकर जनमे। आठवीं और नौवीं भूमि को पार करने के लिए बोधिसत्व को कई बार जन्म लेना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

पड़ा। अंत में जब वे दसवीं भूमि पर पहुंचे तो उन्होंने ज्योतिपाल-मानव का जन्म लिया, जिसमें काश्यप बुद्ध से उन्हें यौवराज्याभिषेक दिया गया और वे तुसित-देवलोक के देवाधिदेव बने। गया में बोधिवृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध बनने पर उनकी दसवीं भूमि पूर्ण हुई।

भूमियों की बात कहने के बाद 'महावस्तु' का लेखक, बोधिसत्त्व के रूप में दीपंकर के अंतिम अस्तित्व की कहानी को लेता है जो शाक्यमुनि की जन्म कहानी के बिल्कुल अनुरूप है। बोधि-प्राप्ति करके दीपंकर, एक विद्वान ब्राह्मण विद्यार्थी मेघमानव से मिले और उनसे कहा कि वे गौतम बुद्ध बनेंगे। इसी प्रकार की भविष्यवाणी मंगल बुद्ध ने भी की थी, जब हमारे बोधिसत्व अतुल नागराज के रूप में जनमे थे।

जीवन-चरित का सिलसिला यहां आकर टूटता है। सहसा गौतम बुद्ध के धर्म-प्रचार के जीवन की एक घटना यहां दी जाती है।

वज्जियों और लिच्छवियों की नगरी वैशाली में एक भयंकर संक्रामक रोग फैला था जो कि गौतम बुद्ध के उस नगर में पदार्पण करते ही मिट गया। इसी चमत्कारिक घटना का यहां वर्णन है। बुद्ध-धर्म के विरोधी आचार्य जहां रोग को दूर करने में असमर्थ हुए वहां बुद्धदेव ने पालि के रतनसुत्त का संस्कृत में पाठ करके, रोग पर ही नहीं, उन विरोधी आचार्यों पर भी विजय पाई।

यहां पर संकलनकर्ता राजकुमार सिद्धार्थ के माता-पिता के शाक्य और कोलिय वंश की परंपरा का भी वर्णन करता है। विश्व की उत्पत्ति और तब के आदिम निवासी तथा प्रथम महाराज के रूप में महासम्मत के चुनाव आदि का वृत्तांत भी चलता है। कोलिय और शाक्य महासम्मत के ही वंशज थे।

महावस्तु का यह समूचा भाग निदानकथा के दूरे-निदान से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है। फर्क इतना ही है कि यहां पर प्रकृतिचर्या में रहे बोधिसत्व की कहानी को उनके पूर्व-बोधिसत्व के अस्तित्व तक विस्तार दिया गया है।

राजकुमार सिद्धार्थ की सच्ची जीवनी महावस्तु के द्वितीय खंड में

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाई जाती है और वह निदान कथा के 'अविदूरे निदान' जैसी है। निम्नलिखित शीर्षकों में जीवनी का वृत्तांत प्रस्तुत है--अवतरण के लिए, बोधिसत्व का परिवार, देश, स्थान और काल का चुनना,

लुंबिनी वन में उनका जन्म,
असित ऋषि का आगमन,
कृषिग्राम में बोधिसत्व की समाधि,
पराक्रम-प्रदर्शन और विवाह,
स्वयंभू होकर भी यशोधरा के पुत्र के रूप में राहुल का प्रकट होना।

एक दूसरी परंपरा के अनुसार, ऊपर बताई ये ही बातें, कुछ भिन्न ढंग से दी गई हैं। अर्ध-महायान-पद्धति के दो अवलोकित-सूत्र जिनमें से एक पद्य में, संक्षिप्त रूप में है, उक्त बातों को कहता है। बोधिसत्व के निरंजना नदी के पार पहुंचने और मार पर विजय पाने के साथ यह खंड समाप्त होता है।

महावस्तु का तृतीय खंड निदान-कथा के 'संतिके-निदान' जैसा है। त्रिकभोजन नियम के बारे में एक उल्लेख करके इसमें प्रथमतः महाकाश्यप के धर्म-परिवर्तन का वर्णन आता है। त्रिकभोजन नियमानुसार निमंत्रित स्थान पर एक समय, तीन भिक्षुओं से अधिक मिलकर भोजन नहीं कर सकते थे।

महाकाश्यप की दीक्षा के वर्णन के बाद, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, महाराज शुद्धोदन, महाप्रजापति, यशोधरा, राहुल तथा उपालि समेत अन्य शाक्य युवकों की दीक्षा का विवरण दिया गया है। बीच में एक बहुबुद्ध-सूत्र का उल्लेख करके बुद्ध के कपिलवस्तु जाने की कहानी आगे कही गई है। इसके बाद वृत्तांत एकाएक उन सात सप्ताहों की ओर चल पड़ता है जो बोधि-प्राप्ति के बाद बुद्ध ने बिताए। उनके धर्म-प्रचार का ब्यौरा बाद में आता है जिसमें राजगृह में बिंबिसार महाराज की दीक्षा का भी वर्णन आता है।

निदानकथा

निदानकथा पालि में उपलब्ध गौतम बुद्ध की एकमात्र जीवनी है और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जातक कथाओं की टीका की भूमिका के रूप में रची गई है। इसके लेखक का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है यद्यपि उसमें अज्ञात लेखक तीन भिक्षुओं का नाम लेता है: अट्ठदरशी, एक साधु, महीसासक संप्रदाय के बुद्धमित्त और बुद्धदेव, एक प्रतिभावान एक भिक्षु, जिसने लेखक को जातक की टीका लिखने की प्रेरणा दी।

जीवनी के वर्गीकरण के बारे में संकलनकर्ता का कहना है कि दीपंकर बुद्ध के समय से लेकर उनके जन्म तक, तुसित देवता के रूप में बोधिसत्त्व का अस्तित्व है। वह 'दूरे निदान' का विषय है। तुसित स्वर्ग से, बोधगया में अंतिम मुक्ति प्राप्ति के लिए उतर आने की बात 'अविदूरे निदान' में कही गई है। बुद्ध के धर्म प्रचार के प्रारंभिक काल को लेकर सावत्थी में उनकी अनाथपंडिक और विशाखा से भेंट तक का विवरण 'संतिकेनिदान' में दिया गया है।

'दूरे निदान' सुमेध ब्राह्मण की जीवनी से प्रारंभ होता है। एक धनी कुलीन ब्राह्मण वंश में, अमरावती में सुमेध का जन्म हुआ था, पर उनके बचपन में ही मां-बाप चल बसे। उन्होंने ब्रह्म-विज्ञान की शिक्षा ली। माता-पिता की छोड़ी संपत्ति से नितांत असंतुष्ट होकर उन्होंने सारी दान कर दी और संन्यास ग्रहण कर लिया। जन्म और मरण, सुख और दुख, रोग और वेदना से परे की अमत-महानिब्बाण अवस्था की खोज में वे चल पड़े। उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ है, इसके दो पहलू हैं—सत् और असत्। इसलिए जन्म-दुख से मुक्त होने के लिए कोई अजन्मी वस्तु भी जरूर होगी। उसी वस्तु से साक्षात्कार करने का निश्चय करके, वे ध्यान करने हिमालय गए। वहां धम्मक पहाड़ में उन्होंने अपना निवास बनाया और केवल पेड़ों से गिरे फलों को खाकर, जीवन-यापन करते रहे। शीघ्र ही पांच अभिञ्ञा और समाधि में उन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई।

इसी समय दीपंकर बुद्ध सीमांत देश में रम्मक नगर पहुंचे थे और सुदस्सन-महाविहार में रुके थे। सुमेध-तापस ने देखा कि बुद्ध के स्वागत के लिए नगर को स्वच्छ और शुद्ध बनाने में हर कोई व्यस्त है और वह तुरंत उस काम में हाथ बंटाने स्वयं भी आगे बढ़े। बुद्ध के दर्शन की

दिव्यता ने उन्हें अभिभूत कर लिया और उनके मन में आया कि बुद्ध के लिए अपने प्राण ही चढ़ा दें। कीचड़ पर बुद्ध पैर न रखें, इसलिए वे मणिफलक सेतु की तरह उस पर सीधे लेट गए और बुद्ध तथा उनके अर्हत् शिष्यों को अपने ऊपर से चलने दिया। जब वह इस तरह से लेटे थे, तब उन्होंने इच्छा की कि वह अपनी मुक्ति पाने से बच जाएं और स्वयं बुद्ध बन जाएं, जिससे कि वह अनगिनत जीवों को अस्तित्व की धारा से मुक्त कर सकें। तब दीपंकर ने भविष्यवाणी की कि बड़े साधु जटिल अनेक जन्मांतरों के बाद स्वयं बुद्ध बन जाएंगे और उन्होंने विवरणपूर्वक कहा कि वह कहां जन्म प्राप्त कर सकेंगे और उनके कौन प्रमुख शिष होंगे? कई चमत्कारों द्वारा जिनमें एक भूकंप भी था, यह भविष्यवाणी सच निकली, और इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि सुमेध बुद्ध-बीजंकुर था। उसने भी यह जान लिया और अपनी अभिञ्ञा से जान लिया कि उसे दस पारमिताओं को प्राप्त करना चाहिए, जो कि पुराने बोधिसत्वों ने बुद्धत्व–प्राप्ति के लिए प्राप्त की थीं।

दीपंकर बुद्ध के बहुत समय बाद बुद्ध कोंडञ्ञ रम्मवती नगर में आया। उस समय हमारे बोधिसत्व ने विजितावी चक्रवर्ती के नाते पुनर्जन्म ग्रहण किया और उसने बुद्ध और संघ को बड़े अनुदान दिए। बुद्ध कोंडञ्ञ ने जब यह भविष्यवाणी दुहराई कि वह बुद्ध बनेगा, तब उसने उसके उपदेश सुने थे और वह स्वयं एकांतवास ग्रहण करने लगा। उसने तीनों पिटको में वर्णित अष्ट प्रकार की संपत्ति को प्राप्त किया। पांच अभिञ्ञाएं भी प्राप्त कीं और फिर वह मर गया और उसने ब्रह्मलोक में पुनर्जन्म लिया।

इस प्रकार से निदानकथा में एक के बाद एक इक्कीस बुद्धों के बोधिसत्वों के अस्तित्व और रूपों की कहानियां हैं। इनमें से तीन थे: ककुसंघ, कोणागमन और कस्सप। 'दूरे निदान' विभाग में जातकों की एक सूची है, जिसमें बोधिसत्व के दस पारमिताओं में संपूर्णत्त्व को व्यक्त किया गया है।

'मध्य युगांतर' के आरंभ में बोधिसत्व को तुसित स्वर्ग के रूप में दिखाया गया है। उनसे देवताओं ने प्रार्थना की कि इस भौतिक जगत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

में वे बुद्ध बनकर आएं। उन्होंने स्वीकार किया और समय, स्थान, परिवार, माता, जीवन की आयुमर्यादा आदि बातें उन्होंने अपने आप चुनीं। शेष कहानी उनके अवतरण के पश्चात बोधि-प्राप्ति तक, महावस्तु और ललितविस्तर में दी गई परंपराओं के अनुसार है।

'संतिके निदान' बोधि-प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही सात सप्ताह में घटित होता है। उसके बाद तपुस्स और भल्लिक साधारण भक्त की तरह से स्वीकार किए जाते हैं और स्तूप निर्माण में उन्हें बाल स्मृति चिन्हों की तरह दिए जाते हैं। ऐसा भी उल्लेख है कि बुद्ध अपने सिद्धांतों का उपदेश देने में हिचकिचाते थे। उसके बाद बुद्ध वाराणसी गए, जहां उन्होंने पांच ब्राह्मण संन्यासियों को अपने सिद्धांतों की विशेषताएं समझाईं और धम्मचक्क तथा अनत्त-लक्खण नामक उपदेश दिए। इसके बाद उन्होंने यश और उसके मित्रों को बौद्ध दीक्षा दी। धीरे-धीरे शिष्यों की यह संख्या साठ तक पहुंची। उन्हें बुद्ध ने विविध दिशाओं में अपने उपदेश प्रचारित करने के लिए भेजा और स्वयं उरुवेला में गए और अपने अग्नि-सूक्त से तीन जटिल कस्सपों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी।

राजा शुद्धोदन ने उन्हें कपिलवस्तु में आने के लिए बुलाया, जहां उन्होंने शाक्यों के सामने अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिए चमत्कार करके दिखलाए। वह उस नगर के आस-पास अपने शिष्यों को लेकर, अन्न की भिक्षा मांगते हुए घूमे। राजा और यशोधरा इस भिक्षा की बात से दुखी हुए, परंतु उसे रोक नहीं सके। यशोधरा अपने महल में ही थी और उनका स्वागत करने बाहर नहीं आ सकी, इसलिए स्वयं बुद्ध अपने चार शिष्यों के साथ उसके पास गए। उसने कहा कि अपने स्वामी के लिए उसने क्या-क्या त्याग किए हैं। इससे चंड-किन्नर जातक में वर्णित उसके पूर्वजन्म की बात निकली।

इसके बाद तो सर्वत्र वर्णित राहुल के और राजपुत्र नंद के सिंहासन ग्रहण और विवाह से पूर्व बौद्ध धर्म ग्रहण करने का वृत्तांत है। इसके पश्चात बुद्ध और अनाथपिंडिक के राजगृह में मिलने की कथा है। जेतवन के खरीदने और उस पर मठ-निर्माण की कथाएं हैं। यह बुद्ध-जीवनी श्रावस्ती में आकर समाप्त होती है, जहां कि व्यापारी अनाथपिंडिक संघ को सदा के लिए विहार दान में देते हैं।

बुद्ध के उपदेश

पालि सुत्त-पिटक

बुद्ध के उपदेश सुत्त-पिटक में हैं, जिसके पांच निकाय हैं : दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक। संयुत्त और अंगुत्तर को छोड़कर अन्य निकायों के शीर्षकों का अंतर, अंदर के लेखन से मिलता हुआ ही हो, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ दीघ में कुछ लंबे सुत्त हैं, परंतु कई बहुत छोटे भी हैं, और कुछ तो मज्झिम के सुत्तों से भी छोटे हैं। इसमें दो सुत्त हैं: संगीति और दसुत्तर, जिन्हें अंगुत्तर में स्थान मिलना चाहिए था। मज्झिम में कई सुत्त हैं जो दीघ से भी बड़े बड़े हैं। कई सुत्तों के ऐसे वर्ग हैं यथा राजवग्ग, ब्राह्मणवग्ग, तथा विभंगवग्ग, जो कि संयुत्त में होते तो अधिक उत्तम होता। यह मानना होगा कि मज्झिम और संयुत्त की पद्धति और शैली बहुत भिन्न है। संयुत्त में सुत्तो का वर्गीकरण एक सामान्य नाम के नीचे किया गया है, उसमें विभिन्न विषयों के उल्लेख नहीं हैं। अंगुत्तर में शीर्षक ठीक है, क्योंकि विचार-वस्तु संख्या के अनुसार सूत्रबद्ध है। कई बार संख्यानुसार विभाजन को कायम रखने के लिए वर्ग और उपवर्ग अधिक खींच-तान कर रखे गए हैं। इसमें विनय के विषय भी आए हैं, जहां-जहां वे संख्याकार विभाजन में आ सके हैं। खुद्दक--निकाय का शीर्षक बिल्कुल सार्थक नहीं है, यदि 'खुद्दक' का अर्थ 'छोटा' लिया जाए। कदाचित उद्देश्य यह था कि सब सुत्त, पाठ, भाष्य, जो इन चार निकायों में नहीं आ सके, उन्हें एक सहायक ग्रंथ के रूप में ग्रथित किया जाए।

सुत्तों का निकायों में विभाजन आरंभिक काल की भाणक पद्धति के कारण हुआ होगा। तब लेखन तो लोगों को मालूम नहीं था। अतः बुद्ध के वचन, उनके शिष्य जमा करते थे। कुछ भिक्षु लोग उन्हें याद कर लेते थे, और मौखिक परंपरा से वे शिष्यों को प्राप्त होते थे। इन शिष्यों के शायद दो पंथ थे, जो अपने अंतर को स्पष्ट करने के लिए दीघ-भाणक और मज्झिम-भाणक कहलाते थे। बाद के दो निकाय कुछ समय के बाद विकसित हुए; उनका उद्देश्य रहा होगा दीघ और मज्झिम में जो विविध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय थे उनको पुनर्व्यवस्थित करना। सब निकायों का विस्तार से परिचय देना संभव नहीं, अतः यहां केवल दीघ निकाय का परिचय दिया जा रहा है।

दीघ-निकाय में तीन खंड हैं जिनमें 34 सुत्त हैं। इनमें से 16 कुछ लंबे कहे जा सकते हैं। प्रथम सुत्त, ब्रह्मजाल के दो हिस्से हैं। पहले में सारे अंधविश्वासों की गणना की गई है और लोकप्रिय खेल और मनोरंजन का ब्यौरा दिया गया है। दूसरे में कई प्रकार के सैद्धांतिक और दार्शनिक मत-विश्वास, जो उस समय में प्रचलित थे, दिए गए हैं। दूसरे सुत्तंत सामञ्ञफल में भी दो हिस्से हैं। पहले में छः नास्तिक आचार्यों के सिद्धांतों की विवेचना है, और दूसरे में बौद्ध संघ के एक भिक्खु द्वारा क्रमशः विकसित होते जाने पर क्या-क्या लाभ मिलते हैं, यह बताया गया है। अगले तीन सुत्तंत—अंबट्ठ, सोणदंड, और कूटदंत—में अधिकतर इस ब्राह्मण धर्मीय विचार के अन्याय की चर्चा है कि ब्राह्मणों को जन्मना कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। बुद्ध द्वारा दिखाए गए जीवन के आदर्श की महत्ता तुलनाओं द्वारा व्यक्त की गई है। छठे (महालि), सातवें (जालिय), दसवें (सुभ) और बारहवें (लोहिच्च) सुत्तंत सामञ्ञफल के विषयों पर, कुछ रूप बदलकर घूम-फिरकर लौट आते हैं।

ग्यारहवां सुत्त (केवट्ट) दिखाता है कि ब्रह्म जिन देवताओं के अध्यक्ष हैं, उनसे बुद्ध श्रेष्ठ हैं, क्योंकि एक प्रश्न का उत्तर जो ये देवता न दे सके, बुद्ध ही दे सके हैं। यहां हमें दिखाया गया है कि ब्रह्म उस प्रश्नकर्ता को दूर ले जाते हैं और बताते हैं कि अन्य देवताओं के सामने वह कैसे कहें कि उन्हें उस प्रश्न का उत्तर नहीं आता। बाद में वही प्रश्न बुद्ध से पूछा गया।

अष्टम (कस्सप-सीहनाद) सुत्तंत में बुद्धकालीन प्रचलित कई प्रकार की संन्यासधर्मीय पंथों की और उनके आचारों की चर्चा है, जब कि नवम (पोट्ठपाद) में परिव्राजकों को दिए जाने वाले उपदेश संग्रहीत हैं। ये दोनों सुत्तंत उन फलों का वर्णन करते हैं, जो कि बौद्धों ने पवित्राचारों द्वारा प्राप्त किए हैं। तेहरवें (तेविज्ज) सुत्तंत में इस विचार का खंडन है कि वैदिक ऋषियों के बताए हुए मार्ग और साधनों के द्वारा

ब्रह्मलोक तक पहुंचा जा सकता है। उसमें यह भी बताया गया है कि आत्मसंयम और चार ब्रह्मविहारों को मानने से ब्रह्मलोक–प्राप्ति सहज है। ये ब्रह्मविहार हैं : मैत्री, करुणा, दूसरों के यश पर आनंद और समता।

दीघ-निकाय के दूसरे खंड में वे सुत्तंत दिए हैं, जिनके शीर्षक के पीछे 'महा' शब्द लगा हुआ है। प्रथम सुत्तंत महापदान है। वह गौतम बुद्ध के पहले के सात बुद्धों की जीवनी से संबद्ध है और उसमें विपस्सी के जीवन को ब्यौरेवार वर्णित किया गया है। विपस्सी शाक्यमुनि के जीवन का प्रतिरूप मात्र है। महानिदान, जैसे कि उसके नाम से स्पष्ट है, कार्य-कारण के नियम का विवरण देता है और विविध प्रकार के जीवों का वर्णन भी देता है। इस निकाय का सर्वोत्तम सुत्तंत है महापरिनिब्बाण, जिसमें बुद्ध के जीवन के अंतिम दिनों का यथार्थवादी वर्णन है। विशेषतः महत्त्वपूर्ण उन गांवों के नाम हैं, जिनमें से होते हुए वह कुशीनगर पहुंचा और वह अंतिम उपदेश भी उसमें है, जो उसने संघ की भलाई के लिए दिया। उसने सिद्धांत, ध्यान, ज्ञान, मुक्ति आदि पर जोर दिया और बुद्ध-वचन की अधिकारिकता को सिद्ध करने वाले चार नियम बनाए।

साधारण भक्तों के लिए उसने कपिलवस्तु, गया, वाराणसी और कुशीनगर की यात्रा करना आवश्यक है, ऐसा लिखा है। उसके अंतिम शब्द थेः 'वयधम्मा संखार अप्पमादेन सम्पादेय' (सब वस्तुएं व्यय-धर्मी अर्थात नष्ट होने वाली हैं। अतः अप्रमाद से अपने कर्मों का संपादन करो)। इस सुत्तंत में बुद्ध के शरीर के अंतिम संस्कार का स्पष्ट विवरण है, और उनके धातुओं के विभाजन का भी वर्णन है।

17वें से 21वें सुत्तंतों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि काशी– कोसल, वज्जी-मल्ल, चेति-वंस, कुरु-पंचाल, मच्छ-शूरसेन और अंग-मगध के कई निवासी बुद्धानुशासन को मानने वाले थे, अतः स्वर्ग में प्रवेश पाने वालों की संख्या बढ़ गई। पांच सुत्तंतों में से महासुदस्सन महापरिनिब्बाण की ही शाखा है। महागोविंद एक पूर्व काल की कथा है और इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भारत की तुलना एक रथ से की गई है और उसे सात प्रांतों में विभाजित किया गया है, उदाहरणार्थ कलिंग, पोतन, अवंती, सोवीर, विदेह, अंग और काशी। यह सुत्तंत महावस्तु में भी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आता है। तेविज्ज-सुत्तंत की भांति इसमें भी चार ब्रह्म-विहारों के पालन का माहात्म्य वर्णित है।

इस ग्रंथ के अंतिम दो सुत्तंत हैं : महासतिपट्ठान और पायासी। पहले में ध्यान मार्ग का विस्तार से वर्णन है। इसमें स्मृति (सति) को सचेत (उपत्थान) रखने का और अपने शरीर और भावना को जो कुछ हो रहा हो, उससे संतुलित रखने का उपदेश है। इसमें यह भी लिखा गया है कि कर्तव्य-कर्म कैसे किए जाएं और बुद्ध द्वारा बताए गए सद्गुणों को कैसे विकसित किया जाए। दूसरा सुत्तंत एक खत्रिय (क्षत्रिय) आचार्य और दार्शनिक के नाम पर है। पायासी इस भौतिकवादी सिद्धांत को मानता था कि मृत्यु के बाद कोई पुनर्जन्म नहीं है और किसी भी जीव के अच्छे या बुरे कर्म किसी परिणाम के उत्पादक नहीं होते। इस मत का कुमार-कस्सप ने खंडन किया। कुमार-कस्सप बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य थे।

तीसरे खंड में ग्यारह सुत्तंत हैं, जिनमें से पहले चार (24-27) में अधिकतर बौद्धेतर मतों और तापसों की क्रियाओं का वर्णन है। इस सुत्तंत में ब्रह्मजाल सुत्तंत से कुछ बौद्धेतर मत पुनरुद्धृत किए गए हैं। ये मत पृथ्वी के आरंभ के विषय में हैं। बाद के सुत्तंत (उदंबरिक-सीहनाद) में कठोर आत्मपीड़क तापसों की क्रियाओं के बुरे नतीजे वर्णित किए गए हैं, जब कि चक्कवत्ति-सीहनाद सुत्तंत बौद्धों को संयमित होने के लिए और धम्म को अपना प्रधान आधार बनाने के लिए आदेश देता है। यद्यपि बुद्ध पृथ्वी के आरंभ के विषय में कोई भी अनुमान करना पसंद नहीं करते थे, फिर भी अग्गञ्ञ सुत्तंत में स्पष्ट किया गया है कि संसार का आरंभ कैसे हुआ और वहां ब्राह्मण की जन्मना श्रेष्ठता का विरोध है।

आगे के दो सुत्तंतों में यानी संपसादनिय और पासादिक में बुद्ध के उपदेशों और नैतिक आदेशों का सारांश है। दूसरे सुत्तंत का आदेश तब दिया गया था जब निगंठ नातपुत्त की मृत्यु के बाद उसके अनुयायियों में मतभेद हो गए थे, और इस कारण से उसमें ये तीन बातें हैं: (1) उद्दक रामपुत्त के मत का उल्लेख, (2) सुखल्लिकानुयोग शब्द, जो धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त में है, का स्पष्टीकरण (3) कुछ प्रश्नों को बुद्ध द्वारा अनुत्तरित छोड़ने का कारण।

लक्खण-सुत्तंत में विस्तार से वे सब कर्म दिए हैं, जिनसे महापुरुष के बत्तीस लक्षण प्राप्त हो सकते हैं।

सिंगालोवाद-सुत्तंत इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि सर्वसाधारण अनुयायियों के लाभ के लिए बुद्ध ने यही एकमात्र विशद उपदेश दिया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह अशोक के धम्म का मूल स्रोत है। आटानाटिय सुत्तंत अकेले भिक्षुओं को दुष्ट यक्षों से बचने के लिए जादू-मंत्र की तरह से है।

अंतिम दो सुत्तंतों में अंगुत्तर निकाय की तरह से बुद्ध के उपदेशों का सार है। इनमें दसुत्तर अंतिम है और उसमें संक्षिप्त सूत्रात्मक पद्धति अपनाई गई है।

धम्मपद

धम्मपद विश्व साहित्य का भाग है। वह बौद्ध और बौद्धेतर देशों में एक-सा लोकप्रिय है। इसमें बौद्ध धर्म के उपदेश ग्रथित होने पर भी इसके विश्वात्मक और सर्वव्यापी विचार हैं। इसमें 423 गाथाएं हैं, जो 26 वग्ग या अध्यायों में विभाजित हैं, और दक्षिण एशिया के बौद्ध देशों में प्रत्येक तरुण भिक्षु को ये सूत्र कंठस्थ हैं। इसका छंदमय रूप होने से यह सहज स्मृति में रह सकता है।

धम्मपद का अर्थ स्पष्ट है। इसे इस पुस्तक में ही धार्मिक वाक्य या शब्द के नाते प्रयुक्त किया गया है। बौद्ध लोग कहते हैं कि बुद्ध के उपदेश इसी ग्रंथ में संक्षेप में दिए गए हैं, चूंकि बौद्ध दर्शन के और बौद्ध जीवन पद्धति के प्रमुख सिद्धांत इसमें विवेचित हैं।

इस छोटे-से ग्रंथ में, अन्य बौद्ध ग्रंथों की भांति, सब प्रकार के यज्ञ-यज्ञादि और अन्य आत्म-प्रपीड़क हठयोगों की निंदा है, और इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह शील समाधि और पञ्ञा (प्रज्ञा) से विकसित होता है। बुद्ध के उपदेश संक्षेप में यों हैं: "सारी बुराइयों से बचो, जो अच्छा है उसे जमा करो और मन को शुद्ध करो" (183)। कौन-सा धर्म इससे सहमत नहीं होगा? इसके उपदेश के अनुसार सब

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

निश्चित चीजें क्षणिक हैं, दुख से भरी हैं और इस कारण से 'अनत्ता' या अपनी नहीं हैं। लोगों से कहा गया है कि वस्तुओं के केवल बाह्य आकर्षण पर न जाकर, उनके दुखद पक्ष को भी पहचानें। उसमें अविद्या को सबसे बड़ी अशुद्धि (243) कहा गया है, और यह कहा गया है कि तृष्णा या आसक्ति के अंत से ही दुख का अंत होगा। लोभ, ईर्ष्या, भ्रांति आग की तरह खतरनाक बताई गई हैं, और जब तक उन्हें न रोका जाए, यह संभव नही कि सुखी जीवन बिताया जा सके।

सुखी जीवन की प्राप्ति के लिए हमें दोनों अतिवादों से बचना चाहिए–इंद्रिय-विलास में रत होना और आत्म-प्रपीड़न की राह अपनाना। इसलिए हर एक को मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए। बौद्धों के लिए दिव्य अष्टांग मार्ग का अनुसरण आवश्यक है जो कि बुद्ध संघ और धम्म पर आधारित था। धम्मपद के अनुसार बौद्ध मार्ग की विभिन्न मंजिलों को पाना सारी दुनिया को पाने से बेहतर है (178)। उसमें सब जीवों के उन गुणों की वृद्धि के लिए आग्रह है, जिनसे व्यक्ति स्वयं अपना उद्धार कर सकता है। व्यक्ति को पाप से या अपवित्रता से मुक्त करने में, सिवाय उसके अपने और कोई मदद नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को जानने का प्रयत्न करे। बुद्ध भी बहुत कम मदद कर सकते हैं, चूंकि वे केवल मार्गदर्शक चिन्हों के समान पथ-प्रदर्शक मात्र हैं (276)। इसमें शांति और अहिंसा-युक्त जीवन की प्रशंसा है (129-30, 142) और इसमें लिखा गया है कि "वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता, किंतु अवैर से ही होता है" (5)। इसका उपदेश है कि "अक्रोध से क्रोध को जीतो, बुराई को अच्छाई से, कंजूसपन को दान से, झूठ को सत्य से" (223)। इसमें यह भी कहा गया है कि "दूसरों से कभी कठोरता से न बोलो, क्योंकि वे भी तुम्हारे साथ वैसे ही दुर्वचन कह सकते हैं" (133)।

यह छोटी-सी पुस्तक साहित्यिक गुणों से भरपूर है। इसमें ऐसी सुंदर और यथोचित उपमाएं है कि वे मन को छू लेती हैं: "दुराचारी असंयमी होकर देश का अन्न (राष्ट्र-पिंड) खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है" (308)। "जिस प्रकार फल के वर्ण या गंध को बिना हानि पहुंचाए भ्रमर रस को लेकर चल देता है,

उसी प्रकार मुनि गांव में विचरण करे' (49)। "धर्मग्रंथों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्मग्रंथों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता" (19)। "पुत्र और पशु में आसक्त (चित्त) मनुष्य को मृत्यु वैसे ही ले जाती है, जैसे सोए गांव को (नदी की) बड़ी बाढ़" (287)। "जो राग में रत हैं, वे मकड़ी के अपने बनाए जाले की तरह प्रवाह में फंस जाते हैं, धीर (जन) उसे भी छेदकर, अपेक्षा-रहित हो, सब दुखों को छोड़ प्रव्रजित होते हैं" (347)।

इनके अलावा और भी कई ऐसे पद हैं, जिनमें विश्वात्मक सत्य हैं– सब कालों और सब देशों के लिए सत्य। उदाहरणार्थ–

"बुरे और अपने लिए अहितकर कार्यों का करना आसान है, लेकिन शुभ और हितकर कार्यों का करना बहुत कठिन है (163)।"

"यह संसार अंधा है, थोड़े ही यहां अंतर्दर्शी हैं। जाल से मुक्त पक्षियों की तरह थोड़े ही लोग स्वर्ग को जाते हैं (174)।"

"मनुष्य का जन्म मुश्किल से मिलता है। मनुष्य-जीवन मुश्किल से बना रहता है (182)।"

"मेरे पास न आएगा, यह सोचकर पाप की अवहेलना न करें। बूंद-बूंद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है (122)।"

"दूसरों के दोष देखना आसान है, अपने दोष देखना कठिन (252)।"

"न तो पुष्पों की सुगंध, न चंदन की सुगंध, न तगर या चमेली की सुगंध हवा के विरुद्ध जाती है, लेकिन सत्पुरुषों की सुगंध हवा के विरुद्ध भी जाती है (54)।"

"हे अतुल! यह पुरानी बात है, यह आज की नहीं। चुप बैठे रहने वाले की भी निंदा होती है, बहुत बोलने वाले की भी निंदा होती है, कम बोलने वाले की भी निंदा होती है, दुनिया में ऐसा कोई नहीं जिसकी निंदा न हो (227)।"

ये सब वचन कितने मार्मिक हैं?

ऐसे ही साहित्यिक गुणों वाले और सार्वदेशिक, सर्वजनीन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वकालिक प्रभाव वाले रत्नों का परिणाम है कि यह छोटी-सी पुस्तक एशिया और यूरोप की कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी है।

संस्कृत सद्धर्म-पुंडरीक

सद्धर्म-पुंडरीक महायान बौद्ध धर्म का प्राचीनतम ग्रंथ है। यह अंशतः गद्य और अंशतः पद्य में है। प्राचीन महायान ग्रंथों की जैसी सामान्य रीति है, गद्य-अंश की भाषा खासी अच्छी संस्कृत है, जबकि पद्य की भाषा मिश्रित संस्कृत है। बौद्ध शास्त्र विषयक विचारों और भाषागत विशेषताओं को ध्यान में लें तो इस रचना की तिथि महावस्तु और ललितविस्तर के कुछ बाद की होनी चाहिए, यानी लगभग ईसा की प्रथम शती के आस-पास। उसके सबसे पुराने चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने 286 ईसवी में और कुमारजीव ने 383 ईसवी में किए। दो शती बाद (601 ईसवी में) ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त ने भी उसके अनुवाद किए। नानजिओ के अनुसार, इस मूल ग्रंथ के आठ या नौ चीनी अनुवाद थे, जिनमें से केवल ऊपर बताए तीन अनुवाद उपलब्ध हैं। कुछ चीनी और जापानी बौद्ध पंथों के मूल धर्मग्रंथ वे बने, विशेषतः जापान के तेंदाई और निचिरेन पंथों के, और वह सभी ज़ेन (ध्यान) पंथ के मंदिरों मे पढ़े जाते हैं।

यह मूल पाठ हीनयान से महायान बौद्ध धर्म की संक्रांति के सूचक हैं। ग्रंथ का बहुत-सा भाग यह सिद्ध करने के लिए लिखा गया है कि हीनयान बौद्ध धर्म बुद्धों ने कम बुद्धि वाले वर्गों के समझने के लिए प्रचारित किया, क्योंकि इन छोटे लोगों की समझ में पूरा सत्य नहीं आ सकता था। हीनयान बौद्धों को 37 बोधिपक्षीय धर्मों का पालन सिखाया गया था यानी जो ज्ञान से संबंधित धर्म थे, जिससे कि वे क्लेशावरण से मुक्त हो जाते, और चार आर्यसत्यों और कार्यकारण भाग के नियम को समझ सकते। इस प्रकार से वे पुद्‌गल-शून्यता अथवा अनात्मन की स्थिति पा सकते थे, जिससे कि वे कुछ समय के लिए निर्वाण-प्राप्ति वाले स्थान पर पहुंच जाते। इस ग्रंथ में यह भी लिखा है कि हीनयानवादी, जो इन उपलब्धियों से संपूर्णता प्राप्त कर चुके हैं आगे अपने अगले जन्मों में और प्रयत्न करें, जिससे कि वे उन गुणों को पा जाएं जो बोधिसत्वों को संपूर्ण बुद्धत्त्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक होते हैं। उन्हें धर्म-शून्यता और धर्म-समता की प्राप्ति आवश्यक थी, जिससे कि क्लेशावरण दूर किया जा सके और वे सम्यक्-संबुद्ध बन सकें।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बुद्ध ने दो प्रकार के सत्य क्यों सिखाए? इस ग्रंथ में इसका समाधान है कि हीनयानियों के लिए सिखाया गया सत्य केवल उपाय-कौशल्य था, जो कि बौद्धों ने कम बुद्धि वाले निचले लोगों को आकर्षित करने के लिए और उन्हें अंतिम सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्ति तक पहुंचाने के लिए अपनाया था। उसमें यह भी लिखा है कि 'यान' (मार्ग) केवल एक ही है, संपूर्ण निर्वाण उसी से मिलेगा, तीन यान नहीं हैं। श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्वयान केवल बुद्धों की सुविधा के लिए तीन मार्ग थे, जो अंतिम सत्य तक पहुंचते थे। यह सच है कि हीनयान के कई बड़े व्यक्तियों को आश्वासन दिया गया था कि अंततः वे सब बुद्ध हो जाएंगे।

सद्धर्म-पुंडरीक के सत्ताइस अध्याय हैं। पहले अध्याय में महावैपुल्य सूत्र के नाते पूर्व-बुद्ध द्वारा प्रवचन के रूप में मूल-ग्रंथ शुरू होता है और मंजुश्री के पूर्वावतार वरप्रभ बोधिसत्व द्वारा दीपंकर तक वह कैसे लाया गया, यह वर्णन आता है। दूसरे अध्याय में बुद्ध यह बतलाते हैं कि परम-सत्य का तथागत केवल अपने भीतर ही अनुभव कर सकते हैं और वह दूसरों के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से यह न केवल श्रावकों के और प्रत्येक बुद्ध के परंतु अवैवर्तिक बोधिसत्वों की पहुंच के परे है। बुद्ध यह मानते हैं कि उन व्यक्तियों के लिए जो संसार और उसके दुखों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उन्होंने अपने उपदेश नौ अंगों में दिए और उन्हें सिखाया कि निर्वाण कैसे प्राप्त किया जाए। जो बोधिसत्व अधिक समझदार थे या जिनकी मानसिक तैयारी अधिक थी, उन्हीं को बुद्धत्त्व तक पहुंचाने वाले गहरे सिद्धांत सिखाए गए। इस अध्याय में बुद्ध ने अपने मन की हिचकिचाहट व्यक्त की है कि पहले अपने सिद्धांतों का प्रचार वे नहीं करना चाहते थे परंतु ब्रह्मा ने आकर आग्रह किया, जिस पर उन्होंने मत बदला। तीसरे और चौथे अध्याय में दो बहुत मनोरंजक कहानियां हैं। वे श्रावकों की भलाई के प्रति उतने ही

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

झुके हुए थे, जितने कि बोधिसत्वों के। पंचम अध्याय में, बुद्ध की उपमा मेघ और सूर्य के साथ दी गई है, जो कि सबके प्रति एक-सी वर्षा करता है या सब पर एक-सा चमकता है। सब वस्तुओं की समानता का बोध ही निर्वाण है, ऐसा उसमें अर्थ दिया गया है। श्रावक का निर्वाण केवल विश्राम है और अंतिम निवृत्ति नहीं है।

शाक्यमुनि घोषित करते हैं कि कई हीनयान अर्हत और अर्हतेतर अंततः बुद्ध बन जाएंगे और तब घोषित करते हैं कि अपने किसी पूर्वजन्म मे, किसी साधु से उन्होंने यह सूत्र ग्रहण किया था, जो कि बाद में देवदत्त बनकर जन्मा। उसने पहले ही देख लिया था कि कुछ लोग इस सूत्र की बुराई करेंगे और इस प्रकार से गहरा पाप करेंगे। कई प्रकार की उपमाएं देकर सूत्र का महत्त्व वे बतलाते हैं और श्रद्धालुओं को आदेश देते हैं कि जहां-जहां इन सूत्रों का पाठ हो वहां स्तूप बनाए जाएं और उनका उसी तरह आदर किया जाए, जैसा बुद्ध के धातुओं को सुरक्षित रखने वाले चैत्यों का।

अगले दो अध्यायों में यह कहा गया है कि बुद्धों की आयुमर्यादा असीम है। यह बात हीनयानी नहीं मानते। वे तो यह मानते हैं कि बुद्ध ने गया में संबोधि प्राप्त की और मुक्ति ज्ञान के बाद चालीस वर्ष तक जीवित रहे। बुद्ध मानते हैं कि उन्होंने ही दीपंकर बुद्ध का और अन्य बुद्धों का निर्माण किया और उनके द्वारा आर्यसत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद पर प्रवचन दिलवाया। साथ ही, उनकी परिनिर्वाण प्राप्ति की व्यवस्था की, जिनकी मानसिक स्थिति इतनी समुन्नत नहीं थी। उन बोधिसत्वों के लिए जिनके उच्चादर्श थे, उन्होंने पारमिताओं और तथागत-ज्ञान पर व्याख्यान दिलाने का यत्न कराया।

शेष अध्याय मुख्यतः सूत्रपाठ, सूत्रप्रचार और सूत्रज्ञान से क्या पुण्यलाभ होता है, इसी विषय में हैं।

29वें अध्याय में थोड़ा विषयांतर किया गया है, जहां अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का विषय आता है और उसकी प्रशंसा की गई है। यह कहा गया है कि जो निम्न मंत्र पढ़ेगा वह जहाज के डूबने, आग या नैतिक पाप

के विघ्नों से बच जाएगा—"नमो नमस्तस्मै अभयंदद अवलोकितेश्वराय बोधिसत्वाय महासत्वाय।" बोधिसत्व विविध जीवों का रूप लेकर इन सब क्लेशों से उन्हें मुक्त करेगा।

सूत्रग्रंथ के अंत में बुद्ध सब को आदेश देते हैं कि इस सुत्त की रक्षा करो। वह कहते हैं—"यह सम्यक् संबोधि मैं आप सबके हित के लिए धरोहर की भांति देता हूं, और आप पर यह उत्तरदायित्व रखता हूं कि आप इसे दूर-दूर तक प्रचारित करें, जिससे कि आप बुद्ध ज्ञान के दाता बनें।"

बुद्ध का अनुशासन

विनय-पिटक

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार और निर्देश के लिए जो अनुशासन के नियम हैं, वे विनय-पिटक में एकत्र किए गए। बौद्ध भिक्षु संघ लोकतंत्रात्मक आधार पर था। बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी मनोनीत नहीं किया, किंतु अपने अनुयायियों को आज्ञा दी कि उनके बताए मार्ग और नियमों पर वे चलें। यह बुद्ध के लिए संभव नहीं था कि भविष्य में अकुशलधर्मी भिक्षु क्या-क्या गलत बातें करेंगे, कैसे उन नियमों की उपेक्षा करेंगे या उनका विकृत अर्थ लगाएंगे, इन सब बातों का विचार करके वह सब नियम पहले से ही बना रखते। इस कारण से विनय-पिटक का वर्तमान स्वरूप बुद्ध द्वारा बनाए गए मूल सिद्धांतों में सदियों तक होने वाले विकास का ही परिणाम है। पालि रूप में यह पिटक पांच विभागों में विभाजित है:

(अ) खंधक :	(1)	महावग्ग
	(2)	चुल्लवग्ग
(आ) सुत्त-विभंग :	(3)	पाराजिका से निस्सग्गिया तक
	(4)	पाचित्तिया से सेखिया तक और भिक्खुणी-विभंग
(इ)	(5)	परिवार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह विभाजन बौद्ध संघ के विकास का चित्र देने की दृष्टि से उचित है, परंतु इससे पिटक के कालक्रमानुसार विकास का निर्देश नहीं मिलता। विषयवस्तु और पालि भाषा की विचित्रता को देखते हुए पातिमोक्ख-सुत्त सबसे प्राचीन सुत्त रहा होगा। वर्तमान संस्करण में सुत्त मूल पाठ की भांति अलग से नहीं दिखाई देता, परंतु वह सुत्त-विभंग के भाग के रूप में है, जहां वह भाष्य के लिए मूल पाठ की भांति आता है। सुत्त–विभंग बाद के किसी समय में लिखा गया होगा, इसमें संदेह नहीं। उसमें कई बाद के पाठभेद हैं और वह किसी आधुनिक कानून की पुस्तक की भांति विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत करता है। महावग्ग में संघ के आरंभ से अब तक के विकास का हाल है और इस कारण से यही निश्चित रूप से पिटक का प्रथम ग्रंथ है। चुल्लवग्ग में कई ऐसे विषय हैं जो कि पिटक के अंत में होने चाहिएं। वह विस्तार से यह बताते हैं कि मठ या विहार के अनुशासन के विरुद्ध जाने वाले व्यक्ति को क्या-क्या दंड देना चाहिए। इसमें भिक्षुओं के दैनिक जीवन के विषय में कुछ सामान्य नियम दिए गए हैं, जिनके लिए सही स्थान है महावग्ग। यह दिखाई देता है कि चुल्लवग्ग महावग्ग के बहुत बाद संकलित किया गया होगा, या फिर उसमें वे भी विषय लाए गए हैं जो कि संकलकों के अनुसार, किसी अन्य भाग में नहीं लाए जा सकते थे। दो बौद्ध संगीतियों के वृत्तांत, जिनमें से एक बुद्ध-परिनिर्वाण के एक शती बाद जुटी थी, भी इसमें आते हैं। अंतिम भाग परिवार एक ऐसा ग्रंथ है जो भिक्षुओं के उपयोग और याद रखने के लिए तैयार किया गया है। इसका उद्देश्य न केवल यह है कि भिक्षु सब नियम याद रखें, बल्कि वे सब तथ्य और परिस्थितियां भी जानें, जिनसे भिक्षु नियमों के अंतर्गत आते हैं।

पातिमोक्ख-सुत्त: पातिमोक्ख (संस्कृत में प्रातिमोक्ष-सूत्र) विनय-पिटक का मुख्य सार है। पालि-पिटक का यह सबसे पुराना भाग है और इसकी भाषा निकायों की भाषा से भी पुरानी है। इस ग्रंथ के दो संपूर्ण संस्कृत रूप पाए गए हैं—एक तो कुचा में, जो लुई फिनो ने जूरनाल आशियातिके में 1913 में प्रकाशित किया, और दूसरा गिलगित में, जिसे इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली में 1953 में ए. सी. बनर्जी ने प्रकाशित किया।

इन दो के अलावा इस ग्रंथ के कई खंडित भाग ल वाली पूर्स्यी ने प्रकाशित किए हैं। भिक्षुणी प्रातिमोक्ष-सूत्र के मूल का एक अंश ई. वाल्डश्मिट ने प्रकाशित किया है। जायसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट में महासंघिक के प्रातिमोक्ष-सूत्र की एक छाया-चित्रात्मक प्रतिकृति है। निकायों मे, विशेषतः मज्झिम तथा अंगुत्तर में, इस ग्रंथ के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यह जाना जाता है कि यह मूल ग्रंथ बहुत प्राचीन रहा होगा। भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए संकलित यह सबसे पुरानी आचार-संहिता जान पड़ती है।

पातिमोक्ख के दो हिस्से हैं: एक भिक्खु-पातिमोक्ख, दूसरा भिक्खुणी-पातिमोक्ख। भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा किए जाने वाले अपराध उनकी गंभीरता के अनुसार विभाजित हैं। सबसे बुरे पाप 'पाराजिक' शीर्षक के अंतर्गत हैं, और उनका दंड था भिक्षु का अपने संघ से निष्कासन—(1) ब्रह्मचर्य का उल्लंघन, (2) चोरी, (3) हत्या अथवा हत्या को प्रोत्साहन, और (4) चमत्कार करने की अपनी शक्ति का अतिरंजित वर्णन आदि। संघादिसेसा (संघावशेष) शीर्षक के अंतर्गत जो और पापों की सूची दी गई है, उसके अनुसार पाप करने वाले भिक्षुओं को थोड़े समय के लिए निष्कासित किया जाता था। यदि कम से कम बीस भिक्षु उन्हें फिर से संघ में लेने लायक समझें तो उन्हें संघ में पुनः ले लिया जाता था। तेरह पापों का उसमें उल्लेख है, जिनमें कुछ ये हैं—भिक्षुओं और स्त्रियों के अनुचित संबंध, मठ का निर्माण, झूठा आरोप, संघ में फूट और हठ। तीसरे खंड में, जिसका नाम है अनित्य, दो ऐसे उदाहरणों का उल्लेख है जिसमें दोषों को प्रमाणित करने के लिए पारिस्थितिक-साक्ष्य आवश्यक हैं। चौथे भाग में, जिसका नाम है निस्सग्गिया-पाचित्तिया, ऐसे 26 अपराधों का उल्लेख है, जिनमें भिक्षु अन्य जन की वस्तुओं का अपहरण करने का दोषी हो। यदि भिक्षु, जिस वस्तु का उसने अपहरण किया है, वह लौटा दे और अपराध कबूल करे तो पाप करने वाले भिक्षु की पाप से मुक्ति हो जाती है। पांचवें खंड में, जिसका नाम है पाचित्तिया, 92 अपराधों की तालिका है, जैसे कीटकों की हिंसा करने वाले अविचारपूर्ण कार्य, बुद्ध के उपदेश और अनुशासन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

के प्रति अनादर, बुद्धानुशासन को न मानना, और अंत में विहार में रहते हुए बिस्तरे, आसन, चीवर आदि के उपयोग में जो अनुचित कार्य हैं उनका विवरण इत्यादि। छठे भाग में, जिसका नाम पटिदेसनिया है, केवल चार अपराधों का उल्लेख है, जो भिक्षु को न दिए गए अन्न के ग्रहण के विषय में हैं। इन दो विभागों में वर्णित अपराधों से मुक्ति संघ के सामने औपचारिक रूप से अपराध की स्वीकृति से हो जाती है। सातवें खंड, सेखिया (शैक्ष्य) में भिक्षु द्वारा दैनिक जीवन में पालन करने के 75 आदेश दिए गए हैं, उदाहरणार्थ, वह किसी गांव या शहर में प्रवेश कैसे करे, दूसरों को कष्ट न हो ऐसे खाना कैसे खाए, बीमार के कमरे में कैसे जाए इत्यादि। इन बातों को न मानना पाप नहीं माना जाता था, इसलिए इनके लिए कोई दंड व्यवस्था नहीं थी। अंतिम अध्याय अधिकरणसमथा अथवा 'संघ के भीतर झगड़े निपटाने के तरीके' कहा जाता है। ऐसे तरीके सात हैं। पहला, लड़ने वाले दोनों भिक्षुओं को आमने-सामने लाओ; दूसरा, दोनों में से एक झगड़े की बात में विस्मृति का शिकार बन गया था — ऐसा एक पक्ष स्वीकार करे, तीसरा, जब झगड़े की बात उठी तब एक भिक्षु अपनी स्वाभाविक मनोदशा में नहीं था — यह स्वीकार करे; चौथा, दोषी द्वारा स्वीकारोक्ति; पांचवां, शलाका (अथवा मतदान की लकडियों) का उपयोग, छठा, पहले से ही शारीरिक दोष था — यह सिद्ध करना और उसके लिए दंड, और सातवां, संघ के भीतर जो झगड़े हों, उन्हें विज्ञापित न करना।

सुत्त-विभंग: यह पातिमोक्ख सुत्त पर भाष्य है। इसका आरंभ वेरञ्जा में पड़े अकाल से होता है। बुद्ध जब वहां गए, तब अकाल इतना तीव्र था कि लोगों को 'सलाकवुत्ति' (एक प्रकार की राशन-पद्धति) ग्रहण करनी पड़ी। बुद्ध ने तब वेरञ्जा छोड़ दिया और सोरेय्य, संकास्स, कण्णकुज्ज होते हुए वे प्रयाग पहुंचे, जहां गंगा पार करके वे वाराणसी पहुंचे। वाराणसी से वे वेसाली गए और महावन कूटागारशाला में जाकर रुके।

वेसाली के पास कलंदक नामक गांव था, जहां एक अमीर साहूकार

रहता था। उसके पुत्र सुदिन्न ने वेसाली में बुद्ध के उपदेश सुने, वे उसके शिष्य बन गए। उस समय वज्जियों के देश में अकाल शुरू हुआ। सुदिन्न के कई अमीर मित्र और रिश्तेदार वेसाली में थे। अतः उसने वहां जाने का निश्चय किया। इस प्रकार से वह और उसके भाई खूब भिक्षा मांग सकते थे। एक दिन सुदिन्न अपने गांव में भिक्षा मांगने के लिए गए और उन्होंने कुम्मास (चावल का भूसा) मांगा, जो एक महरी बाहर फेंकने जा रही थी। जब उसकी मां ने सुदिन्न के आने का समाचार सुना, तब उसने उसकी पत्नी से आग्रह किया कि वह जाकर उससे मिले और पुत्र कामना करे। सुदिन्न ने उसकी इच्छा पूरी की, और वह मठ को लौट गया। वहां जाकर उसने पश्चात्ताप किया और सारा मामला अपने भाइयों को सुनाया। जब यह बात बुद्ध के दृष्टिपथ में लाई गई, उन्होंने उस अपराधी भिक्षु को डांटा, और यह नियम बताया कि यदि कोई भिक्षु व्यभिचार करेगा, तो वह पाराजिक का अपराधी होगा, और इस प्रकार से भिक्षु बनने के लिए अयोग्य होगा। पातिमोक्ख का यह प्रथम नियम है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक नियम बुद्ध ने भिक्षुओं के दोषों को लेकर बनाया। ऐसे अपराधों की कहानियां, प्रत्यक्ष घटित घटनाएं न होकर, भाष्यकार की मनगढ़ंत उदाहरण-कथाएं हैं। इन नियमों की शब्दावली पर जो कुछ टीका-टिप्पणी हुई है, उसे यदि छोड़ भी दें, फिर भी कई वाद-विवाद इन बातों पर हैं कि स्त्री किसे कहते हैं, यदि स्त्री पुरुष रूप में या पुरुष स्त्री रूप में बदल जाए तो क्या हो,[1] तथा यौनाचार के विविधि प्रकार और संबद्ध विषय, जो यौन विलास इन नियमों के भीतर नहीं आते, उनकी भी चर्चा है।

दूसरा नियम चोरी के बारे में है, जिसके अनुसार भिक्षुओं की बिरादरी से, जो अपराधी थे उन्हें निष्कासित किया जाता था। यह विषय एक कुम्हार के लड़के धनिय नामक भिक्षु की कहानी के रूप में लाया

1. इस मनोरंजक समस्या पर पढ़ें, पी.वी. बापट का 'बौद्ध साहित्य में यौन परिवर्तन' शीर्षक निबंध, जो कि अखिल भारतीय ओरिएंटल कांफ्रेंस के 18वे अधिवेशन की पालि तथा बौद्ध शाखा में पढ़ा गया था। उस अधिवेशन के निबंधों का सारांश पढ़िए और डा. एस.के. बेलवलकर अभिनंदन-ग्रन्थ भी पढ़िए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया है, जिसने एक विहार बनाने के लिए बिना किसी की अनुमति के लकड़ियां जमा कर ली थीं। इस नियम पर भाष्य करते हुए, भाष्यकार ने वस्तु और चोरी दोनों शब्दों की परिभाषा दी है। अंत में उसने बताया है कि इस नियम के अंतर्गत जो वस्तुएं नहीं आतीं, उनके ग्रहण के क्या-क्या रूप हैं?

पाराजिक के अन्य दो नियम भी इसी प्रकार से विवेचित किए गए हैं। विनय-पिटक के तीसरे खंड के 109 पृष्ठ इनसे भरे हैं।

संघादिसेसा का प्रथम नियम सावत्थी में लिखा गया, जिसमें एक सेय्यसक नामक भिक्षु ने आत्म-विडंबना की। भाष्यकार वे अगणित प्रकार बतलाता है, जिनके द्वारा ऐसी बातें की जाती हैं, और कौन-सी बातें इस नियम के अंतर्गत आती हैं और किन बातों को छूट दी जाए।

संघादिसेसा का दूसरा नियम यह है कि भिक्षु को कभी भी किसी स्त्री के निकट-संपर्क में नहीं आना चाहिए। यह नियम सावत्थी में शुरू हुआ, जहां कि निकट के एक वन में एक उदायी नामक भिक्षु रहता था, जिसने विहार में एक ब्राह्मणी को छुआ था।

भाष्यकार पहले कई प्रश्न उपस्थित करता है, "ऐसा जान-बूझकर स्पर्श किया गया, या सहज संयोगवश वह हुआ?" "वास्तव में स्पर्श क्या है" और इसके अंत में यह कथन है कि अपनी माता, बहन या कन्या के साथ ऐसा स्पर्श इस नियम के अंतर्गत नहीं आता।

बाद के तीन नियमों का कारण वही भिक्षु बताया गया है। भाष्यकार कई प्रकार की लड़कियां और पत्नियां विचार में लेता है और कई परिस्थितियों का विचार करता है, जिनके अनुसार इन नियमों के भीतर भिक्षु पाप करता है और अपवाद कौन-से हैं यह भी वर्णित करता है। शेष सभी नियम इसी प्रकार से समझाए गए हैं, उन पर टिप्पणी की गई है और वे विशद किए गए हैं।

निस्सग्गिया-पाचित्तिया शाखा पर टिप्पणी करते हुए, भाष्यकार का उत्साह बहुत कुछ कम हो गया है। वह ऐसे विशेष उदाहरण नहीं देता जो कि इन नियमों के भीतर आ सकें या न आ सकें। जिन अपवादों की अनुमति दी गई है, वे बहुत व्यापक शब्दों में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ,

भगवान अवलोकितेश्वर (चीन)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

खड़े हुए बोधिसत्व

भगवान बुद्ध
की मुखाकृति

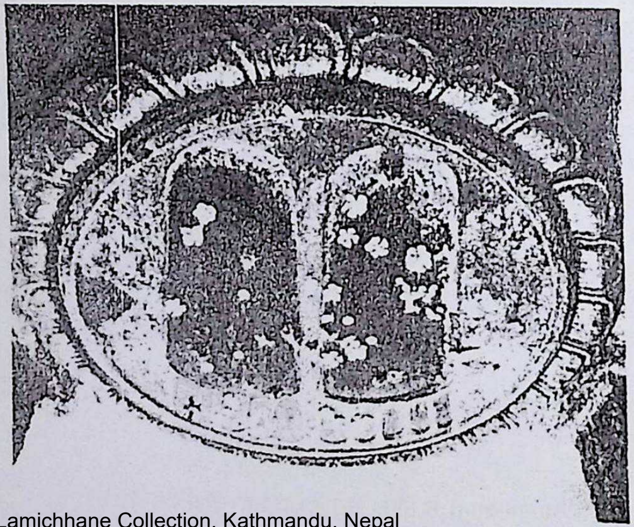

भगवान बुद्ध के चरण-चिन्ह
(बोधगया)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अजंता की गुफा सं. 1 में बोधिसत्व पद्मपाणि का भित्तिचित्र

यदि कोई भिक्षु ऐसा हो कि उसका दिमाग दुरुस्त न हो, या उसने संघ में प्रथम बार अपराध किया हो, या परिस्थितियां ऐसी हों कि नियम का खंडन अनिवार्य हो, तब उसे इन नियमों के खंडन का अपराधी न माना जाए।

पाचित्तिया के 92 नियमों पर भाष्य हत्थक नामक एक शाक्य भिक्षु के वृत्तांत से शुरू होता है। उसने नास्तिकों के साथ वाद-विवाद में जान-बूझकर झूठी बातें कहीं। इससे बुद्ध ने यह नियम कर दिया कि जो कोई भी जान-बूझ कर मिथ्या बोले वह पाचित्तिय का अपराधी होगा। भाष्यकार विवरण देता है कि किन परिस्थितियों में अपराध सिद्ध होता है। दूसरा नियम छब्बग्गिय भिक्षुओं द्वारा पैदा हुआ, जिन्होंने अन्य भिक्षुओं के प्रति निंदा वचन कहे थे। ऐसे निंदा वचनों का कैसा बुरा परिणाम होता है, यह भाष्यकार प्रमाणित करता है, एक नंदिविसाल नामक बैल की कहानी देकर। वह यह भी बताता है कि कौन-से शब्द अनादरसूचक हैं और कौन-से नहीं हैं। कई जातियों, पेशों और गुणों का उल्लेख आता है, जिनके आधार पर जनसाधारण की दृष्टि में भिक्षु उच्च या नीच माने जाते थे।

पाटिदेसनिया के चार नियम और सेखिया के 75 नियम ऐसे हैं कि उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, और लड़ाइयां तय करने के सात तरीके बिना किसी टिप्पणी के छोड़ दिए गए हैं।

भिक्खुणी-विभंगः भिक्खुणी-विभंग में सात तरह के अपराध बताए गए हैं। उनमें पाराजिका से अधिकरणसमथा तक सब आते हैं। और उनकी गंभीरता के अनुसार वे सूचीबद्ध किए गए हैं।

पाराजिका के प्रथम विभाग में, भिक्खु-पातिमोक्ख में बताए चार नियमों के अलावा चार और नियम दिए गए हैं। पांचवें नियम के अनुसार "कोई भी भिक्षुणी जिसका वासना-युक्त मन हो, पुरुष के शरीर के मध्य भाग को न छुए, उसे न मले।" इस नियम पर भाष्य करते हुए भाष्यकार साल्ह नामक मिगार के पोते की कहानी देता है, जिसे युवती सुंदरीनंदा भिक्षुणी मिली, और कैसे उसने उसे उपर्युक्त अपराध के लिए प्रेरित किया। इसके बाद नियम की भाषा पर विवरणयुक्त टिप्पणी दी गई है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परंतु यह नही बतलाया गया है कि कौन-से उदाहरण इस नियम के अंतर्गत आते हैं और कौन-से नहीं आते। भाष्यकार केवल अपवादात्मक उदाहरण सदा की तरह देते है। इसी प्रकार से अन्य तीन नियमों पर भी भाष्य हैं।

दूसरे खंड में या संघादिदेसा में, भिक्खु-पातिमोक्ख से सात नियम लिये गए हैं। अन्य दस भिक्खुनियों के संघ के लिए विशेष रूप से दिए गए हैं। पहले नियम के अनुसार 'भिक्षुणी सदा कानूनी प्रतिवादों से दूर रहे।' एक सामान्य श्रद्धालु ने, अपने मृत्युपत्र में अपनी संपदा का हिस्सा एक भिक्षुणी-संघ को दे दिया था और इससे यह समस्या उत्पन्न हुई थी। इस पर शंका की गई और वोहारिकमहामत्त (न्याय-मंत्री) के सामने सारी समस्या रखी गई और निर्णय मांगा गया। दूसरे नियम के अनुसार, किसी भिक्षुणी को अगर किसी चोरी की जानकारी हो तो उसे योग्य अधिकारियों को यह बता देना चाहिए। ये योग्य अधिकारीगण हैं: राजा, संघ, गण, पूग, और सेणि। अन्य आठ नियमों के अनुसार भिक्षुणियां अकेली न घूमें, पुरुषों के संपर्क में न आएं, आपस में न लड़ें और त्रिरत्न के प्रति अनादर न दिखाएं। भाष्य नियमों के शब्दों तक सीमित हैं।

तीसरे खंड, निस्सग्गिया-पाचित्तिया के तीस नियमों में से, अट्ठारह भिक्खु-पातिमोक्ख से लिये गए हैं। पहले में कुछ भिक्षुणियों की आदत का उल्लेख है, जो भिक्षा-पात्र जमा करती थी। भाष्यकार विभिन्न प्रकार के भिक्षापात्रों का वर्णन करते हैं और लिखते हैं कि ऐसे अपराध न करने के लिए भिक्षुणी को क्या करना चाहिए। अगले नियम के अनुसार कपड़ों के वितरण में जो अनियमितताएं हों, उनका वर्णन है। बाद के आठ नियमों में बताया गया है कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही भिक्षुणियां क्या विशेष वस्तुए लें। ग्यारहवें और बारहवें नियम के अनुसार भिक्षुणी कोई ऊनी कपड़ा न मांगे जो चार कंसों से अधिक कीमत का हो। चार कंस सोलह कहापण के बराबर थे। खोम कपड़ा ढाई कंस या दस कहापण से अधिक मूल्य का न लिया जाए।

पाचित्तिया के चौथे अध्याय में, भाष्यकार 166 नियमों में से 96 पर भाष्य करता है। स्त्रियोचित अपराधों के बारे में ये नियम हैं।

पाटिदेसनिया नामक पांचवें अध्याय में भिक्षुणियां शुद्ध किया हुआ मक्खन, तेल, मधु, गुड़, मछली, मांस, औटाया हुआ दूध और दही न लें, ऐसा विधान है।

छठे और सातवें खंड, जिनके नाम सेखिया और अधिकरणसमथा हैं, भिक्खु-पातिमोक्ख से लिए गए हैं।

खंधक: इनके दो विभाग हैं: महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन दो भागों में जिन विषयों का वर्णन है, उनमें स्पष्ट अंतर नहीं है, कोई उचित क्रम भी नहीं है। इसलिए यहां दोनों की विषय-वस्तु एक साथ दी जा रही है, जिससे पाठक कुछ कल्पना कर सकें।

कश्मीर में गिलगित में जो पांडुलिपियां मिली हैं, उनमें मूल-सर्वास्तिवादियों के विनय-पिटक का एक भाग पाया गया है। यह प्रकाशित किया गया है और इससे विनय-पिटक के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस पांडुलिपि में अध्यायों का क्रम इस प्रकार से है:-

(1) प्रव्रज्या (2) पोषध (3) पवारणा (4) वर्षा (5) चर्म (6) भैषज्य (7) चीवर (8) कठिन (9) कोशांबक (10) कर्म (11) पांडुलोहितक (12) पुद्गल (13) पारिवासिक (14) पोषधस्थापन (15) शायनासन, और (16) संघभेद। देवदत्त को संघभेदवस्तु का प्रमुख पात्र बतलाकर बुद्ध की जीवनी उसमें दी गई है। राजपुत्र सिद्धार्थ द्वारा देखी हुई मनुष्य की चार अवस्थाओं का वर्णन देकर कपिलवस्तु में बुद्ध के जाने तक यह कहानी दी गई है। कपिलवस्तु में शाक्य तरुणों का बौद्ध दीक्षा लेना दिखाया गया है। इन्हीं में देवदत्त भी एक थे। पालि विनयपिटक में यह जीवनी महावग्ग के आरंभ में दी गई है। जबकि शाक्य तरुणों की बौद्ध दीक्षा का प्रसंग चुल्लवग्ग में सातवें अध्याय में दिया है। पालि और संस्कृत मूल ग्रंथों की तुलना करने पर यह जान पड़ेगा कि दोनों पाठों के संकलकों ने किसी पुराने आधार-ग्रंथ को सामने रखा था, और बाद में विवरण और वृत्तांत में मनचाहे परिवर्तन उन्होंने किए। जहां तक मुख्य घटनाओं का प्रश्न है, दोनों एक-सी परंपराओं और अनुशासन-नियमों को सुरक्षित रखते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि संस्कृत पाठ में कहानियां और उपकथाएं विस्तार से दी गई हैं, पालि पाठ में, जहां तक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हुआ, उन्हें दूर रखा गया है।

महावग्ग बौद्ध-संघ के विकास का इतिहास है। बुद्ध ने जब नीरंजना तट पर संबोधि प्राप्त की तब से यह कहानी यश और उसके 54 मित्रों के दीक्षाग्रहण तक जाती है। इन 54 मित्रों में विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और गवाम्पति भी थे, जो विभिन्न दिशाओं में धर्म के प्रचार के लिए भेजे गए। फिर भी ये युवक, अशिक्षित धर्म-प्रचारक यह निश्चय नहीं कर सके कि संघ में किस तरह के व्यक्तियों को लिया जाए। उनके निर्देशन के लिए बुद्ध ने, जैसे-जैसे आवश्यकता जान पड़ी, बड़े नियम बनाए।

उपोसथ (पोषध) नामक दूसरा अध्याय पंद्रह दिन में जुटने वाली एक बैठक के बारे में है। यदि कोई व्यक्ति गंभीर अपराध का दोषी होता था, तो उसे इस समिति में नहीं रहने दिया जाता था। चुल्लवग्ग के नौवें अध्याय में पातिमोक्ख-थापनम नामक उपशीर्षक से इसका विचार किया गया है। इन बैठकों का एक नियम यह था कि एक देहात में रहने वाले सारे भिक्षुओं को एक विशेष विहार में जो सभा होती थी, उसमें उपस्थित रहना होता था। अगर कोई भिक्षु बीमार हो तो वह अपने स्थान पर दूसरे भिक्षु को भेजे। वह दूसरा भिक्षु उसके दोषों की क्रिया या अक्रिया को घोषित करे। इस मामले में ग्राम-सीमा की परिभाषा दी जाती थी, इसलिए ऐसी सीमाओं के निर्धारण के बहुत नियम बनाए गए थे, और ये निश्चय संघ की विशेष औपचारिक सभा में सबकी जानकारी के लिए तीन बार घोषित किए जाते और सर्वसम्मति से पारित किए जाते।

तीसरे-चौथे अध्याय में वर्षाकाल में भिक्षु के आवास के विषय में और वस्सवास के अंत में जो उत्सव किए जाते थे उनके बारे में नियम हैं। भिक्षुओं को सदा चलते-फिरते रहने की, यात्रा करने की आज्ञा थी। क्योंकि यदि वे एक स्थान पर रहते तो शायद अधिक अपराध करते। परंतु वर्षा के तीन मास में भिक्षुओं को एक ही स्थान पर रहने का आदेश था। इसके कई कारण थे। वस्सवास के नियम जैन और अन्य व्यक्ति भी मानते थे। कभी-कभी ऐसी भी आवश्यकता आ पड़ती थी कि भिक्षु को अपने आवास की सीमा के बाहर उपस्थित रहना पड़ता था। इस कारण

से सप्ताह में एक बार भिक्षु बाहर जा सकते थे। कहीं भिक्षु इस नियम का दुरुपयोग न करें इसके लिए विशेष रूप से कारण बताए गए हैं। इस अध्याय के अंत में वे अपवादात्मक स्थितियां भी वर्णित की गई हैं, जिनमें सुनिश्चित समय से पूर्व वस्सावास समाप्त करने की अनुमति दी जा सकती है।

वस्सवास में, भिक्षुओं को एक साथ मिल-जुलकर रहना और अनुशासन के नियम मानना आवश्यक था। यह सर्वदा संभव नहीं होता था। तब आचार्य बतलाते थे कि वस्सावास के अंत में भिक्षु परिषद में उपस्थित होकर अपने अपराध सबके सामने कहें। इसमें भी वही सब औपचारिक नियम मानने पड़ते थे, जो उपोसथ उत्सव के लिए होते थे। इस समिति को पवारणा कहते थे। ऐसी कई अनियमितताओं के उदाहरण हैं, जहा आचार्य ने पवारणा के लिए कई नियम बनाए।

पवारणा उत्सव का एक भाग था अंतिम दिन जमा किए गए चीवरों का वितरण। पवारणा के दिन, जनसाधारण वहां रहने वाले भिक्षुओं को बिना सिला हुआ कपड़ा दान में देते थे। यह संघ का विधान था कि ऐसे दान मिलने पर भिक्षुओं को एकत्र होना चाहिए और घोषित करना चाहिए कि वे कठिन उत्सव करने जा रहे हैं। इस उत्सव का मूल उद्देश्य यह था कि कुछ भिक्षुओं को चीवरों के काटने, सीने, रंगने का काम बांटा जाए। कपड़े तैयार हो जाने पर सब भिक्षुओं में वे बांट दिए जाते थे। फिर भी कुछ ऐसे लोग रह जाते, जो झूठ बोलकर कपड़े ले लेते थे। उनको रोकने के लिए विशेष नियम बनाए गए।

पांचवें अध्याय की शुरुआत सोण कोडिवीस नामक एक धनिक-पुत्र की कहानी से होती है। उसका शरीर इतना कोमल था कि उसके पैरों के तलुओं पर भी बाल उगते। उसे स्वयं बुद्ध ने प्रवज्या दी थी। भिक्षु बनने पर धार्मिक विधियों में वह नंगे पैर घूमता था। उसके पैरों से खून निकल आता और जहां चलता, वहां खून के दाग पड़ जाते। बुद्ध ने उसे जूते पहनने की अनुमति दी पर यह भी कहा कि भिक्षु के नाते यह उचित नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध को सब भिक्षुओं को जूते पहनने देने की अनुमति देनी पड़ी और वे जूते कैसे हों, यह भी निश्चित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर दिया गया।

छठे अध्याय में बीमार भिक्षु-भिक्षुणियों को कौन-सी दवाएं दी जा सकती हैं, इसका ब्यौरा है। इसमें बताया गया है कि प्ररिद्ध वैद्य जीवक के कहने पर बुद्ध ने बीमार भिक्षुओं को सब प्रकार की औषधियां और शल्य-चिकित्सा से लाभ उठाने का आदेश दिया। इस अध्याय में उस काल की शल्य-क्रियाओं, उसके लिए आवश्यक उपकरणों, दवाइयों और उनके बनाने की विधियों, पात्रों, दवा के भंडारों और अंत में गरम स्नानों और फलों, फल के रसों, दूध की बनी चीजों और कभी-कभी मांस के शोरबे का भी निदान रूप में वर्णन दिया गया है। इसमें जीवक की शल्य-विद्या और चिकित्सा विषयक कुशलता का उल्लेख है। महापरिनिब्बाण-सुत्त से अक्षरशः लिया गया बुद्ध के पाटलिगाम जाने का वर्णन भी इसमें है।

धीरे-धीरे भिक्षुओं को न केवल रोगोपचार संबंधी सुविधाएं, परंतु चुल्लवग्ग में बताई गई और कई प्रकार की जीवन की सुख-सुविधाएं भी दी गईं।

विहारों के विस्तार से वर्णन चुल्लवग्ग के छठे अध्याय में आते हैं। जनसाधारण द्वारा चतुर्दिक से आने वाले भिक्षुओं के लिए विशेष रूप से जो विहार बनाए जाते थे, उनके दरवाजे कैसे हों, खिड़कियां कैसी हों, और क्या-क्या सुविधाएं हों, यह सब बताया गया है। नवकम्मिक नामक भिक्षु ने इन विनय-नियमों के आधार पर बनाए विहारों का निर्माण-निरीक्षण किया। इन विहारों में विशेष प्रकार की पीठिकाएं, आसंदियां और शैयाएं थीं। इस प्रसंग में जेतवन विहार के दान की कहानी दी गई है और बताया गया है कि अनाथपिंडिक बुद्ध से राजगृह में कैसे मिला और उसका शिष्य बन गया।

चुल्लवग्ग के पांचवें अध्याय में स्नान, भिक्षा-पात्र, कर्तरिकाएं और सुइयां, कमरबंद, मूत्रालय, भिक्षापात्र ले जाने के लिए कपड़ों के झोले, जूते, बाल काटना आदि बातों का उल्लेख है। यह भी लिखा गया है कि भिक्षुओं को गाथाएं जोर से नहीं गानी चाहिएं और न अपनी चमत्कारों की शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिए, और जो जनसाधारण त्रिरत्न के

प्रति पर्याप्त आदर न दिखाएं उनके यहां भिक्षापात्र उलटा कर देना चाहिए, यानी भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

महावग्ग के अंतिम दो अध्याय धार्मिक कृत्यों में अनियमिताओं को लेकर हैं। विशेष धार्मिक कृत्यों के लिए भिक्षुओं की कम से कम संख्या निश्चित की गई है।

चुल्लवग्ग महावग्ग का ही आगे का हिस्सा है। इसलिए उसमें पहले चार अध्यायों में विनयपिटक में दी गई विविध सजाएं दी गई हैं और यह भी नियम दिए गए हैं कि दंड भोगने के समय भिक्षुओं को कैसे व्यवहार करना चाहिए।

आठवें अध्याय में यह बताया गया है कि विहार में रहने वाले भिक्षु अन्य स्थानों से या जंगलों से आने वाले भिक्षुओं का कैसे आदरातिथ्य करें और उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखें।

सातवें अध्याय में बुद्ध के जीवनकाल में संघ में फूट डालने वाले झगड़े कैसे पैदा हो गए थे, उनका विवरण है। बुद्ध के एक शाक्य कुटुंबी देवदत्त ने इन विरोधियों का नेतृत्व किया था। इसलिए इस अध्याय में अनुरुद्ध, भद्दिय, शाक्यराज, आनंद, भगु, किंबिल और देवदत्त तथा उनके नाई उपालि जैसे शाक्य तरुणों के बौद्ध दीक्षा ग्रहण का भी वृत्तांत दिया गया है।

देवदत्त ने अजातशत्रु से मिलकर बुद्ध का वध करने के लिए गुंडों के एक दल को किराए पर रखा। एक बार पत्थर से, और दूसरी बार हाथी से बुद्ध के प्राण लेने का यत्न किया। अंत में देवदत्त को कुछ मित्र मिले और उन सबने मिलकर यह मांग की कि सब भिक्षुओं के लिए निम्न पांच नियम अनिवार्य बना दिए जाएं—(1) भिक्षु जंगलों में रहें, (2) भिक्षा पर जीविका करें, (3) चिंधियों के कपड़े पहनें, (4) पेड़ के नीचे रहें, छत के नीचे नहीं और (5) कभी मांस या मछली न खाएं। देवदत्त की मांग जब बुद्ध द्वारा अस्वीकृत की गई, तब देवदत्त ने वेसाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का एक अपना दल बनाया। अध्याय के अंत में संघ और संघभेद की स्थिति पर एक विशेष टिप्पणी दी गई है।

दसवें अध्याय में भिक्षुणी-संघ की स्थापना की कथा है। महाप्रजापति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गौतमी ने उसकी आवश्यकता अनुभव की थी, आनंद ने उसके लिए मध्यस्थ का कार्य किया। बुद्ध ने बहुत अनिच्छापूर्वक इस संघ की स्थापना की अनुमति दी और भिक्षुणियों के लिए आठ गरुधम्मा बताए। पहले तो बुद्ध ने कहा कि भिक्षुणियां अपने सब धार्मिक कार्यों के लिए भिक्षुओं पर अवलंबित रहें। विनय और धम्म की शिक्षा भी वे भिक्षुओं से प्राप्त करें। परंतु यह पाया गया कि कभी-कभी ये भिक्षु विवेक और समझदारी से काम नहीं लेते थे। इस कारण से बुद्ध को यह आदेश देना पड़ा कि भिक्षुणियां अपने धार्मिक कार्य स्वयं करें और उनके लिए नियम ग्रथित किए गए। स्त्री जाति के वेश, केश, भूषा, शैया, आसन-विषयक विलास-प्रियता और क्रीड़ाप्रियता को रोकने के विस्तारपूर्वक नियम इस अध्याय में दिए गए हैं।

अंतिम दो अध्यायों में राजगृह की सत्तपण्णिगुहा और वेसाली के वालिकाराम में जो प्रथम दो बौद्ध संगीतियां जुटी थीं उनका विस्तृत वर्णन है। वस्तुतः ये अध्याय चुल्लवग्ग का भाग नहीं होने चाहिए थे। प्रथम दो संगीतियों का प्रधान उद्देश्य था बुद्ध के वचनों का अधिकृत संग्रह करना। महाकस्सप उसके सभापति थे। आनंद ने बुद्ध के दिए प्रवचन पढ़े और उपालि ने बुद्ध द्वारा बनाए शासन के नियम पढ़े। यह संग्रह कुछ अपवाद छोड़कर सभी भिक्षुओं ने मान लिया। दूसरी संगीति सौ वर्ष बाद जुटी। उसका मुख्य उद्देश्य था, वेसाली के वज्जिपुत्तकों ने कुछ अनुशासन-नियमों की जो अवहेलना की थी, और जिन्हें वे नियमबद्ध सिद्ध करना चाहते थे, उन्हें रोकना। आठ भिक्षुओं की उपसमिति ने इन आचरणों को अनियमित घोषित किया। इन आठ में से चार तो पश्चिमी प्रदेशों के कट्टर पुराणमतवादी भिक्षुओं में से चुने गए थे और चार पूर्वी प्रदेशों के विद्रोही भिक्षुओं के दल में से। इस समिति के सभी निर्णय सब भिक्षुओं ने एकमत होकर नहीं माने, और एक नया पंथ, जिसे कि महासंघिक कहा जाता है, अस्तित्व में आया।

बौद्ध शिक्षण

शिक्षण राज्य द्वारा दिया जाए, या शिक्षण राज्य का एक कर्तव्य या विहित कर्म है, यह एकदम आधुनिक विचार है। यूरोप में प्राचीन काल में, यह काम ईसाई गिरजे करते थे। भारत में यह कार्य विविध धर्मपंथों और संस्थाओं का था कि वे अपनी शिक्षा-पद्धतियां बनाएं और चलाएं। इनमें ब्राह्मण-पद्धति सबसे पुरानी है। यह शिक्षण-परंपरा वैदिक काल से आज तक चली आ रही है। इसमें एक गुरु और उसके थोड़े-से शिष्यों का दल मुख्य था। इसे गुरुगृह कहते थे। बौद्ध पद्धति की परंपरा विहारों की है। उसकी पूर्ति भिक्षु-जीवन से संबद्ध है।

दोनों का अंतर स्पष्ट है। इससे दो प्रकार की विकास-रेखाएं निकलीं। प्रो० मुखर्जी लिखते हैं कि "ब्राह्मण-पद्धति में गार्हस्थ्य के वातावरण की आवश्यकता होने से गुरुगृह विस्तृत बनकर बड़े विश्वविद्यालयों का रूप न ले सके। बौद्ध पद्धति में शिक्षण कई शिक्षकों के सांघिक स्वामित्व की संस्था बन गया।" इसीलिए बौद्ध पद्धति में वड़े-बड़े विहार-विश्वविद्यालय निर्मित हो सके, जिनमें हजारों अध्यापक और विद्यार्थी एक साथ रह सकते थे। बौद्ध धर्म की अंतिम तीन-चार शतियों में ये विश्वविद्यालय सारे एशिया में विख्यात हो गए और इस महाद्वीप के विविध भागों से विद्यार्थी आकर्षित होकर उनमें आने लगे। बाद के विश्वविद्यालय, जैसे नालंदा, वलभी, विक्रमशिला, जगद्दल और ओदंतपुरी, डेढ़ हजार वर्षों तक जो विकास होता आ रहा था उसकी अंतिम अवस्था व्यक्त करते हैं। इसका इतिहास हमें शतियों में बिखरे और कभी-कभी मिलने वाले कुछ प्राचीन बौद्ध धर्मग्रंथों से मिलता है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और फिर कई शताब्दियों की खाई पार करके, चीनी और तिब्बती स्रोतों से। कभी, बड़ी मुश्किल से कहीं किसी हस्तलिखित ग्रंथ का तिथिक्रमोल्लेख, विशेषतः चीनी और तिब्बती लिपि में, कुछ जानकारी दे जाता है और यह रहस्य अंशतः प्रकाशित होता है। अतः बौद्ध शिक्षण का पूरा इतिहास दे सकना संभव नहीं, परंतु कुछ मोटी-मोटी विकास-रेखाएं मात्र दी जा सकती हैं।

वस्तुतः बौद्ध शिक्षण का इतिहास बौद्ध मठ-विहारों और भिक्षु-संघों के इतिहास का ही एक पक्ष है। इसमें इन विहारों के भीतर के बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया व्यक्त होती है—इस जीवन की क्रमशः प्रगतिपरक समृद्धि की, उसके शतियों तक विस्तृत और उदार प्रभाव की, उसके विकसित होने और फैलने की। भिक्षु के लिए प्रशिक्षण की पद्धति से आरंभ होकर, नई बौद्धिक आवश्यकताओं और रुचियों के अनुसार उसका क्षेत्र और उद्देश्य बढ़ता गया। उसे नए मानसिक क्षितिज प्राप्त होते गए। अंततः विहार एक ऐसी जगह बन गए जो केवल मठबद्ध मनन और धर्मचिंतन के स्थान ही नहीं, अपितु संस्कृति और ज्ञान की पीठ बन गए। उनमें से कुछ विश्वविद्यालय हो गए। परंतु यह इतिहास, जो वेदोत्तर प्राचीन भारत के सारे कालखंड में फैला है, सहसा ईसा की बारहवीं शती में आकर रुक जाता है, एकदम बंद हो जाता है। इस लंबी कहानी की समाप्ति पूर्वी भारत (बंगाल और बिहार) में बख्तियार खिलजी के विजय अभियानों के साथ होती है।

आरंभ

भिक्षु-प्रशिक्षण

जब बौद्धों ने मठों में संन्यस्त जीवन बिताने का निश्चय किया, प्रायः ईसा-पूर्व चौथी शती में, तब यह प्रश्न उठा कि जो नया दीक्षित है और जिसने मठ में प्रवेश किया है, उसे क्या शिक्षण दिया जाए। इसे निस्सय-पद्धति कहते थे। इसका अक्षरशः अर्थ है शिक्षक पर निर्भर रहना। निस्सय-काल शिक्षा ग्रहण करने का काल था और पूरे भिक्षु

बनने के पहले की स्थिति का द्योतक था। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह एक ऐसी पद्धति थी कि जिसमें सांप्रदायिक मठजीवन के भीतर बुद्ध-पूर्व गुरुगृह पद्धति का ही अनुकरण था। विद्वान, योग्य व्यक्ति जो मठ में प्रवेश करता, पांच वर्ष तक निस्सय में रहता था, जब कि दूसरा कोई व्यक्ति आजीवन निस्सय में रहता था। नव-दीक्षित को एक आध्यात्मिक निर्देशक मिलता था, जिसे उपज्झाय (उपाध्याय) कहते थे, और एक व्यवस्थित पाठ पढ़ाने वाला भी जिसे आचार्य कहा जाता था, और जो कम से कम दस वर्ष तक भिक्षु रहा होता था।

जिस काल-खंड की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें आधुनिक अर्थ में साक्षरता नहीं हुआ करती थी, और सारी पढ़ाई मौखिक परंपरा से श्रवण और स्मरण, या सुनने और दुहराने-रटने से होती थी। विनय-पिटक में भिक्षु को कौन-कौन-सी वस्तुएं अपने साथ में रखनी चाहिएं, इनका जो उल्लेख है, उसमें कहीं भी किसी हस्तलिखित ग्रंथ या लेखन-सामग्री का उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि तब लिखने-पढ़ने की पद्धति नहीं थी। वस्तुतः पुस्तक-लेखन, राजकीय कार्यों के लिए छोटे ताम्रपत्र के या धातुपट्ट के लेखों को यदि छोड़ दें, तो बहुत बाद में व्यवहार में लाया गया। शायद ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले नहीं। भिक्षु आचार्य अपनी छोटी-सी कक्षा बहुत अनौपचारिक ढंग से चलाते थे। मथुरा के प्राच्यवस्तु-संग्रहालय में एक बहुत घिसी हुई जो मूर्ति मिलती है उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें खुले आकाश के नीचे जमीन पर कुछ विद्यार्थी विविध मुद्राओं में बैठे हैं, और उनके सामने गुरु बैठा है जिसके बाएं हाथ में उसके सिर पर तिरछा उठाया हुआ छाता है।

आचार्य की शिक्षाएं भी उस समय के भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान से संबद्ध रही होंगी—विनय और गाथाएं, जातक-कथाएं, प्रार्थनाएं, मूल तत्व और दर्शन। यह शिक्षा बार-बार मूल पाठ के सामूहिक रूप से उच्चारण या 'संगीति' यानी एक साथ मिलकर गाने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

से पक्की की जाती थी। इन सब का उद्देश्य था मूल पाठों को कंठस्थ करना।

जो लिखे हुए धर्मग्रंथ नहीं थे, और जो नवदीक्षित के शिक्षण का प्रमुख अंग थे, उनके धम्म और विनय, ये दो अंग प्रधान थे। अच्छे विहार में दोनों विषयों के विशेष ज्ञाता थे। उन्हें सुत्तंतिक और विनयधर कहते थे। फिर कुछ विशेष खंडों के विशेषज्ञ भी होते थे, यथा, मातिका-धर, जो 'मातिकाएं' (मंत्रादि) जानते थे।

बौद्ध धर्मग्रंथों में एक छोटा-सा प्रसंग आता है जिससे यह पता चलता है कि आंशिक शिक्षा कितनी निष्ठा से और ईमानदारी से ग्रहण की जाती थी। पवारणा विहारों में एक गंभीर विधि थी। यह वर्षावास के अंत में होती थी। एक बार यह विधि पूरी नहीं हो सकी, चूंकि पूर्व-रात्रि का अधिकतर समय, बिना नींद लिये हुए, भिक्षुओं ने धम्म-पाठ में बिताया था, सुत्तंतिकों ने सुत्तंत पढ़े थे, विनयधरों ने विनय का शास्त्रार्थ किया था और धम्म-कथिकों ने धम्म की चर्चा की थी।

धम्म-कथिक शब्द विचित्र है। उसे दो अर्थ में प्रयुक्त किया गया हैः एक तो धम्म शब्द अपने व्यापक अर्थ में आया है, जैसे 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' में, और दूसरे, अधिक विशिष्ट अर्थ में। कथा शब्द, धर्म के सिद्धांतों पर विशेष व्याख्यान या वाद-विवाद के अर्थ में प्रयुक्त होता था, यथा कथा-वस्तु, अभिधम्म-कथा आदि।

आरंभिक काल में भिक्षु के प्रशिक्षण में इन कथाओं का बड़ा महत्त्व था। इन्हीं में से आगे एक पद्धति विकसित हुई। उसी को अभिधम्म कहते हैं। अभिधम्म-पिटक में इन कथाओं का सार ग्रथित है। यह सब कुछ मन का एकांगी व्यापार नहीं था। एक ओर शिक्षक के लिए ऐसा होना जरूरी था कि जो "विद्यार्थी को धर्म और विनय की सब बातें समझाए, धर्म के अनुसार शास्त्रार्थ करे और कराए, गलत सिद्धांत कौन से हैं, यह बताए," दूसरी ओर, विद्यार्थी के लिए भी कहा गया है कि वह "वाद-विवाद-पटु हो और शिक्षक यदि कोई गलत सिद्धांत ग्रहण करे या औरों को ग्रहण कराए तो उसका विरोध करे।"

विनय-पिटक में, आरंभिक शिक्षा जैसी होती थी उसकी रूपरेखा दी गई है। यह शिक्षा केवल बौद्ध दीक्षा ग्रहण करने वालों के लिए थी। यह परंपरा से चली आ रही, मठ-विहार तक सीमित शिक्षण-पद्धति बहुत मर्यादित थी। केवल एक खुली राह इसमें थी।

वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, खंडन की अत्यधिक स्वतंत्रता प्रत्येक भिक्षु को इन विहारों में दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप सोचे, विचार करे, तर्क करे, किसी निश्चय पर पहुंचे—सब मामलों में, चाहे वे धम्म के हों या विनय के। संघ के सामने औपचारिक रूप से अपने मतभेद रखने की पद्धति के नियम बने हुए थे। परंतु संघ का अंतिम निर्णय भी, जो कि संघ में मतदान (शलाका) की बहुसंख्या से निश्चित किया जाता था, व्यक्तिगत मत-विश्वास को कुंठित नहीं करता था। जो लोग भिन्न मत रखते थे, उन्हें अपना दल बनाने की अनुमति दी जाती थी। मठ और विहार के जीवन में इस प्रकार की सुविधा विचार स्वातंत्र्य बढ़ाने में और उसे तीक्ष्णतर बनाने में जहां सहायक हुई, वहां इसी चीज से उन सब विभिन्न संप्रदायों और पंथों का बीज-वपन हुआ, जो कि बौद्ध इतिहास का एक प्रमुख अंग बन गए। इस प्रकार से बौद्ध धर्म में अगणित पंथ और उपपंथ, जिनका आरंभिक रूप एक नई विचारधारा से या भिक्षु-मन के एक नए आंदोलन से था, एक साथ समाहित हो गए।

विद्यापीठ-विहार

बौद्धिक झुकाव

ऊपर भिक्षु की दीक्षापूर्व मानसिक तैयारी की जो रूपरेखा दी गई है, उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि वह बौद्धिक दृष्टि से तेज बने। ज्यों-ज्यों बौद्ध मठ और विहार केवल आध्यात्मिक संस्कृति के रक्षा-गृह न रहकर, विद्या के केंद्र बनते गए, यह आग्रह बढ़ता गया। फाहियान और युआन्-च्वांग जहां अपने यात्रा-वृत्तांतों में कई विहारों में जाने का वर्णन देते हैं, वहीं यह भी लिखते जाते हैं कि अमुक-अमुक मठ या विहार में फलां-फलां विद्वान भिक्षु ने अमुक विशिष्ट ग्रंथ की रचना की।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह इस बात का संकेत है कि विहारों के स्वरूप में और नया मोड़ पैदा हुआ। यह घटना शायद ईसा की प्रथम शती या उससे कुछ पहले घटित हुई।

इस विकास के क्या कारण हुए, यह देखने के लिए दूर नहीं जाना होगा। बौद्ध धर्म अन्य धर्मियों का धर्म-परिवर्तन कराकर अपने अनुयायियों की संख्या-वृद्धि चाहता था। दूसरे, बौद्ध विहारों का अस्तित्व राज्याश्रय या लोकाश्रय पर था, और इसके लिए मठ-विहारों में रहने वाले भिक्षु-संघ को उस आश्रय के योग्य बनना आवश्यक था।

यह योग्यता सिद्ध करने का एक प्राचीन परंपरा-सम्मत मार्ग था शास्त्रार्थ, पंडित-सभाएं या विविध पंथों के बीच में वाद-विवाद। कभी ये एक ही धर्म के कई पंथों में होते या दो परस्पर-विरोधी धर्मों के प्रतिनिधियों के बीच होते थे। ऐसे शास्त्रार्थों के कई प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण हैं, प्राचीन और नवीन, वैदिक काल में, अशोक के समय में (ईसा पूर्व तीसरी शती), हर्ष-काल में (ईसा की सातवीं शती) और बाद में भी। इसी कारण से बौद्ध शिक्षण-पद्धति में भी तर्क और न्याय की बारीकी में पारंगतता प्राप्त करने की स्पर्द्धा जगी।. उदाहरणार्थ, 'सप्तदशभूमि शास्त्र' नामक ग्रंथ के पंद्रहवें खंड में मैत्रेय सात अध्यायों में वाद-विवाद कला का वर्णन देता है। यह बौद्ध संस्कृत ग्रंथ शायद 400 ईसवी का होगा। भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में माध्यमिक न्याय का प्रतिनिधित्व पूर्णतः बौद्ध विद्वान भिक्षुओं द्वारा किया जाता है, जिनकी कृतियां भारत में नष्ट हो गईं, परंतु वे तिब्बत में प्राप्त हुईं और पंडित एस० सी० विद्याभूषण ने उन्हें इस शताब्दी के आरंभ में खोज निकाला।

एक महत्त्वपूर्ण बात, जिसके दूरगामी सांस्कृतिक परिणाम हुए, यह थी कि पुराने मठ-शिक्षण के कुंद-ज़हन और बंद रूप का पूर्ण नाश होकर ये विहार धीरे-धीरे विद्यापीठों में परिवर्तित हुए। भिक्षु का अध्ययन केवल बौद्ध धर्मग्रंथों के पठन-पाठन से पूर्ण नहीं होता था। भिक्षुओं को और भी विषय पढ़ाए जाते थे। अन्य धर्मों के सिद्धांत तथा अन्य दर्शन

की पद्धतियां, (जो बौद्ध विचारों के अंतर्गत थे) और कुछ विहारों में तो व्यावहारिक महत्त्व के विषय, जैसे, खेती और वास्तु-विद्या भी सिखाई जाती थी। ये विद्याएं विहारों के निर्माण और निर्वहन के लिए आवश्यक थीं। ईसा-पूर्व प्रथम शती के बाद, जब पुस्तक-लेखन प्रचलित हुआ, ग्रंथों का संग्रह और सुरक्षा भी विहारों में होने लगी। बाद में नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के हस्तलिखित ग्रंथों के विशाल संग्रहालय इसी प्रकार से बने।

परंतु ये विद्यापीठ अपना संन्यस्त रूप बराबर बनाए हुए थे। वहां रहने वाले विद्यार्थियों को मठ और विहारों के विरक्त जीवन के सब नियम पालने पड़ते थे। चीनी यात्रियों के वर्णन से जान पड़ता है कि इन विद्यालयों में विविध बौद्ध पथों के भिक्षुओं के प्रवेश तक ही विद्यार्थियों की संख्या सीमित नहीं थी, परंतु कई अदीक्षित बौद्ध विद्या-जिज्ञासु, बुद्धेतर मुमुक्षु भी वहां प्रवेश पा सकते थे। उन्हें माणव और ब्रह्मचारी कहते थे। एक मठ में रहने और सीखने के एक साथ. लाभ के लिए उस समय किसी प्रकार के पैसे देने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

व्यवस्था और अनुदान

राजा लोग और जनसाधारण एक आध्यात्मिक कर्त्तव्य के नाते इन मठों को अनुदान देते थे। जो राजा बौद्ध धर्म का विकास चाहता, वह किसी एक ग्राम या ग्राम-संघ का सारा लगान अनुदान के रूप में पास के विहार को दे देता। विहार की जमीन और इमारतें किसी व्यापारी व्यक्ति या साधारण अमीर भक्तों के दान के रूप में होतीं। इस प्रकार से कई विहार और भिक्षु-गृह समृद्ध बनते गए, उनकी सुंदर इमारतें और सभागृह बने। उनमें भरे पूरे धान्य-भंडार और बहुत-सी स्थावर संपत्ति भी जमा हुई। कई मठों का एक ही प्राचीर के बीच संघ बन गया और उनकी एक ही संस्था हो गई।

फाहियान ने वर्णन किया है कि राजा और वैश्यों के अग्रणी (श्रेष्ठी)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भिक्षुओं के लिए जो विहार बनाते उनमें खेत, घर, बगीचे, फलों के उद्यान, पशु इत्यादि वहां पास रहने वाली जनता के सहयोग से, दान में देते। राजा की ओर से विहारों को जो दान-पात्र दिए जाते, "वे धातु की पट्टियों पर खोदे जाते, और वे एक राजा से दूसरे राजा को वंश-परंपरा से मिलते। किसी की हिम्मत नहीं थी कि उन्हें वह रद्द कर सकता।" "जब एक राजा एक भिक्षु संघ को कोई दान देता था, तो वह अपना मुकुट उतारकर आदर व्यक्त करता, अपने रिश्तेदारों और मंत्रियों को लेकर, इन भिक्षुओं को अपने हाथों से खिलाता।" "जनता के परिवार इन भिक्षु-संघों को सब आवश्यक चीज़ें विपुल मात्रा में देते थे, ताकि कोई कमी या कोताही न रह जाए।" कई मठ, सातवीं शती के अंत में इतने अमीर हो गए थे कि चीनी यात्री इ-त्सिंग जब उस शताब्दी के अंत में वहां आया, तब उसने उनकी निंदा-सी की है। वह लिखता है—"यह मठ के लिए उचित नहीं कि वहां आवश्यकता से अधिक द्रव्य हो, अन्न-भंडारों में गला हुआ अन्न हो, अगणित स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर और पैसा इतना संचित हो कि कोष में उसका कोई उपयोग ही न हो।"

चीनी यात्री और उनका साक्ष्य

फाहियान पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध में पाटलिपुत्र के दो विहारों में गया था। ये दोनों उस कालखंड में देश के विभिन्न भागों में जो विहार बन रहे थे, उनके नमूने थे। उनमें से एक 'बहुत विशाल और सुंदर' महायानी विहार था, दूसरा हीनयानी था। दोनों में मिलाकर छः से सात सौ भिक्षु रहते थे। वह इन दो विहारों के बारे में लिखता है—"वहां के आचार-व्यवहार के नियम और विद्यार्थियों के लिए व्यवस्था देखने योग्य है। सब जगह के सबसे अच्छे और योग्य श्रमण, विद्यार्थी और सत्य-जिज्ञासु वहां आते थे।"

उनकी शिक्षा-पद्धति ने फाहियान को भी आकर्षित किया था, यद्यपि वह एक धार्मिक तीर्थ-यात्री ही अधिक था। उसके बाद भारत में

विद्याप्रेमी और विद्वान युआन-च्वांग आया। इन दो शतियों के बीच में विहारों का शिक्षण-पक्ष बहुत विकसित हो गया था। देश के विभिन्न प्रदेशों से विद्वान लोग वहां पुस्तकें लिखने के लिए, अध्ययन करने, सीखने के लिए आते थे। इन विद्यापीठों की कीर्ति दूर के बौद्ध देशों में फैली थी। इसी कारण से विद्वान तीर्थ-यात्री, विशेषतः चीनी, वहां खिंचे चले आए और उन्होंने इन महाविहारों के प्रत्यक्ष-दर्शन पर आधारित वृत्तांत लिखे हैं। ये महाविहार भारत में ऐसे केंद्रों की तरह थे, जो कि अन्य देशों में बौद्ध संस्कृति और ज्ञान फैलाने वाले प्रकाश-वाहकों का कार्य करते थे।

पूरा उत्तरी और दक्षिणी चीन देश, 500 ईसवी तक बौद्ध धर्म अपना चुका था। फिट्ज़जेराल्ड के शब्दों में—"बौद्ध व्रताचार सर्वत्र पाले जाते थे, मंदिर और मठ प्रत्येक सूबे में बनाए गए, भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या बहुत थी और उन्हें बहुत आदर दिया जाता था।" (शार्ट कल्चरल हिस्ट्री आफ चाइना, पृ० 276)। इस समय चीन में बौद्ध धर्म में कई ताओ-धर्मी विश्वास और आचार आ गए थे और उन्होंने बौद्ध धर्म के मूल रूप को विकृत कर दिया था। उस युग के चीन के बौद्ध भिक्षु मानते थे कि चीनी और बौद्ध धर्म को सुधारने और शुद्ध करने के लिए बौद्ध धर्म के मूल देश की ओर जाना चाहिए, मूल ग्रंथों को जमा करने चाहिए और सही व्रताचार सीखने चाहिएं। तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य तो था ही, परंतु विशेषतः इस उद्देश्य से प्रेरित होकर चीनी तीर्थ-यात्रियों की एक परंपरा—सी चल पड़ी, हजारों किलोमीटर रेतीले रेगिस्तान और पर्वत लांघकर वे यहां आए। एक आधुनिक चीनी इतिहासकार प्रो० लिआंग-ची-चाओ के अनुसार, पांचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं शती में कम से कम 162 तीर्थ-यात्री चीन से भारत में आए, ऐसा चीनी स्रोतों से पता चलता है। इनमें से केवल तीन व्यक्तियों के ऐतिहासिक अभिलेखों का चीन-विद्याविशारदों ने पूरा अता-पता लगाया है और उनके अनुवाद किए गए हैं। इनमें फाहियान—405 से 411 ईसवी के भारत का, युआन-च्वांग—629 से 646 ईसवी के भारत का और इ-त्सिंग— 671 से 695 ईसवी के भारत का विवरण देते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विहार-विश्वविद्यालय

नालंदा और वलभी

युआन-च्वांग विद्वान महायानी भिक्षु था। भारत-प्रयाण के अवसर पर उसने विविध विश्वविद्यालयों में बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया। उसने विशेष रूप से इन दो संस्थाओं का उल्लेख किया है --पूर्व में नालंदा और पश्चिम में वलभी का। वलभी हीनयानी विद्यालय था। अतः उस ओर उसका इतना ध्यान नहीं गया, परंतु नालंदा का विस्तृत वर्णन उसने दिया है, जिसे उसके शिष्य और जीवनी लेखक ह्वुई ली ने और संपूर्ण रूप दिया है। नालंदा में युआन-च्वांग ने, उस संस्था के प्रमुख आचार्य शीलभद्र से पांच वर्ष तक योग-दर्शन का अध्ययन किया। यह एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था, वहां अध्ययन की कई शालाएं थीं, व्याख्यान के लिए प्रकोष्ठ थे, ग्रंथालय थे, व्याख्यानों के लिए प्रवेश और उपस्थिति के नियम थे, अनुशासन के और विद्यार्थियों के व्यवहार के नियम थे, शिक्षण व्यवस्था के विधि-निषेधात्मक नियम थे, नियमों की अवहेलना का पूरा दंड-विधान था। वह संस्था कितनी बड़ी थी, यह इसी से जाना जा सकता है कि युआन-च्वांग के अनुसार वहां डेढ़ हजार अध्यापक और दस हजार विद्यार्थी थे। इ त्सिंग के समय में यह संख्या घटकर 3000 तक हो गई थी।

यह कहा जाता है कि व्याख्यानों और वाद-विवादों के लिए सौ आसंदियां रोज जमाई जाती थीं। बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया जाता था। इसमें आध्यात्मिक और ऐहिक दोनों प्रकार के विषय आते थे, और विद्यार्थियों को विषय चुनने पड़ते थे। युआन-च्वांग की जो जीवनी ह्वुई-ली ने लिखी है, उसमें पृष्ठ 112 पर नालंदा में पढ़ाए जाने वाले विषयों का वर्णन दिया गया है--"नालंदा विश्वविद्यालय के भिक्षु और अन्य निवासियों की संख्या सदा 10,000 थी, और वे सब महायान की शिक्षा पाते थे। अट्ठारह पंथों के ग्रंथ पढ़े जाते थे जिनमें वेद-वेदांग थे, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, अथर्ववेद या मंत्रविद्या, सांख्य

आदि विद्याएं थीं। साथ ही वे अन्य फुटकर ग्रंथों का भी सूक्ष्म अध्ययन करते थे। एक हजार व्यक्ति वहां ऐसे हैं जो तीस सूत्र ग्रंथ और शास्त्र समझ सकते हैं, 500 ऐसे अध्यापक हैं जो ऐसे तीस ग्रंथ सिखा सकते हैं और कदाचित दस ऐसे हैं, जो पचास ग्रंथ समझा सकते हैं। अकेले शीलभद्र ऐसे हैं जिन्होंने सारे ग्रंथ पूरी तरह पढ़े हैं और सब ग्रंथों को समझा है।"

'बौद्ध धर्म के वृत्तांत' के 34वें अध्याय में इ-त्सिंग, भारतीय विद्यालयों में जो शिक्षण-पद्धति प्रचलित थी उसके बारे में और जानकारी देते हैं। विद्यार्थी के अध्ययन का एक मुख्य अनिवार्य विषय था संस्कृत-व्याकरण। इ-त्सिंग लिखते हैं: "पुराने अनुवादक (संस्कृत से चीनी में) संस्कृत भाषा के नियम हमें नहीं बताते........अब मुझे पूरा विश्वास है कि संस्कृत व्याकरण के संपूर्ण अध्ययन से, अब इस अनुवाद में जो भी कठिनाइयां आएंगी, दूर हो जाएंगी।" बाद में वह, संस्कृत व्याकरण का व्यवस्थित रूप से कैसे अध्ययन होता था, उसका वर्णन देता है। यशोमित्र की टीका से स्पष्ट है कि व्याकरण-ग्रंथ पढ़े जाते थे, उनमें मुख्य ये थे: पाणिनि-सूत्र, धातुपाठ, अष्टधातु, उणादिसूत्र, काशिका-वृत्ति, चूर्णि (शायद पांतजलि महाभाष्य), भर्तृहरि का शास्त्र, वाक्यपदीय और पेई-न अथवा बेड़ा-वृत्ति। वे आगे लिखते हैं कि तरुण विद्यार्थी हेतु-विद्या और अभिधर्म -कोश सीखते हैं। न्याय-द्वार-तर्क-शास्त्र सीखने से उनकी अनुमान शक्ति विकसित होती है, और जातक-माला पढ़ने से उनकी कल्पना और विचार-शक्ति बढ़ती है। भिक्षु न केवल सब विनय सीखते हैं, बल्कि समस्त सूत्रों एवं शास्त्रों का भी अनुसंधान करते हैं। वह और भी लिखता है कि "भारत में दो परंपराएं ऐसी हैं जिनके द्वारा मनुष्य ऊंची बौद्धिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। एक, बारंबार कंठस्थ करने से बुद्धि बढ़ती है, दूसरे वर्णमाला के अक्षरों से विचार निश्चित हो जाते हैं। इस प्रकार से दस दिन के भीतर विद्वान को ऐसे लगने लगता है कि उसके विचार फव्वारे की तरह उठ रहे हैं और एक बार सुनी हुई चीज दुबारा बताने की जरूरत न होते हुए,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बराबर याद रह जाती है। यह सिर्फ सुनी-सुनाई हुई गप नहीं है, परंतु मुझे स्वयं ऐसे लोग मिले हैं।''

पाठ्यक्रम की समाप्ति पर दीक्षांत समारोह होता था। उसमें विद्यार्थी की सामाजिक स्थिति और गुणों को देखते हुए उपाधियां दी जाती थीं। नित्य का कार्यक्रम घटिकायंत्र के सहारे नियमित किया जाता था। एक बड़े से पानी के कटोरे में एक छोटी छेद वाली कटोरी रखी जाती थी। वह एक प्रहर के चौथे हिस्से में पूरी भर जाती, फिर एक नगाड़े से एक प्रहर की सूचना दी जाती थी। विद्यार्थी और शिक्षक का एक काम का दिन आठ घंटों का होता था।

नालंदा अपने 'वाद-विवादों की शालाओं' के लिए प्रसिद्ध था। सचमुच उससे और पुरानी, प्रतिष्ठित परंपरा का स्मरण हो आता है—कथाओं की परंपरा का। इन शालाओं में न केवल भारत के सब प्रदेशों से, बल्कि सुदूर-पूर्व और तिब्बत से भी पढ़ने वाले आते थे। ''पढ़ने में और वाद-विवाद करने में दिन यों बीत जाता था कि दिन के घंटे उन्हें कम जान पड़ते थे'' (युआन-च्वांग)। नालंदा तथा अन्य विश्वविद्यालयों में किए गए ये वाद-विवाद ब्राह्मणधर्मीय तथा बौद्ध विचारों और संस्कृति के समन्वय में इतने सहायक सिद्ध हुए कि प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का अंतिम काल बड़ा रहस्यमय बन गया।

तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि नालंदा के ग्रंथालयों में हस्तलिखित ग्रंथों की कितनी विशाल संपदा थी। लामा तारानाथ और 17वीं, 18वीं शती के अन्य तिब्बती लेखक जिन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास लिखे हैं, इस संपदा के बारे में लिखते हैं कि विश्वविद्यालय के अहाते का बहुत बड़ा घेरा इन ग्रंथालयों के लिए अलग से रखा गया था और उस पर बड़ी-बड़ी, कई मंजिलों वाली इमारतें थीं, उनमें से तीन के सुंदर नाम थे—रत्नोदधि, रत्नसागर, रत्नरंजक। पहला ग्रंथालय नौ मंजिला था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार एक क्रोधी तुरुष्क के द्वारा जान-बूझकर आग लगा दी गई और ग्रंथालय की ये बड़ी इमारतें

भस्मसात हो गई।

कई शताब्दियों पूर्व नालंदा की स्थापना हुई थी। विश्वविद्यालय के नाते वह अपनी परम कीर्ति पर पहुंचा छठी शती में, फाहियान और युआन-च्वांग के काल के बीच में, और शायद विक्रमशिला विश्वविद्यालय की बढ़ती हुई कीर्ति के सामने इसकी कीर्ति कुछ मंद पड़ गई हो, फिर भी तीन शताब्दियों तक नालंदा का नाम चमकता रहा। 1197 ईसवी में विहार पर जो मुस्लिम आक्रमण हुआ, उसे वह न सह सका।

स्थापत्य की दृष्टि से सातवीं शती के भारत में नालंदा कदाचित सबसे बड़ा और सबसे सुंदर विहार था। युआन-च्वांग का ही नहीं, परंतु बाद की शती के राजा यशोवर्मन् के एक वर्णनात्मक शिलालेख का साक्ष्य है कि नालंदा में ''विहारों की पंक्तियां थीं और आकाशचुंबी शिखरों की मालिकाएं थीं।'' ह्वुई-ली और युआन-च्वांग और विवरण देते हैं : ''बाहर के सब चौक, जिनमें भिक्षुओं के कमरे हैं, चार मंजिल वाले हैं। प्रत्येक मंजिल का एक महासर्प जैसा बाहर का चक्करदार पुच्छल हिस्सा है और रंगीन बेलें, मोतियों जैसे चमकने वाले लाल खंभे, जिन पर बहुत सुंदर नक्काशी का काम किया हुआ था, बहुत-से अच्छी तरह सजाए हुए जीने और छज्जे इत्यादि थे। छतों पर ऐसे कवेलू थे जो प्रकाश की किरणों को हजार रंगों में परिवर्तित करते थे। ये सब उस दृश्य की सुंदरता को बढ़ाते हैं। भारत में संघाराम इतने हैं कि उनकी गिनती नहीं, परंतु इनमें सबसे अधिक सौंदर्य और ऊंचाई में प्रसिद्ध यही है'' (ह्वुई-ली)। ''इस संस्था का, जो कई राजवंशों का निर्माण कार्य है, स्थापत्य संपूर्ण है और सचमुच सुंदर है'' (युआन्-च्वांग)। जहां स्थापत्य का यह महान नमूना स्थित है वहां की प्राकृतिक स्थिति भी उस सौंदर्य से मिलती-जुलती हुई है। जमीन पर कई सरोवर हैं जिनमें नीलोत्पल विपुल मात्रा में हैं, और उनके सुंदर नीले रंग के साथ कनक पुष्प सब ओर से अपना गहरा लाल रंग मिलाते हैं। आम्रकुंजों की घनी छायाएं सब ओर जमीन पर छितरी हुई हैं। नालंदा के इस सारे स्वाभाविक और मानव-निर्मित सौंदर्य में से सिवाय खंडहरों के अब कुछ बचा नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यत्र-तत्र मिट्टी का ढेर हैं, खंडित पत्थरों की प्रतिमाएं हैं। पुरातत्वविद् अपने फावड़े और कुदालें लेकर वहां व्यस्त हैं।

राजगृह (बिहार राज्य) से कुछ किलोमीटर दूरी पर बड़गांव देहात ही प्राचीन नालंदा था। पुरातत्वविदों ने वहां खुदाई की, और जो कुछ मिला वह एक पास के संग्रहालय में रखा गया है। इन वस्तुओं में विश्वविद्यालय की मुहर मिली है, जो पत्थर पर खुदी है। उस पर धर्मचक्र है। उसके दोनों ओर एक-एक मृगशावक है। उस पर यह लिखा है, 'नालंदा महाविहार महाभिक्षु-संघ'। इस मुहर से यह सिद्ध है कि यह विश्वविद्यालय अपने आप में पूर्ण एक ऐसी संस्था थी जिसमें अगणित विहार थे। ये विहार सदियों में बनाए गए थे और इस प्रकार यह महाविहार बना था।

युआन्-च्वांग और इ-त्सिंग दोनों ही एक और प्रमुख महाविहार का वर्णन करते हैं। वह पश्चिमी भारत का वलभी का महाविहार था। इ-त्सिंग लिखता है कि इन विश्वविद्यालय में विद्यार्थी दो-तीन वर्ष तक अपना अध्ययन पूरा करने के लिए रहते थे। उस शती में वलभी हीनयानियों की सबसे बड़ी संस्था थी और नालंदा महायानियों की।

विक्रमशिला

ऊपर बताए विश्वविद्यालयों के अलावा, अन्य कई बौद्ध विश्वविद्यालय भी थे जो मुस्लिमों के बिहार-बंगाल के विजय-काल तक चलते रहे। तिब्बती स्रोतों से उनका पता चलता है। तारानाथ के 'भारतीय बौद्ध धर्म का इतिहास' के वर्णन से और अन्य ऐतिहासिक हस्तलिखित रचनाओं-पुष्पिकाओं में जो उल्लेख हैं, उनसे जान पड़ता है कि विक्रमशिला इन विश्वविद्यालयों में सबसे बड़ा और प्रसिद्ध था। गंगा के दाहिने किनारे पर 'जहां पवित्र नदी उत्तर को बहती है', विक्रमशिला एक छोटी-सी पहाड़ी पर था। यह स्थान अभी तक निश्चित रूप से नहीं पाया गया। कदाचित् पानी के बरसों के कटाव से वह बह गया हो। अपने सबसे चरम काल में इसे बंगाल के बौद्ध पाल राजाओं का आश्रय

प्राप्त था। यह बहुत बड़ा विद्यालय रहा होगा। इसके छः द्वार थे। हर द्वार पर विश्वविद्यालय का एक विद्वान रक्षक होता था, जो 'द्वार-पंडित' कहलाता था। इसमें पंडित की अंतिम उपाधि दी जाती थी।

तिब्बती अभिलेखों के अनुसार दीपंकर श्रीज्ञान (980-1053 ई०) के नाम से संबद्ध होने के कारण विक्रमशिला की कीर्ति थी। ओदंतपुरी में अपना अध्ययन पूरा करके यह विद्वान आचार्य 1034-38 ईसवी में विक्रमशिला विश्वविद्यालय के मुख्य बने। बाद में तिब्बत के राजा के निमंत्रण पर वे तिब्बत में गए और बौद्ध धर्म के सुधार का आंदोलन उन्होंने शुरू किया। तब बौद्ध धर्म तिब्बत का राजधर्म था।

वह अपनी साठ वर्ष की आयु में थे और विक्रमशिला के मुख्य थे, जब उन्हें तिब्बती राजा का निमंत्रण मिला और उनसे राजदूतों ने आग्रह किया। तब बहुत अनिच्छा से उन्होंने वहां जाने की बात कबूल की। रास्ता कठिन था और उसमें वे थक जाते थे। वे रास्ते के कई चक्करदार, हवा के सख्त झकोरों से भरे 'ला' (पहाड़ी जोतों) से होते हुए हिमालय पार करके तिब्बत कैसे पहुंचे, वहां उनका कैसा ज़ोरदार स्वागत हुआ, ये सब बातें अतिश की तिब्बती जीवनी में दी गई हैं। अतिश, दीपंकर श्रीज्ञान का तिब्बती नाम है। यह जीवनी दीपंकर के तिब्बती शिष्य नाग्चो ने लिखी है। उस भयंकर ठंडे, ऊंची-नीची जमीन वाले देश में तेरह वर्षों के धर्म-प्रचार कार्य के बाद जब वे काफी प्रसिद्ध हो गए और उनकी आयु भी काफी हो गई तब, नेथन नामक एक अज्ञात अंतर्वर्ती स्थान में, वे स्वर्गवासी हुए। उनकी समाधि अभी भी वहां है। उनका वर्णन और चित्र कैप्टेन वाड्डेल के 'ल्हासा और उसके रहस्य' (1905) नामक ग्रंथ में मिलेगा। वाड्डेल वहां बीसवीं शती के आरंभ में गया था।

दीपंकर तिब्बत में लामावाद के प्रचारक-संस्थापक थे और तिब्बत में उन्हें तिब्बती नाम से पूजा जाता है। दार्जिलिंग के समीप के घूम मठ में लामा-देवताओं की भयानक तांत्रिक आकृतियों में एक अकेली मानवी प्रस्तर-प्रतिभा अतिश की है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगद्दल और ओदंतपुरी

बंगाल के बौद्ध पाल राजा बड़े विद्या-प्रेमी थे। राजा रामपाल (1084-1130 ई०) ने एक नई राजधानी गंगा और उसकी एक सहायक नदी करतोया के संगम पर बनाई। उसका नाम रामावती रखा। यहां उसने जगद्दल नामक बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित किया। वह मुश्किल से डेढ़ सदी रहा होगा कि बिहार के मुस्लिम आक्रमण में वह भी नष्ट हो गया। परंतु इस छोटे-से समय में उसमें कई विद्वान हुए जिनके नाम आज हमें केवल ग्रंथों के तिथि और लेखकोल्लेख मात्र से पता चलते हैं। ये उल्लेख संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में हैं।

ओदंतपुरी, जहां एक समय में एक हजार भिक्षु रहते थे, पालवंश से पहले विद्यमान था, परंतु पाल राजाओं के समय उसे विश्वविद्यालय का रूप मिला। पाल राजाओं ने बहुत उदारतापूर्वक उसे बहुत दान दिया। यह कहा जाता है कि तिब्बत में जो पहला बौद्ध विद्यालय बना वह इसी विश्वविद्यालय के आदर्श पर था।

नालंदा की परंपरा इन बाद के बौद्ध विश्वविद्यालयों ने आगे चलाई, मुस्लिम विजय काल तक। बाद में इन विश्वविद्यालयों से भागकर कई विद्वान तिब्बत पहुंचे, जहां उन्होंने अपने ग्रंथ लिखे। बौद्ध धर्म के तिब्बती विश्वकोश में उनका समावेश है, कुछ मूल तिब्बती में हैं, कुछ संस्कृत के अनुवाद हैं। तिब्बती लिपि भी दीपंकर श्रीज्ञान ने भारतीय लिपि से ही निर्मित की, और इस कारण इन प्रवासी विद्वानों को तिब्बती सीखने में कठिनाई नहीं जान पड़ी। उसी में उन्होंने ग्रंथ-रचना भी की।

अशोक के उत्तरकालीन कुछ बौद्ध महापुरुष

भारत

(शासक : मिनांदर, कनिष्क, हर्ष)

अशोक के बाद बौद्ध धर्म की मशाल को मिलिंद (मिनांदर), कनिष्क, हर्ष और पालवंशीय शासकों (750-1150 ई.) के प्रयत्नों ने जलती हुई रखा। इंडो-ग्रीक मिनांदर बौद्ध धर्म का एक महान संरक्षक और सहायक था। मौर्य साम्राज्य की शक्ति के ह्रास के बाद की दो शताब्दियों में ग्रीक आक्रमणकारियों ने उत्तर-पश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस युग में करीब तीस शासक हुए, जिनमें से केवल मिनांदर ही भारतीय मस्तिष्क पर अपनी स्थायी छाप छोड़ गया है। स्पष्टतः यह सद्धर्म के साथ उसके संबंध के कारण ही है।

राजा मिनांदर पालि ग्रंथ 'मिलिंद-पञ्ह' में एक पात्र है। 'मिलिंद' ग्रीक शब्द मिनांड्रोस का भारतीय रूपांतर है। प्राचीन लेखकों ने इस ग्रीक राजा के नाम के कई अन्य भारतीय रूप भी प्रयुक्त किए हैं। जिन मुख्य स्रोतों से राजा मिनांदर के संबंध में सूचना संकलित की जा सकती है, वे हैं : 'मिलिंद पञ्ह', स्ट्रेबो, प्लूटार्क और जस्टिन जैसे ग्रीक इतिहासकारों के वर्णन और स्वयं राजा मिनांदर के सिक्के, जिन पर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

'बेसिलियस सोटेरोस मिनांड्रोस' लेख पाया जाता है। ये सिक्के उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों तथा काबुल और सिंधु नदी की घाटियों में बाईस विभिन्न स्थानों पर पाए गए हैं।

राजा मिनांदर की तिथि के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद है। स्मिथ के मतानुसार मिनांदर का समय ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी का मध्य भाग है। हेमचंद्र रायचौधरी मिनांदर के काल को प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व मानते हैं। स्वयं 'मिलिंद-पञ्ह' में यह कहा गया है : 'परिनिब्बानतो पञ्चवस्ससते अतिक्कंते।' इसका तात्पर्य यह है कि राजा मिलिंद भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के 500 वर्ष बाद हुआ। इस प्रकार यह मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ग्रीक राजा मिनांदर ने प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व या उसके आसपास शासन किया। अन्य तथ्यों द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है।

'मिलिंद-पञ्ह' में राजा मिनांदर (मिलिंद) का वर्णन योनकों (यवनकों-यवनों) के राजा के रूप में किया है। 'योनकानां राजा मिलिंदो।' पालि शब्द 'योनक' या 'योन' (सं० यवन) प्राचीन पारसी भाषा के 'यौन' शब्द के समान है, जिसका मौलिक अर्थ 'आयोनिया का निवासी ग्रीक' था, परंतु बाद में जिसका प्रयोग ग्रीक मात्र के लिए होने लगा। मज्झिम-निकाय के अस्सलायण-सुत्तंत से स्पष्ट है कि योन और कंबोज लोगों के प्रदेश भारतीयों को छठी शताब्दी ईसवी पूर्व ज्ञात थे। इस सुत्त में कहा गया है कि भारतीय समाज के चार वर्णों के स्थान पर इन लोगों के प्रदेश में केवल दो ही वर्ण थे— आर्य और दास। यह एक सुविज्ञात तथ्य है कि पाटलिपुत्र में हुई तृतीय बौद्ध संगीति के बाद धर्म-प्रचारकों को दूरस्थ योन (यवन) देश के अंतर्गत सीरिया के शासक एंटियोकस द्वितीय, मेसिडोनिया के शासक एंटिगोनस गोनेटस, आदि के राज्यों में भेजा गया था। अशोक के द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों में इस बात का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि ग्रीक भिक्षु धर्मरक्षित—योन धम्मरक्खित—को अपरांत प्रदेश में धर्म-प्रचारार्थ भेजा गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मिनांदर के पूर्व

भी भगवान बुद्ध के सदुपदेश ग्रीक मनीषा को प्रभावित करने लगे थे। स्वयं राजा मिनांदर को हम पहले बुद्ध की शिक्षाओं के संबंध में संदेह और कठिनाइयां उपस्थित करते और फिर उन संदेहों और कठिनाइयों का स्थविर नागसेन द्वारा निवारण कर दिए जाने के पश्चात् एक श्रद्धालु के रूप में बौद्ध धर्म का प्रचार करते देखते हैं।

'मिलिंद पञ्ह' में बताया गया है कि मिलिंद राजा का जन्म अलसंद (अलेक्जेंड्रिया—आधुनिक कंधार) के दीप (द्वीप-दोआब) में कलसि नामक ग्राम (कलसिगामो) में हुआ था।[1] उसकी राजधानी सागल नगरी थी, जिसे आधुनिक स्यालकोट से मिलाया गया है। मिनांदर के राज्य में पेशावर, उत्तरी काबुल-घाटी, पंजाब, सिंध, काठियावाड़ और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे।

मिनांदर एक विद्वान और प्रतिभाशाली तार्किक था। अनेक ज्ञान-शाखाओं में निष्णात और विशेषतः तर्क-विद्या में वह पारंगत था। बौद्ध धर्म के सच्चे सार को वह समझना चाहता था। इसमें अनेक कठिनाइयां और गुत्थीदार समस्याएं उसके सामने आईं। अपने चित्त के समाधान के लिए वह अनेक धर्मगुरुओं के पास गया, परंतु कोई उसकी कठिनाइयों को दूर नहीं कर सका। सत्य का गंभीर गवेषक तो मिनांदर था ही। वह इससे अत्यंत निराश हो गया। अपनी इस निराशा की अवस्था में हम उसे उद्‌गार करते देखते हैं, "अरे, यह जंबुद्वीप (भारतवर्ष) तुच्छ है। झूठ-मूठ का इतना नाम है। कोई भी श्रमण या ब्राह्मण यहां ऐसा नहीं है जो मेरे साथ बातचीत कर सके और मेरी शंकाओं को दूर कर सके।"[2] यह एक सौभाग्यपूर्ण संयोग ही था कि एक दिन राजा मिलिंद ने एक बौद्ध भिक्षु को देखा। इनका नाम नागसेन था और वह उस समय भिक्षा के लिए जा रहे थे। साधु के शांत और संयत व्यक्तित्व का मौन किंतु शक्तिशाली प्रभाव राजा के मन पर पड़ा। दूसरे दिन पांच सौ यवनकों को साथ लेकर वह सागल के संखेय्य परिवेण

1. मिलिंद, 82.

2. मिलिंद, 5, 21.

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नामक बौद्ध विहार में गया, जहां उस समय स्थविर नागसेन ठहरे हुए थे। उन दोनों में वहां संलाप से पूर्व इस असाधारण भिक्षु ने राजा से स्पष्टतः कह दिया कि वह इसी शर्त पर संलाप करने को प्रस्तुत होंगे कि शास्त्रार्थ 'पंडितवाद' के ढंग पर हो, 'राजवाद' के ढंग पर नहीं। राजा ने इसे स्वीकार किया और भिक्षु के प्रति आदर प्रदर्शित किया। तदनंतर उसने एक के बाद एक अपने संदेहों और कठिनाइयों को भिक्षु के सामने रखा। सुयोग्य भिक्षु ने उन सबका समाधान कर दिया और राजा को परम संतोष प्राप्त हुआ। राजा मिलिंद और भिक्षु नागसेन के इसी संलाप पर 'मिलिंद पञ्ह' आधारित है। यह ग्रंथ स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अनु-पिटक साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है और आचार्य बुद्धघोष ने इसे प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। हमारे लिए यहां इस ग्रंथ की विषय-वस्तु के विस्तार में जाना शक्य न होगा। संक्षेप में, यह कहना पर्याप्त होगा कि गंभीरतम आध्यात्मिक समस्या, जिससे राजा मिलिंद पीड़ित हो रहा था, यह थी कि वह यह नहीं समझ पा रहा था कि किस प्रकार पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली किसी आत्मा को न मानकर भगवान बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास कर सकते थे? इस गुत्थीदार समस्या को स्थविर नागसेन ने इस ग्रंथ में अत्यंत प्रभावशाली रूप में सब काल के लिए हल कर दिया है। संलाप के अंत में, जब राजा के सब संदेहों का समाधान हो चुका, तो उसने भिक्षु नागसेन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। राजा का मन आध्यात्मिक आमोद से भर गया। उसने त्रि-रत्न की शरण प्राप्त की और स्थविर नागसेन से प्रार्थना की कि उस दिन से वह उन्हें जीवन-पर्यंत उपासक के रूप में स्वीकार करें। ''उपासकं मं भन्ते नागसेन धारेथ अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं ति।''[1] बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर राजा मिलिंद ने 'मिलिंद विहार' नामक एक विहार का निर्माण करवाया और उसे स्थविर नागसेन को समर्पित कर दिया। भिक्षु-संघ को भी उसने उदारतापूर्वक दान दिया। 'मिलिंद पञ्ह' के अनुसार राजा मिनांदर अपने पुत्र को राज्य देने के बाद भिक्षु हो गए और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने

1. मिलिंद, 420.

अर्हत्व को भी प्राप्त किया [1] जो स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अनुसार पवित्र जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

ग्रीक इतिहासकार प्लूटार्क का कहना है कि मिनादर की मृत्यु एक शिविर में हुई ओर उसके फूलों (भस्मावशेष) के लिए कई भारतीय नगरों में झगड़ा हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका बंटवारा हुआ और प्रत्येक के ऊपर विशाल स्तूपों का निर्माण किया गया। हम जानते हैं कि भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बिल्कुल ऐसी ही घटना हुई थी। इसके अलावा एक यह भी सार्थक तथ्य है कि मिनांदर के सिक्कों में धर्म-चक्र अकित हैं। यह इस बात का निश्चित चिन्ह है कि वह एक श्रद्धालु बौद्ध था। शिनकोट अभिलेख से यह बात निःसंदेह प्रमाणित हो जाती है कि इस ग्रीक राजा ने हिंदुकुश और सिंध के बीच के प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। प्लूटार्क का कहना है कि एक शासक के रूप में मिनांदर न्याय का अत्यधिक ध्यान रखता था और उसकी जनता उसे हृदय से प्रेम करती थी। मिनांदर ने जो शक्ति भारत में स्थापित की वह उसकी मृत्यु के साथ ही लुप्त हो गई, परंतु इस न्यायी और सुधी बौद्ध शासक की स्मृति 'मिलिंद पञ्ह' के पन्नों और धर्म-चक्र से अंकित स्वयं उसके सिक्कों में सदा स्थायी रहेगी।

मिलिंद के बाद भारतीय इतिहास में एक दूसरा नाम आता है जो भारत के शासकों तथा बौद्ध परंपरा में उसके समान ही तेजस्वी है। यह नाम है कनिष्क का, जिसने अशोक के काम को पूरा किया और संपूर्ण एशिया में बौद्ध धर्म के विजयपूर्ण प्रसार में सहायता दी। कनिष्क यूह्-ची कबीले की कुषाण (क्यूई-श्वांग) शाखा में उत्पन्न हुआ था। यूह्-ची मूलतः चीनी तुर्किस्तान (आधुनिक सिंक्यांग) में निवास करते थे। प्रथम कुषाण सरदार, जिसने भारत में आधिपत्य स्थापित किया, कडफिसीज़ प्रथम (कुजुल-कस) था। यह बौद्ध था। तक्षशिला के समीप जो खुदाई हुई है, उसमें उसके कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ है—''कुजुल-कसस कुसण-यवुगस धर्मठिदस'' अर्थात् धर्म में

1. मिलिंद, 420.

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थित, कुषाण सरदार कुजुल-कस का।" धर्म से तात्पर्य यहां बौद्ध धर्म से ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि इसी शासक के जो कुछ अन्य सिक्के मिले हैं, उन पर 'धर्म-ठित' के स्थान पर लिखा हुआ है—'सच्च-धर्म-ठित' अर्थात् 'सत्य-धर्म में स्थित' जिससे स्पष्टतः तात्पर्य सद्धर्म या बौद्ध धर्म से ही है। इस प्रकार के तेजस्वी पूर्वज की परंपरा में कनिष्क ने प्रथम शताब्दी ईसवी के अंतिम चतुर्थांश में भारत के शासन को प्राप्त किया।

कनिष्क का शासन (78-101 ईसवी) बौद्ध धर्म तथा साहित्य के इतिहास में एक युग-परिवर्तन की सूचना देता है। इसने महायान बौद्ध धर्म के उदय को देखा। पार्श्व, अश्वघोष और वसुमित्र आदि के द्वारा प्रवर्तित महान साहित्यिक कार्य का श्रीगणेश इसी समय हुआ। पालि के स्थान पर संस्कृत की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। कला के क्षेत्र में प्रसिद्ध गांधार-कला का आविर्भाव इसी समय हुआ और बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां बनने लगी। कनिष्क के शासन-काल में और उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही प्रथम बार बौद्ध धर्म का सफलतापूर्वक प्रचार मध्य-एशिया और पूर्व-एशिया में किया गया। मध्य-एशिया से लेकर भारत के मध्य-देश तक फैले कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में धर्म-प्रचार का कार्य उसके शासन-काल में सतत रूप से चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप सच्चे अर्थों में एशिया की एक संश्लिष्ट संस्कृति का जन्म हुआ जो जीवन के उच्चतम उद्देश्यों पर आधारित थी, जिनके लिए ही बौद्ध धर्म खड़ा हुआ था।

कनिष्क ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म ग्रहण किया, उसकी कहानी प्रायः अशोक के समान ही है। कहा जाता है कि यूह-ची सम्राट का अपने जीवन के पूर्व भाग में बौद्ध धर्म के प्रति बिल्कुल आदर-भाव नहीं था। उसका कर्म के सिद्धांत में विश्वास नहीं था और वह बौद्ध धर्म को घृणा की दृष्टि से देखता था[1]। काशगर, यारकंद और खोतान की विजय करते समय उसने जो रक्तपात किया उसके पश्चात्ताप-स्वरूप ही बौद्ध धर्म की शांतिदायिनी शिक्षाओं की ओर उसका झुकाव हुआ, जिनका उसने बाद में उत्साहपूर्वक प्रचार किया।

1. ऑन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, टी० वाटर्स कृत (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स तथा एस० डब्ल्यू० बुशल द्वारा सम्पादित, 1904-5), जिल्द पहली, पृष्ठ 203

सबसे महान सेवा जो इस इंडो-सिथियन सम्राट ने बौद्ध धर्म के लिए की, वह उसके द्वारा एक बौद्ध संगीति को बुलवाना था, जो कुछ विद्वानों के मतानुसार कश्मीर के कुंडलवन विहार नामक विहार में हुई और कुछ के मतानुसार जालंधर में। युआन-च्वांग, जो इस संबंध में सबसे अधिक प्रमाणपुरुष माने जाते हैं, यह मानते हैं कि यह सभा कश्मीर में ही हुई। बौद्ध संगीतियों के इतिहास में यह सभा चतुर्थ थी और इसका मुख्य उद्देश्य सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का संकलन और उन पर भाष्य लिखना था। कनिष्क ने यह सभा पार्श्व नामक एक वृद्ध और विद्वान भिक्षु के आदेशानुसार बुलवाई। वसुमित्र इस सभा के सभापति चुने गए और आचार्य अश्वघोष, जिन्हें संपादन-कार्य में सहायता देने के लिए साकेत से बुलवाया गया, उप-सभापति बने। इस सभा में पांच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया और जिन भाष्यों का उन्होंने संपादन किया, वे विभाषा-शास्त्र कहलाते हैं, जो बौद्ध धर्म के तीन पिटकों पर लिखे गए थे। युआन-च्वांग का कहना है कि इस सभा ने सूत्रों की व्याख्या करते हुए उपदेश-शास्त्र के रूप में एक लाख गाथाओं की रचना की। इसी प्रकार विनय की व्याख्या करते हुए एक लाख गाथाएं लिखीं जो विनय-विभाषा-शास्त्र कहलाईं। अभिधर्म की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार एक लाख गाथाएं लिखी गईं, जो अभिधर्म-विभाषा-शास्त्र कहलाईं। ऐसा माना जाता है कि महाविभाषा, जो आज भी चीनी भाषा में पाई जाती है, इस सभा के द्वारा तैयार किए हुए भाष्यों का प्रतिनिधित्व करती है। ये भाष्य ताम्र-पत्रों पर उतारे गए और पत्थर के संदूकों में बंद कर सुरक्षापूर्वक एक स्तूप में रख दिए गए, जिसे कनिष्क ने इसी प्रयोजन के लिए विशेष रूप से बनवाया था। सभा की कार्यवाही की समाप्ति पर, कनिष्क ने, अशोक का अनुसरण करते हुए, कश्मीर के राज्य को बौद्ध संघ को दान कर दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार कनिष्क ने अनेक विहार और चैत्य बनवाए। उसने कनिष्कपुर नामक एक नगर को भी बसाया, जिसे आधुनिक कश्मीर के कनिसपुर नामक स्थान से मिलाया गया है। कनिष्क ने अपने नाम पर एक विशाल स्तूप भी बनवाया। इस स्तूप के पश्चिम में उसने एक बड़ा विहार बनवाया जो 'कनिष्क महाविहार' कहलाता था। ये दोनों भवन पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में बनवाए गए थे। कनिष्क-स्तूप 400 फुट ऊंचा था और उसका आधार 150 फुट ऊंचा था। फाहियान, सुंग-युन और युआन-च्वांग जैसे चीनी चात्रियों ने इस स्तूप की बड़ी प्रशंसा की है। 'कनिष्क महाविहार', जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, सातवीं शताब्दी में एक 'पुराने विहार' के रूप में विद्यमान था, जब कि युआन-च्वांग ने उसे देखा। अलबरूनी ने पुरुषावर (पेशावर) में कनिष्क द्वारा निर्मित एक 'कनिक चैत्य' (कनिष्क चैत्य) का उल्लेख किया है। स्पष्टतः यह 'कनिष्क-महाविहार' ही था।

कुषाण-वंश के शासकों ने एक उदार आध्यात्मिक संस्कृति का परिचय दिया है। यह इस बात से प्रकट होता है कि इस वंश के शासक भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी थे। प्रथम कुषाण सरदार कडफिसीज़ प्रथम, जैसा हम पहले कह चुके हैं, एक श्रद्धालु बौद्ध उपासक था। उसका पुत्र कडफिसीज़ द्वितीय शैव था। कनिष्क, जो कडफिसीज द्वितीय का उत्तराधिकारी था, न केवल बौद्ध था बल्कि बौद्ध धर्म का उत्साही प्रचारक भी, यह हम अभी देख चुके हैं। यह कुछ कम ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि कनिष्क का उत्तराधिकारी वाशिष्क भागवत धर्म का अनुयायी था।

धर्म के विषय में भारतीय संस्कृति में जो सदा उदारता रही है, उसका इसे एक निदर्शन माना जा सकता है। यद्यपि कनिष्क स्वयं एक निष्ठावान बौद्ध था, फिर भी अन्य धर्म-साधनाओं का वह आदर करता था, जैसा कि उसके सिक्कों से ज्ञात होता है। कनिष्क के सिक्कों पर सकयमो बोदो (शाक्यमुनि बुद्ध) के अलावा ओएशो (शिव), पारसी अग्नि-देवता अथशो (अतश) तथा ग्रीक सूर्य-देवता हेलियोस भी अंकित

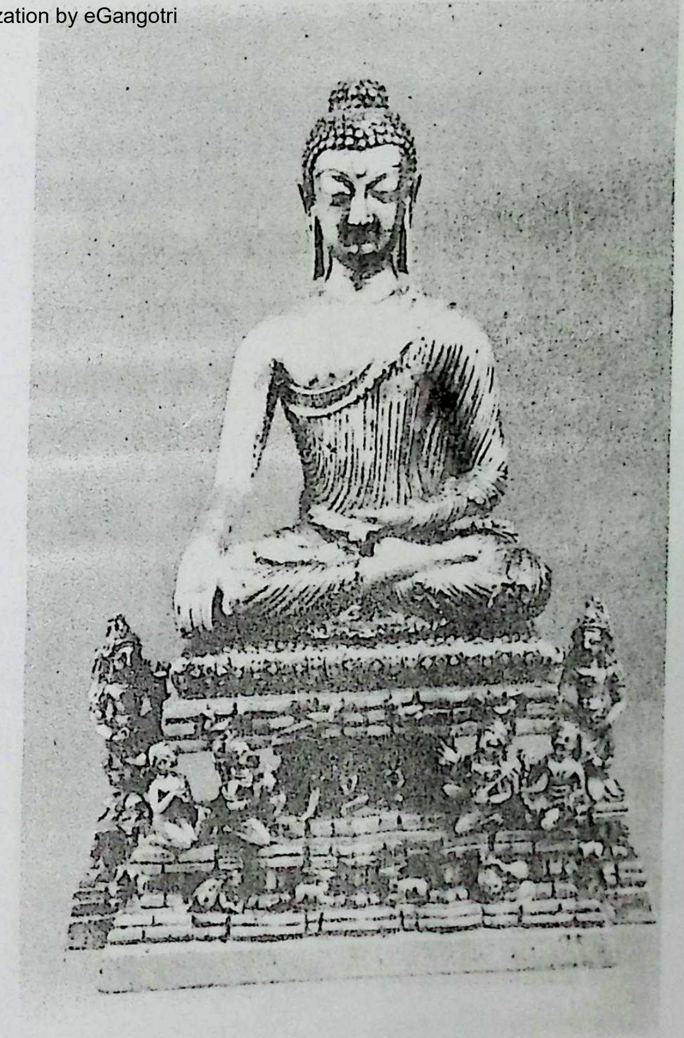

पार्थिव और स्वर्गिक लोगों से घिरे महात्मा बुद्ध
(कश्मीर शैली)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

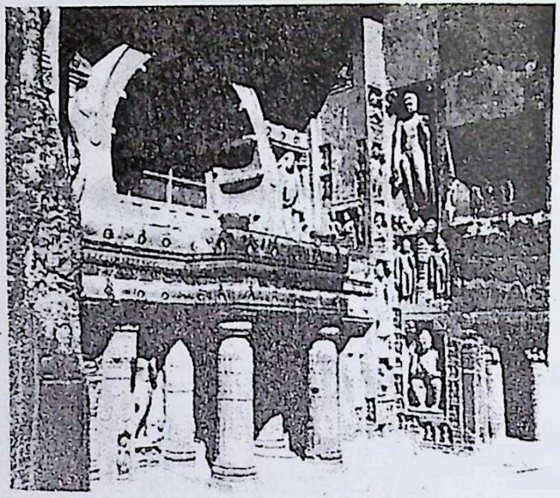

अजंता की
गुफा सं. 19
का एक भाग

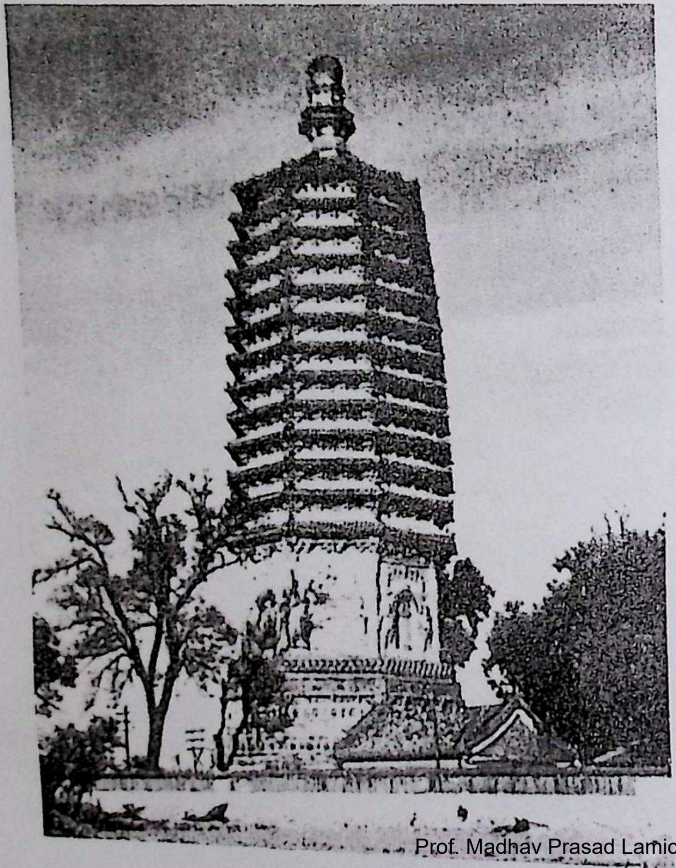

तिएन-निंग-स्से पेकिंग का एक मंदिर

महाबोधि मंदिर (बोधगया)

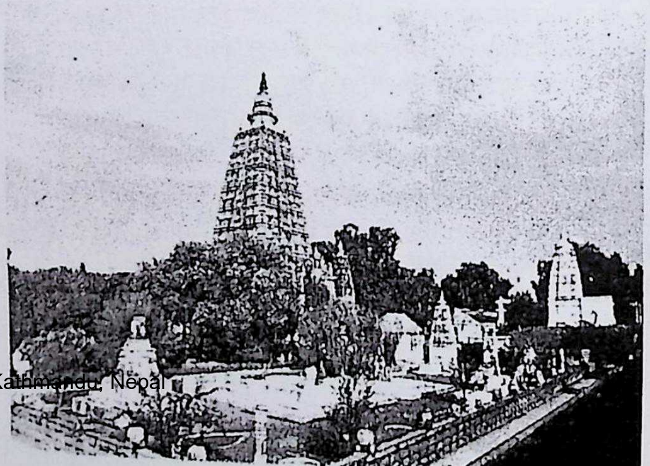

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

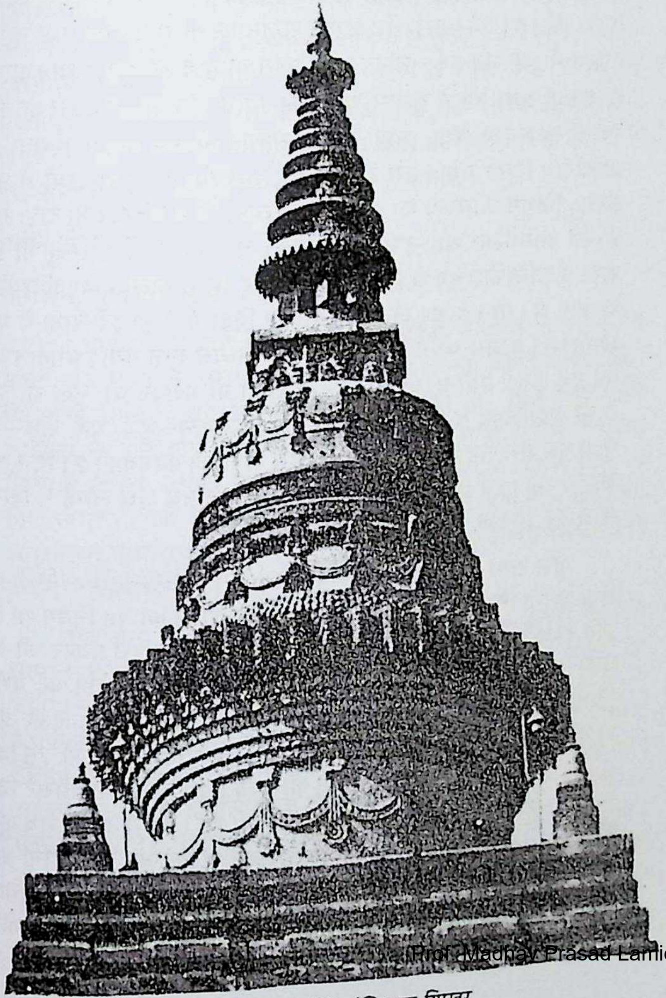

बोधगया के महाबोधि मंदिर का शिखर

हैं। धर्म के विषय में यही उदारता कनिष्क से प्रायः छः शताब्दी बाद आने वाले बौद्ध शासक हर्ष ने दिखलाई, जिसने शिव और सूर्य की पूजा के संबंध में भी आदर-भाव प्रकट किया।

सम्राट हर्षवर्द्धन एक महान विजेता था। छत्तीस वर्ष तक लगातार युद्ध करने के पश्चात वह समग्र भारत को एक राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्र में बांध सका, जिसकी उस समय बड़ी आवश्यकता थी। विद्या का वह बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। प्रसिद्ध संस्कृत कवि बाणभट्ट उसकी राज-सभा की शोभा थे। स्वयं सम्राट हर्ष एक अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने तीन संस्कृत नाटक लिखे हैं, जिनके नाम हैं: नागानंद, रत्नावली और प्रियदर्शिका। कुछ विद्वान इन्हें हर्ष की रचना मानने में आपत्ति भी करते हैं। नागानंद नाटक में जीमूतवाहन बोधिसत्व द्वारा एक नाग के लिए किए गए आत्म-बलिदान का वर्णन है।

हर्ष ने अपने जीवन के प्रारंभिक काल में अपने परिवार में महान दुख देखा। उसकी माता यशोमती ने अपने पति के स्वर्गवास के बाद सरस्वती नदी के किनारे अपने को जीवित अवस्था में जला दिया। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन को गौड देश के राजा शशांक ने मार डाला। हर्ष की भगिनी राज्यश्री की अभाग्यपूर्ण कथा सर्वविदित ही है। उसके पति गृहवर्मा को मालवा के राजा ने मार दिया था और यह एक सौभाग्यपूर्ण दैवी घटना ही थी कि जब वह दुखाभिभूत होकर चिता जलाकर उसमें बैठने वाली ही थी, उसी समय हर्ष ने वहां जाकर उसे बचाया। जीवन के इन वियोगों और दुर्भाग्यों का हर्ष के संवेदनशील मन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि अपने अग्रज राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद वह थानेश्वर के सिंहासन पर बैठने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी प्रकार जब गृहवर्मा की मृत्यु के बाद उसके किसी उत्तराधिकारी के अभाव में हर्षवर्द्धन से कन्नौज का राज्य स्वीकार करने के लिए कहा गया तो उसने इंकार कर दिया। एक भिक्षु का जीवन वह व्यतीत करना चाहता था। परंतु युग की आवश्यकताओं से पराभूत होकर वह यह नहीं कर सका। युआन-च्वांग ने लिखा है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अमात्य-गण हर्ष से सिंहासन पर बैठने के लिए आग्रह कर रहे थे, तो वह धर्म-संकट में पड़ गया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वह गंगा के तट पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के समीप गया। उसे लगा कि भगवान अवलोकितेश्वर की यह इच्छा है कि वह बौद्ध धर्म की सेवार्थ राज्य के काम को संभाले और अपने को राजा कहकर न पुकारे। केवल निष्काम कर्म की भावना से हर्ष ने देश का शासन संभाला, परंतु उसने अपने नाम के साथ 'महाराज' शब्द का प्रयोग नहीं किया। वह केवल 'राजपुत्र' या 'शीलादित्य' कहलाता था।

हर्ष के पिता महाराज प्रभाकरवर्द्धन सूर्य-पूजक थे। हर्ष के बड़े भाई और बहन श्रद्धालु बौद्ध उपासक थे। स्वयं हर्ष अत्यंत श्रद्धावान बौद्ध उपासक था, परंतु अपने पूर्वजों की परंपरा के प्रति आदर दिखाते हुए वह शिव और सूर्य की भी पूजा करता था। नालंदा विश्वविद्यालय का वह एक संरक्षक था और उसने वहां एक विहार और एक कांस्य मंदिर भी बनवाया था।[1] उसने कई हजार स्तूप गंगा के तट पर बनवाए।[2] यह कहा जाता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में हर्ष हीनयान बौद्ध धर्म के साम्मितीय संप्रदाय का अनुयायी था, परंतु बाद में युआन-च्वांग के प्रभाव-स्वरूप महायान की ओर उसका झुकाव हुआ। सातवीं शताब्दी ईसवी के भारतीय धार्मिक जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस समय पौराणिक हिंदू धर्म का उदय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मूर्ति-पूजा पर कुछ अधिक जोर दिया जाने लगा और जातिवाद के बंधन कड़े कर दिए गए। इस कारण इस युग के बौद्धों और ब्राह्मणों में कुछ कटुता उत्पन्न हो गई। परंतु राजकीय संरक्षण सब धर्म-संप्रदायों को बिना किसी भेद-भाव के दिया जाता था। युआन-च्वांग ने हमें बताया है कि "राजकीय निवासों में 1000 बौद्ध भिक्षुओं और 500 ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था।"[3]

ँ॰ यआन-च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इंडिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ, 171.

पृष्ठ 344.

ेल्स इन इडिया, जिल्द पहली, पृष्ठ, 344.

हर्ष के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना चीनी यात्री युआन-च्वांग की भारत-यात्रा है। सन् 630 से लेकर 644 ई० तक उसने इस देश में यात्रा की। हर्ष की पहली भेंट उससे राजमहल के समीप कजंगल नामक स्थान में हुई जब हर्ष उड़ीसा की विजय के बाद लौट रहा था। अत्यंत आदर के साथ हर्ष ने युआन-च्वांग का स्वागत किया। वह उसे कन्नौज (कन्याकुब्ज) ले गया, जहां उसके सम्मान में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में हर्ष के सभी अधीन राजाओं ने भाग लिया, जिनमें कामरूप का नरेश भास्करवर्मा (जिसे कुमार भी कहा गया है) भी सम्मिलित था। इसके अतिरिक्त चार हजार बौद्ध भिक्षु भी इस सभा में सम्मिलित हुए थे, जिनमें एक हजार केवल नालंदा विश्वविद्यालय से आए थे। तीन हजार जैन और ब्राह्मण विद्वानों ने भी इस सभा में भाग लिया था। युआन-च्वांग को इस सभा का अध्यक्ष चुना गया। भगवान बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा, जो आकार में राजा के बराबर थी, एक सौ फुट ऊंची अट्टालिका में प्रतिष्ठापित की गई। त्रि-रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ—की पूजा बड़े समारोह के साथ की गई। इस सभा की कार्यवाही 21 दिन तक चलती रही। हर्ष को मारने का प्रयत्न भी इस समय कुछ लोगों ने किया, परंतु वह विफल कर दिया गया।

इस सभा की कार्यवाही के बाद हर्ष अपने सम्माननीय अतिथि को गंगा-यमुना के संगम प्रयाग पर ले गया। यहां राजा का यह नियम था कि प्रति पांचवें वर्ष आकर वह एक सभा करता था और इस प्रकार की यह छठी सभा थी। युआन-च्वांग ने विस्तारपूर्वक उन समारोहों का वर्णन किया है जो यहां इस समय हुए। हर्ष के सभी अधीनस्थ राजाओं और सभी धर्म-संप्रदायों के विद्वानों ने इस सभा में भाग लिया, जो 75 दिन तक चली। प्रथम दिन बुद्ध भगवान की पूजा हुई। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की प्रतिमाओं की पूजा हुई। हर्ष ने अपना सब कुछ विसर्जन कर दिया। युआन-च्वांग ने लिखा है कि जब हर्ष अपना सब कुछ दे चुका तो उसने अपनी बहन राज्यश्री से एक जीर्ण वस्त्र की भिक्षा प्राप्त की और उसे पहनकर उसने 'दसों दिशाओं के बुद्धों' की पूजा की।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रयाग के समारोहों को देखने के बाद दस दिन तक और युआन-च्वांग सम्राट हर्ष के साथ रहा और उसके बाद उसने स्थलीय मार्ग से अपने देश के लिए प्रस्थान कर दिया। सम्राट हर्ष ने सेना की एक टुकड़ी के साथ भास्करवर्मा को युवान-च्वांग के साथ भेजा, ताकि वह सुरक्षापूर्वक सीमांत तक सम्माननीय अतिथि को पहुंचा आए। चीनी यात्री के भारत से प्रस्थान के साथ एक बौद्ध शासक के रूप में हर्ष के इस संक्षिप्त विवरण को हम समाप्त कर सकते हैं।

पालि ग्रंथकार

नागसेन, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

यह एक आश्चर्य की बात है कि भारतीय साहित्य में पालि के अतुलनीय महत्व और मूल्य का सम्यक् अवधारण भारत में नहीं किया जाता, जैसा कि होना चाहिए। यह अनुभूति नहीं की जाती कि पालि भाषा और साहित्य ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, बल्कि उनका प्रभाव सिंहल, बर्मा और स्याम की भाषाओं के विकास पर भी पड़ा है। यह नितांत स्वाभाविक है कि इस भाषा का गहन अनुशीलन पड़ोसियों के साथ हमारे सांस्कृतिक संबंधों को शक्तिशाली बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

एक अन्य कारण, जिसके लिए हमें पालि के अध्ययन में रुचि उत्पन्न करनी चाहिए, यह है कि पालि साहित्य ऐसी आधारभूत उपादान-सामग्री का भंडार है, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के कई एक अंधकारावृत परिच्छेदों को दुबारा लिखने में हमारे लिए अनमोल सिद्ध होगा। चूंकि यह संपूर्ण साहित्य भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के चारों ओर चक्कर लगाता है, इसलिए इस तथ्य ने इसे बौद्ध धर्म के विद्यार्थियों के लिए और अधिक मूल्यवान बना दिया है। न्यूमैन ने अपने मज्झिम-निकाय के अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है, "जो पालि जानता है, उसे बाहर के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।" यह एक भक्त के हृदय का भावोद्गार-सा भले ही लगे, परंतु न्यूमैन का कथन सत्य से दूर नहीं है।

पालि लेखकों और बौद्ध धर्म के व्याख्याकारों में, जिन्होंने भगवान बुद्ध के गहन उपदेशों को समझने में हमारी सहायता की है, चार तेजस्वी नाम प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं—नागसेन, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। 'मिलिंद पञ्ह', जिसके संकलनकर्त्ता महास्थविर नागसेन माने जाते हैं, पालि त्रिपिटक के बाद संभवतः सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

'मिलिंद पञ्ह' की रचना के संबंध में जो बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, वह यह है कि इस ग्रंथ का प्रणयन मिनांदर के समय में या उसके बाद, परंतु बुद्धघोष के समय से पूर्व हुआ, क्योंकि बुद्धघोष ने नागसेन-कृत 'मिलिंद पञ्ह' को अनेक बार प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि 'मिलिंद पञ्ह' की रचना 150 ई० पूर्व और 400 ई० के बीच किसी समय हुई। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि 'मिलिंद पञ्ह' का ऐतिहासिक आधार भी कुछ न कुछ है, फिर भी इस पर विचार करना बाकी रह ही जाता है कि किसने इस ग्रंथ का प्रणयन किया, इसका रचना-काल क्या है, क्या इसमें परिवर्द्धन और क्षेपक किए गए और यदि हां, तो कब?

यह सुझाव दिया गया है कि 'मिलिंद पञ्ह' एकरूप रचना नहीं है। इसके विभिन्न अध्याय विभिन्न शैलियों में लिखे गए हैं। अतः यह संभव हो सकता है कि कुछ अध्याय बाद में जोड़े गए हों। इस मान्यता का एक अंतिम सबूत यह है कि इस ग्रंथ का एक चीनी अनुवाद सन् 317 और 420 ई० के बीच 'नागसेन-सूत्र' के नाम से हुआ और वहां 'मिलिंद पञ्ह' के केवल प्रथम तीन परिच्छेद ही पाए जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बाकी चार अध्याय 'मिलिंद पञ्ह' में बाद में जोड़े गए। एक दूसरी बात, जिससे उपर्युक्त मान्यता को समर्थन मिलता है, यह है कि 'मिलिंद पञ्ह' के तृतीय परिच्छेद के अंत में यह कहा गया है कि मिलिंद के प्रश्न समाप्त हो गए और चतुर्थ अध्याय का प्रारंभ एक नए ढंग से होता है। उत्तरकालीन परिवर्द्धनों और क्षेपकों के लिए पूरी संभावना मानते हुए भी हमारे लिए इस मान्यता को सर्वथा दूर हटा देना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उचित न होगा कि नागसेन या जो कोई भी इस ग्रंथ का लेखक रहा हो, उसने 'मिलिंद पञ्ह' को उसी रूप में लिखा, जिसमें वह आज हमारे सामने आया है, क्योंकि यह असंभव नहीं है कि चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद को प्रथम तीन अध्यायों तक सीमित रखना उचित समझा हो।

'मिलिंद पञ्ह', जैसा हमें वह आज मिलता है, सात अध्यायों में है। इनमें से प्रथम अध्याय अधिकांश व्यक्तिगत और ऐतिहासिक है, जबकि शेष सब अध्याय सैद्धांतिक हैं। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि नागसेन ने अपने और राजा मिनांदर के पूर्व जन्म के संबंध में तो सूचना देने का बहुत प्रयास किया है, परंतु वर्तमान जीवन के संबंध में अधिक सूचना नहीं दी है। आत्म-विलोप की सीमा तक पहुंचने वाली विनम्रता हमारे प्राचीन लेखकों की एक साधारण प्रवृत्ति रही है। 'मिलिंद पञ्ह' से इतनी सूचना तो निश्चयतः निकाली जा सकती है कि स्थविर नागसेन का जन्म-स्थान कजंगल नामक प्रसिद्ध स्थान था, जो हिमालय के समीप मध्य-देश की पूर्वी सीमा पर स्थित था और उनके पिता सोणुत्तर नामक एक ब्राह्मण थे। जब नागसेन तीनों वेद, इतिहास और अन्य विषयों के अच्छे जानकार हो गए तो उन्होंने स्थविर रोहण से बुद्ध के सिद्धांतों को पढ़ा और तदनंतर भिक्षु-संघ में प्रवेश किया। उसके बाद उन्होंने वत्तनिय के स्थविर अस्सगुप्त (अश्वगुप्त) की शिष्यता में अध्ययन किया। इसके बाद वे पाटलिपुत्र (पटना) गए, जहां उन्होंने बुद्ध-धर्म का विशेष अध्ययन किया। अंत में वे सागल के संखेय्य-परिवेण में गए, जहां राजा मिलिंद उनसे मिला।

मिनांदर अपने समकालीन धर्म-गुरुओं से संतुष्ट नहीं था और उसके दर्प के भाव इन शब्दों में प्रकट हुए : "तुच्छ है यह जंबुद्वीप! प्रलाप मात्र है यह जंबुद्वीप! यहां ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ वाद कर सके।" परंतु स्थविर नागसेन के रूप में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जिसने न केवल अपनी उच्चतर मेधा-शक्ति से बल्कि अपने प्रभावशाली और दूसरे को मनवाने के लिए बाध्य करने वाले

शब्द-संचय से उसे पूरी तरह पराभूत कर दिया। कहा गया है कि जैसे ही मिलिंद और नागसेन एक-दूसरे से मिले, राजा ने भिक्षु से पूछा, "भंते! आपका नाम क्या है? आप किस नाम से पुकारे जाते हैं?" नागसेन ने उत्तर दिया, "महाराज! मेरा नाम नागसेन है। मेरे गुरु-भाई मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। माता-पिता अपने पुत्रों के इस प्रकार के नाम रख देते हैं, जैसे नागसेन, शूरसेन आदि, परंतु ये सभी केवल व्यवहार करने के लिए संज्ञाएं भर हैं, क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुष (आत्मा) नहीं है।" बस, नागसेन के इस उत्तर से प्रश्न और उत्तरों का एक तांता प्रारंभ हो गया, जिसके परिणाम-स्वरूप नागसेन ने मिलिंद को रथ की उपमा देते हुए बताया कि जिस प्रकार दंड, अक्ष, चक्के इत्यादि रथ के अवयवों के आधार पर व्यवहार के लिए 'रथ' ऐसा एक नाम कहा जाता है, उसी प्रकार स्कंधों के होने से एक सत्व (जीव) समझा जाता है।

पालि त्रिपिटक की बात यदि हम छोड़ दें तो अनात्मवाद का इतना अधिक गंभीर और मार्मिक प्रख्यापन संपूर्ण बौद्ध साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार 'मिलिंद पञ्ह' में हमें बौद्ध तत्वज्ञान की ही नहीं, बौद्ध नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान की भी विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध ग्रंथ के रूप में इसके महत्व के अलावा, यह ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी एक मूल्यवान रचना है। प्रथम शताब्दी ईसवी के गद्य साहित्य का अनुत्तर साक्ष्य हमें 'मिलिंद पञ्ह' में मिलता है। संक्षेप में, तत्वज्ञान, साहित्य, इतिहास या भौगोलिक ज्ञान, किसी भी दृष्टि से हम देखें, 'मिलिंद पञ्ह' का भारतीय साहित्य में अपना एक अलग स्थान है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संपूर्ण अनुपिटक साहित्य में कोई ऐसा बौद्ध ग्रंथ नहीं है, जिसकी तुलना 'मिलिंद पञ्ह' से की जा सके।

काल-क्रम की दृष्टि से 'मिलिंद पञ्ह' के बाद पालि-त्रिपिटक के विभिन्न ग्रंथों की अट्ठकथाएं (व्याख्याएं) लिखी गईं। परंपरा के अनुसार इनमें से आधी से अधिक आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित बताई जाती हैं। आचार्य बुद्धघोष पालि त्रिपिटक के सबसे बड़े अट्ठकथाकार थे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आचार्य बुद्धघोष के जीवन और कार्य का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह वांछनीय होगा कि हम पहले आचार्य बुद्धदत्त के संबंध में कुछ विवरण दें। आचार्य बुद्धदत्त यद्यपि बुद्धघोष के समकालीन थे, परंतु लंका में यह आचार्य बुद्धघोष से पहले गए थे। लंका में बुद्ध-वचनों का अध्ययन करने के पश्चात् जब आचार्य बुद्धदत्त भारत के लिए लौट रहे थे तो उनकी नाव का मिलन उस नाव से हुआ, जिसमें बैठकर आचार्य बुद्धघोष भारत से लंका जा रहे थे। जैसे ही वे एक-दूसरे से मिले, उन्होंने एक-दूसरे का अभिनंदन किया और परिचय प्राप्त किया। आचार्य बुद्धघोष ने कहा, ''भगवान् बुद्ध के सिद्धांत (व्याख्याएं) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। मैं उन्हें मागधी भाषा में रूपांतरित करने के लिए सिंहल जा रहा हूं।'' बुद्धदत्त ने उत्तर दिया, ''आयुष्मन्! मैं भी सिंहल में इसी उद्देश्य के लिए आया था, परंतु अब मेरी आयु थोड़ी है, मैं इस कार्य को समाप्त न कर सकूंगा।'' जब ये दोनों स्थविर इस प्रकार संलाप कर रहे थे, तो नावें चल दीं और फिर उनकी बातें सुनाई नहीं दीं।

ऐसा लगता है कि जब उन्होंने एक-दूसरे से विदा ली तो बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की कि वे उन्हें अपनी अट्ठकथाओं की प्रतियां भारत भेजते रहें, जैसा बुद्धघोष ने संभवतः किया भी। बुद्धदत्त ने बाद में बुद्धघोष द्वारा की हुई अभिधर्म पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप अभिधम्मावतार में और विनय-पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप विनय-विनिच्छय में किया। आचार्य बुद्धदत्त चोल राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरईपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी अनुराधपुर के महाविहार में रहकर बुद्ध धर्म का अध्ययन किया था। सिंहल से लौटकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर स्थित एक विहार में बैठकर, जिसे कृष्णदास या विष्णुदास नामक एक वैष्णव ने बनवाया था, अपने ग्रंथों की रचना की।

बुद्धदत्त के ग्रंथों में अभिधम्मावतार का स्थान सबसे ऊंचा है। यद्यपि यह बुद्धघोष द्वारा अभिधम्म-पिटक पर की गई अट्ठकथाओं का संक्षेप ही है, फिर भी बुद्धदत्त ने बुद्धघोष का अंधानुकरण नहीं किया है।

बुद्धघोष ने पांच दार्शनिक तत्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान माने हैं, परंतु आचार्य बुद्धदत्त ने उनका वर्गीकरण और विवेचन चित्त, चेतसिक, रूप और निब्बाण (निर्वाण) के रूप में किया है।

अब हम अनुपिटक साहित्य के सबसे बड़े नाम (बुद्धघोष) की ओर आते हैं। बुद्ध-शासन की सेवा और उसे चिर-स्थिति प्रदान करने के लिए बुद्धघोष ने क्या किया? यह निश्चित है कि उनके समान अन्य कोई उदाहरण नहीं है। न केवल विशालता की दृष्टि से बल्कि महत्त्व की दृष्टि से भी यह विश्वसनीय नहीं मालूम पड़ता कि एक व्यक्ति ने पालि साहित्य की समृद्धि में इतना बड़ा योग किस प्रकार दिया!

आचार्य बुद्धघोष के व्यक्तिगत जीवन पर जिन ग्रंथों से कुछ प्रकाश पड़ता है, उनमें केवल महावंस ही ऐसा है जो समाश्रयणीय सामग्री देने का दावा कर सकता है। महावंस के अलावा बुद्धघोसुपत्ति, गंधवंस और सासनवंस जैसे ग्रंथ भी हैं, परंतु उनमें उपयोगी सूचना अल्प मात्रा में ही पाई जाती है।

महावंस के अनुसार बुद्धघोष का जन्म बोधगया के समीप हुआ। एक मत यह भी है कि तेलंग देश उनकी जन्म-भूमि है। बर्मी लोगों का दावा है कि आचार्य बुद्धघोष का जन्म उनके देश में हुआ। सत्य कुछ भी हो, यह विश्वास किया जाता है कि आचार्य बुद्धघोष ने एक लंबे समय तक बोधगया में निवास किया। इस समय बोधगया विहार सिंहल के भिक्षुओं के हाथ में था। चतुर्थ शताब्दी ईसवी में लंकाधिराज कीर्ति श्री मेघवर्ण ने महाराज समुद्रगुप्त की अनुमति से बोधगया में वज्रासन की पूजार्थ आने वाले सिंहली तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए एक विहार बनवाया था।

बुद्धघोष के समय में भारत में पालि बौद्ध धर्म इतना लोकप्रिय नहीं रह गया था। संस्कृत का प्रभाव बढ़ रहा था। बौद्ध विद्वानों ने भी उसे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया था। प्रथम शताब्दी ईसवी के आचार्य अश्वघोष ने संस्कृत में अपनी काव्य-कृतियां लिखीं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी प्रकार नागार्जुन, वसुबंधु और दिङ्नाग जैसे महान विचारकों ने संस्कृत में लिखा। गुप्तवंशीय राजाओं ने भी पालि में कोई अभिरुचि नहीं दिखाई और संस्कृत को ही संरक्षण दिया। इस प्रकार पालि और थेरवाद (स्थविरवाद), दोनों धीरे-धीरे भारत में नगण्य अवस्था को प्राप्त हुए। परंतु बोधगया के भिक्षु, पांचवीं शताब्दी में भी, जब बुद्धघोष भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए, पालि के प्रति वही अचल निष्ठा रखते थे। उस समय बोधगया के महाविहार के प्रधान महास्थविर रेवत थे।

उन दिनों हमारे देश में शास्त्रार्थों का होना एक सामान्य बात थी। घोष[1], जो वेद-वेदांग में पारंगत और तर्क-विचक्षण था, प्रतिवादियों की तलाश में इधर-उधर घूमने लगा। एक दिन महास्थविर रेवत ने उसे पातंजलि के सूत्रों का पाठ करते देखा। महास्थविर उसके उच्चारण की शुद्धता देखकर इतने प्रभावित हो गए कि संभवतः उसको बुद्ध धर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने उससे शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। घोष ने महास्थविर से पूछा, ''क्या तुम इन सूत्रों को समझते हो?'' भिक्षु का उत्तर था, ''हां, मैं समझता हूं, ये दोषयुक्त हैं।''

महास्थविर रेवत ने योग-सूत्रों की इस प्रकार समालोचना की कि घोष अवाक रह गया। तदनंतर घोष की प्रार्थना पर महास्थविर रेवत ने अपने सिद्धांत के प्रख्यापन-स्वरूप अभिधम्म-पिटक की कुछ पंक्तियों को पढ़ा, जिन्हें घोष न समझ सका और उसने पूछा, ''यह किसका मंत्र है?'' महास्थविर ने उत्तर दिया, ''यह बुद्ध-मंत्र है।'' घोष ने फिर पूछा, ''क्या आप मुझे इसे सिखा देंगे?'' महास्थविर का उत्तर था, ''यदि तुम नियमानुसार संघ में प्रवेश करो।'' घोष की उपसंपदा हुई और तब से वह 'बुद्धघोष' कह कर पुकारा जाने लगा। महास्थविर रेवत की शिष्यता में बुद्धघोष ने धर्म और विनय का अध्ययन किया और बुद्ध के सिद्धांतों के सबसे बड़े व्याख्याता के रूप में उनकी ख्याति हुई।

जिस विहार में बुद्धघोष की उपसंपदा हुई थी, वहीं निवास करते

1. यह बुद्धघोष का मौलिक नाम माना जाता है।

हुए उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'ञाणोदय' लिखी। तदनंतर उन्होंने 'धम्मसंगणि' की अट्ठकथा 'अट्ठसालिनी' लिखी। इसके बाद जब वे परित्त-सूत्रों की अट्ठकथा लिखने वाले थे, तो उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा, ''यहां सिंहल से केवल मूल त्रिपिटक ही लाया गया है। यहां न अट्ठकथाएं हैं और न विभिन्न आचार्यों की परंपराएं। परंतु सिंहल द्वीप में महामति महेंद्र द्वारा मूलतः ले जाई गई और बाद में सिंहली भाषा में अनुवादित अट्ठकथाएं हैं। तुम वहां जाओ, उनका अध्ययन करो और फिर मागधी भाषा में उनका रूपांतर करो, ताकि वे सब लोगों के लिए हितकारी हों।''

अपने गुरु से इस प्रकार आदेश पाकर बुद्धघोष श्रीलंका गए। इस समय वहां महानाम नामक राजा राज्य कर रहा था। महाविहार के महाप्रधान भवन में रहकर आचार्य बुद्धघोष ने स्थविर संघपाल से संपूर्ण सिंहली अट्ठकथाओं और आचार्यों की परंपराओं को सुना। उन्हें निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी भगवान बुद्ध का यही अभिप्राय है। तब उन्होंने भिक्षु-संघ से यह विनम्र प्रार्थना की, ''मैं अट्ठकथाओं का अनुवाद सिंहली भाषा से मागधी भाषा में करना चाहता हूं। मुझे सब पुस्तकों को देखने की अनुमति दी जाए।'' तब भिक्षुओं ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिए उन्हें दो पालि गाथाएं दीं और उनकी व्याख्या करने के लिए कहा। बुद्धघोष ने इन दो गाथाओं की व्याख्या स्वरूप संपूर्ण त्रिपिटक के सिद्धांतों का संकलन ही कर दिया और उसे 'विसुद्धि-मग्ग' (विशुद्धि-मार्ग) नाम दिया। इससे अत्यधिक संतुष्ट होकर भिक्षुओं ने उन्हें अपने समग्र साहित्य को देखने की अनुमति दे दी। अनुराधपुर के ग्रंथकार-परिवेण में निवास करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपांतर किए। इसके बाद वे अपनी मातृ-भूमि भारत लौट आए, जहां आकर उन्होंने बोधि-वृक्ष की पूजा की।

प्रोफेसर धर्मानंद कोसंबी जैसे विद्वान कुछ कारणों से उत्तर-भारत को बुद्धघोष की जन्म-भूमि न मानकर बर्मी परंपरा के अनुसार दक्षिण भारत को यह गौरव प्रदान करते हैं। प्रोफेसर कोसंबी इस बात

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

में भी संदेह करते हैं कि बुद्धघोष ब्राह्मण थे और उनका जन्म उत्तरी भारत में हुआ था।

यह ठीक पता नहीं है कि इस महान पालि-व्याख्याकार का निर्वाण कहां हुआ? कंबोदिया में एक प्राचीन विहार है, जिसका नाम, 'बुद्धघोष-विहार' है और वहां एक जीवित परंपरा यह है कि बुद्धघोष ने अपने जीवन के अंतिम दिन उस देश में बिताए थे। इस विश्वास में संदेह करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

बुद्धघोष का सर्वप्रथम ग्रंथ जिसे उन्होंने सिंहल में लिखा, 'विसुद्धि मग्ग' था। 'महावंस' में इस ग्रंथ के संबंध में लिखा है कि "अट्ठकथाओं के सहित संपूर्ण त्रिपिटिक का यह संक्षेप ही है।"

बुद्धघोष के अन्य ग्रंथों के संबंध में हम उनके काल-क्रम को ठीक निश्चय नहीं कर सकते, क्योंकि प्रायः प्रत्येक अट्ठकथा में दूसरी अट्ठकथाओं का उल्लेख है। अतः आंतरिक साक्ष्य इसमें हमारी सहायता नहीं करता। समंतपासादिका विनय-पिटक की अट्ठकथा है। थेर बुद्धसिरि की प्रार्थना पर यह विस्तृत अट्ठकथा लिखी गई थी। इसके अलावा, बुद्धघोष ने पातिमोक्ख पर भी एक अट्ठकथा लिखी, जिसका नाम 'कंखावितरणी' या 'मातिकट्ठकथा' था। यह भी महाविहार की परंपरा पर आधारित थी और स्थविर सोण की प्रार्थना पर लिखी गई थी।

बुद्धघोष ने प्रथम चार निकायों पर भी अट्ठकथाएं लिखीं। इस प्रकार दीघनिकाय पर सुमंगलविलासिनी, मज्झिम-निकाय पर पपंचसूदनी, संयुत्त-निकाय पर सारत्थप्पकासिनी और अंगुत्तर-निकाय पर मनोरथपूरणी, ये चार अट्ठकथाएं लिखी गईं। सुमंगलविलासिनी सुमंगल परिवेण के स्थविर दाठानाग की प्रार्थना पर लिखी गई थी। पपंचसूदनी की रचना थेर बुद्धमित्त की प्रार्थना पर हुई थी। स्थविर बुद्धमित्त आचार्य बुद्धघोष के मित्र थे, जिनके साथ वे दक्षिण-भारत के मयूरपट्टन नामक विहार में रहे थे। सारत्थप्पकासिनी एक दूसरे स्थविर ज्योतिपाल (जोतिपाल) की प्रार्थना पर लिखी गई थी। यह कहा जाता है कि खुद्दक-निकाय के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

चार ग्रंथों, यथा: धम्मपद, जातक, खुद्दकपाठ और सुत्त-निपात, पर भी बुद्धघोष ने अट्ठकथाएं लिखीं। धम्मपदट्ठकथा के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह बुद्धघोष-रचित नहीं है। शैली की विभिन्नता इसका मुख्य कारण बताया जाता है, परंतु यह विषय की विभिन्नता के कारण भी हो सकता है। जातककट्ठकथा की रचना आचार्य बुद्धघोष ने अत्थदस्सी, बुद्धमित्त और बुद्धदेव नामक तीन स्थविरों की प्रार्थना पर की थी। अधिक संभावना यही है कि ये दोनों अट्ठकथाएं आचार्य बुद्धघोष के द्वारा न लिखी जाकर इसी नाम के किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी गई थीं।

अभिधम्म-पिटक के सात ग्रंथों पर भी आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएं लिखी हैं। इनमें अट्ठसालिनी धम्मसंगणि की अट्ठकथा है और सम्मोहविनोदनी विभंग की। शेष पांच ग्रंथों अर्थात् धातु-कथा, कथा-वत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठान की अट्ठकथाओं का संयुक्त नाम 'पञ्चप्पकरणट्ठकथा' है। ये सब अट्ठकथाएं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और महाविहार की परंपरा पर आधारित हैं।

बुद्धघोष के बाद एक अन्य अट्ठकथाकार का नामोल्लेख करना भी यहां आवश्यक होगा। यह थेर धम्मपाल हैं जो भारत के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर बदरितित्थ नामक स्थान में रहते थे। संभवतः उनका जन्म भी दक्षिण-भारत में हुआ था। चूंकि उनकी अट्ठकथाओं में बुद्धघोष के नाम का उल्लेख है, अतः यह निश्चित है कि वे बुद्धघोष के बाद हुए। खुद्दक-निकाय के जिन ग्रंथों पर आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएं नहीं लिखीं, उन पर अट्ठकथाएं लिखने का काम आचार्य धम्मपाल ने किया। इस प्रकार धम्मपाल ने उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरीगाथा और चरियापिटक पर अट्ठकथाएं लिखीं, जिनका संयुक्त नाम 'परमत्थदीपनी' है। बुद्धघोष-कृत 'विसुद्धि-मग्ग' पर उन्होंने 'परमत्थमंजूसा' नामक टीका भी लिखी। धम्मपाल की अट्ठकथाएं भी मौलिक सिंहली ग्रंथों पर आधारित हैं और यह संभव है कि आचार्य धम्मपाल ने द्रविड़ भाषा में लिखित व्याख्याओं का भी कुछ आश्रय लिया हो, जो उन्हें

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दक्षिण-भारत में प्राप्त हो सकीं। पालि अट्ठकथाओं की तुलना अक्सर भाष्य-साहित्य से की जाती है, परंतु यह सर्वांश में ठीक नहीं है। पालि अट्ठकथाओं की अपनी विशेषताएं हैं जो संस्कृत के भाष्य-साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलती। उदाहरणतः पालि अट्ठकथाकारों ने जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है, उस जैसी कोई वस्तु हमें संस्कृत के भाष्य-साहित्य में नही मिलती।

संस्कृत ग्रंथकार

अश्वघोष, नागार्जुन, बुद्धपालित और भावविवेक, असंग और वसुबंधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

जबकि थेरवाद बौद्ध धर्म का साहित्य पालि में है, सर्वास्तिवादियों ने (जो हीनयानियों में गिने जाते हैं) तथा महायानियों ने संस्कृत को अपने धार्मिक साहित्य का माध्यम चुना है। संस्कृत बौद्ध धर्म के इतिहास से संबंधित कुछ ग्रंथकारों का विवेचन यहां किया जाता है।

कनिष्क के समकालीन अश्वघोष एक महान बौद्ध कवि और दार्शनिक थे। न केवल बौद्ध दर्शन के इतिहास में, बल्कि संस्कृत काव्य की संपूर्ण परंपरा में उनका एक अपना स्थान है। महाकवि अश्वघोष, वाल्मीकि के, जिन्हें उन्होंने 'आदि कवि' और 'धीमान्' कहकर पुकारा है, एक महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकारी थे और स्वयं कालिदास और भास के पूर्वगामी थे। भारत और उसके बाहर अनेक विद्वानों का विश्वास है कि कालिदास अनेक बातों में उनके ऋणी थे। बौद्ध विचार के इतिहास में सबसे महान कार्य जो अश्वघोष ने किया है, वह है बुद्ध-भक्ति पर उनके द्वारा बल देना। यद्यपि महायानी शिक्षाएं अश्वघोष के समय से प्रायः दो या तीन शताब्दी पूर्व प्रचार में आ रही थीं, परंतु उनकी सर्वप्रथम प्रभावशाली अभिव्यक्ति अश्वघोष की रचनाओं में ही हुई है, यद्यपि स्वयं अश्वघोष सर्वास्तिवाद संप्रदाय के अनुयायी थे।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के संबंध में हमारी जानकारी बहुत कम

है। अपनी काव्य-कृतियों के अंत में जो अल्प सूचना महाकवि ने दी है, उससे ज्ञात होता है कि वे साकेत (अयोध्या) के निवासी थे और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। बुद्ध-चरित, सौंदरनंद और सारिपुत्र-प्रकरण, इन अपनी तीन प्रसिद्ध काव्यकृतियों में से प्रत्येक के अंत में कवि ने कहा है, "आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि अश्वघोष एक महान कवि होने के साथ-साथ एक विद्वान आचार्य, आदरणीय बौद्ध भिक्षु और न्यायविद्या में पारंगत एक महान तार्किक भी थे।

बुद्ध-चरित और सौंदरनंद महाकवि अश्वघोष के दो महत्वपूर्ण काव्यग्रंथ हैं। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है, जिसमें एक उदात्त और परिशुद्ध शैली में, यद्यपि काफी संयम के साथ, बुद्ध की जीवनी का वर्णन किया गया है। यह काव्य अपने मौलिक रूप में, जैसा कि वह सातवीं शताब्दी ईसवी में इ-त्सिंग को चीनी अनुवाद में विदित था, 28 सर्गों में था। तिब्बती अनुवाद में भी इतने ही सर्ग हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस महाकाव्य के मौलिक संस्कृत रूप में भी इतने सर्ग रहे होंगे। इनमें से आज संस्कृत में केवल 17 सुरक्षित हैं, जिनमें भी प्रारंभ के केवल 13 सर्ग ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इ-त्सिंग ने लिखा है कि उनके समय में यह मनोरम काव्य भारत के पांचों भागों तथा दक्षिणी समुद्र के देशों में सब जगह पढ़ा और गाया जाता था। इस महाकाव्य में अश्वघोष ने हमें भगवान बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सर्वोत्तम विवरण ही नहीं दिया है, बल्कि भारत की पौराणिक परंपराओं के संबंध में अपने विश्वकोश-जैसे ज्ञान तथा प्राग्बौद्धकालीन दार्शनिक नयों, विशेषतः सांख्य, के संबंध में अपनी बहुज्ञता का भी परिचय दिया है। सौंदरनंद काव्य में भगवान बुद्ध के द्वारा अपने मौसेरे भाई नंद को उपसंपादित करने का वर्णन है।

उपर्युक्त दो महत्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त अश्वघोष ने तीन नाटक भी लिखे, जिनकी खोज एच० लूडर्स ने इस शताब्दी के आरंभ में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मध्य-एशिया के तुर्फान प्रांत में की। इनमें सारिपुत्र प्रकरण, जो नौ अंकों में एक प्रकरण है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य का यह प्राचीनतम नाटक है जो अभी तक प्राप्त हुआ है। अश्वघोष ने एक गीति-काव्य भी लिखा, जिसका नाम 'गंडीस्तोत्र गाथा' है। इसमें स्रग्धरा छंद में लिखी हुई 29 गाथाएं हैं। ई० एच० जोह्नस्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में संदेह प्रकट किया है। परंतु विंटरनित्ज का कहना है कि, "यह एक सुंदर रचना है जो रूप और विषय दोनों दृष्टियों से अश्वघोष के अनुरूप है।"[1]

नागार्जुन, जो सातवाहन राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (166—196 ई०) के समकालिक और मित्र थे, एक अति उच्च व्यक्तित्व के बौद्ध दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उन्होंने एक युग का निर्माण किया और उसे एक नया मोड़ दिया। उन्होंने बौद्ध दर्शन के माध्यमिक संप्रदाय का प्रवर्तन किया, जो शून्यवाद भी कहलाता है। नागार्जुन के समान तार्किक विश्व-इतिहास में कोई दूसरा नहीं हुआ। उनका महान दार्शनिक ग्रंथ माध्यमिककारिका या माध्यमिक-शास्त्र है, जिसमें 27 परिच्छेदों में 400 कारिकाएं हैं। यह उनके दर्शन का आधारभूत ग्रंथ है। महायान-सूत्रों में निहित उपदेशों का इस ग्रंथ में संक्षेप किया गया है। इसमें ऊंची दार्शनिक उड़ान और लेखक की तर्क-विद्या में सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। इस एक ग्रंथ से पता लगा जाता है कि नागार्जुन कितने महान मेधावी पुरुष थे और किस प्रकार वे हमारे अतीत और वर्तमान के चिंतकों में सबसे अधिक तेज के साथ चमकते हैं।

नागार्जुन की जीवनी के अनुसार, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में कुमारजीव ने सन् 405 ई० में किया, उनका जन्म दक्षिण-भारत में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। युआन-च्वांग का कहना है कि उनका जन्म दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) में हुआ था। नागार्जुन ने संपूर्ण त्रिपिटक का 90 दिन में अध्ययन कर लिया, परंतु इससे उनको संतोष नहीं हुआ। हिमालय के निवासी एक अत्यंत वृद्ध भिक्षु से उन्हें

1. हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, (कलकत्ता विश्वविद्यालय 1933), पृष्ठ 266

महायान-सूत्र प्राप्त हुए, परंतु उनके जीवन का अधिकांश समय दक्षिण-भारत के श्रीपर्वत या श्रीशैलम् में बीता, जिसे उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का एक अद्वितीय केंद्र बना दिया। तिब्बती वर्णनों का कहना है कि नागार्जुन कुछ दिन नालंदा में भी रहे। युआन च्वांग ने संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों का उल्लेख किया है। उनमें एक नागार्जुन थे। शेष तीन थे—अश्वघोष, कुमारलब्ध (कुमारलात) और आर्यदेव। निःसंदेह, एक विचारक के रूप में, नागार्जुन की भारतीय दर्शन के इतिहास में तुलना करने वाला कोई दूसरा नहीं है। टी० वाटर्स ने नागार्जुन को ठीक ही 'उत्तरकालीन बौद्धधर्म का एक महान आश्चर्य और रहस्य' कहा है।[1]

चीनी अनुवादों में प्राप्त करीब बीस रचनाएं नागार्जुन-कृत बताई जाती हैं। उनमें से 18 का उल्लेख बुनियु नंजियो ने अपनी पुस्तक-सूची में नागार्जुन-कृत रचनाओं के रूप में किया है। जैसा हम अभी निर्देश कर चुके हैं, नागार्जुन की प्रमुख रचना माध्यमिककारिका या माध्यमिक-शास्त्र है। नागार्जुन ने स्वयं इस ग्रंथ की व्याख्या की, जो 'अकुतोभया' के नाम से प्रसिद्ध है।[2] यहां नागार्जुन की एक अन्य कृति का और निर्देश कर देना चाहिए और वह है 'सुहृल्लेख', जिसे उन्होंने एक पत्र के रूप में अपने मित्र यज्ञश्री गौतमीपुत्र को लिखा। इ-त्सिंग ने अपनी भारत-यात्रा के समय इस प्रभूत नैतिक महत्व वाली रचना को बालकों के द्वारा कंठस्थ किए जाते और वयस्कों के द्वारा जीवन-पर्यंत अनुशीलन किए जाते देखा था। यह रचना हमें असंदिग्ध रूप से बताती है कि नागार्जुन ध्वंसात्मक विचारक मात्र न थे, बल्कि नीति और सदाचार का उनके दर्शन में भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना अन्य किसी दार्शनिक नय में।

नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के मुख्य व्याख्याकारों में यहां स्थविर बुद्धपालित और भावविवेक (या भव्य) का नामोल्लेख करना

1. ऑन युआन-च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इंडिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ 203.
2. तिब्बती पाठ का संस्कृत अनुवाद स्वर्गीया कुमारी इंदु दातार ने बंबई विश्वविद्यालय की डाक्टर की उपाधि के लिए किया था, जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आवश्यक होगा। ये दोनों विचारक पांचवी शताब्दी ईसवी में आविर्भूत हुए और बौद्ध दर्शन के इतिहास में उनका विशेष महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने तर्क के क्रमशः 'प्रासंगिक' और 'स्वातंत्र' संप्रदायों की स्थापना की। आर्यदेव, शांतिदेव, शांतरक्षित और कमलशील माध्यमिक संप्रदाय के अन्य प्रसिद्ध विचारक हैं।

दो तेजस्वी बंधु— असंग और वसुबंधु— जिनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है, उन सृजनात्मक विचारकों में हैं जिन्होंने बौद्ध दर्शन के शास्त्रीय युग को जन्म दिया। असंग वसुबंधु के बड़े भाई थे। वसुबंधु से छोटे एक और भाई थे जिनका नाम विरिञ्चिवत्स था। असंग और वसुबंधु का जन्म गंधार देश के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में हुआ था। वे कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे और वैदिक ज्ञान में पारंगत थे। उनकी शिक्षा कश्मीर में हुई, जहां उन्होंने विभाषा-शास्त्र को पढ़ा। प्रारंभ में असंग और वसुबंधु सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे, जिसका उन दिनों कश्मीर और गंधार में बोलबाला था। उन्होंने कुछ दिनों के लिए अयोध्या की भी यात्रा की। वसुबंधु के जीवनी-लेखक परमार्थ का कहना है कि वसुबंधु की मृत्यु अयोध्या में ही अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई।

असंग योगाचार या विज्ञानवाद बौद्ध मत के सबसे अधिक प्रभावशाली आचार्य माने गए हैं। उन्हीं की प्रेरणा से उनके अनुज वसुबधु ने भी सर्वास्तिवाद को छोड़कर विज्ञानवाद का सहारा लिया। असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे जिन्हें विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना जाता है। असंग के मुख्य ग्रंथ हैं—महायान-संपरिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, योगाचार-भूमि-शास्त्र और महायान सूत्रालंकार।[1] अंतिम दो कृतियों का नैतिक और सैद्धांतिक दृष्टियों से बहुत अधिक महत्त्व है। योगाचार-भूमि-शास्त्र के मूल संस्कृत रूप की खोज महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने की। यह ग्रंथ 17 भूमियों में विभक्त है और योगाचार मत

1. इनमे प्रोफेसर प्रह्लाद प्रधान द्वारा एक अपूर्ण हस्तलिखित प्रति के आधार पर संपादित और विश्वभारती स्टडीज, शांतिनिकेतन द्वारा प्रकाशित 'अभिधर्म-समुच्चय' को भी जोड़ा जा सकता है।

के अनुसार साधनामार्ग का वर्णन करता है। महायान-सूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है। कारिकाएं मैत्रेयनाथ के द्वारा लिखी गई थीं और उनकी व्याख्या असंग के द्वारा।

वसुबंधु, जिन्होंने अपने अग्रज असंग की प्रेरणा पर महायान बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद मत को स्वीकार कर लिया, सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म की वैभाषिक शाखा के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। उनका सबसे महान ग्रंथ 'अभिधर्म-कोश' है, जो समग्र बौद्ध दर्शन का एक विश्वकोश ही है। मूलतः इस ग्रंथ की रचना सर्वास्तिवाद के वैभाषिक मत के अनुसार हुई थी जो उस समय कश्मीर में अत्यंत प्रभावशाली था। लेखक ने इस ग्रंथ के अंत में स्वयं कहा है, ''कश्मीर वैभाषिक नीति सिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।'' 600 कारिकाओं में लिखे गए इस महान ग्रंथ से एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। अभिधर्म-कोश के दर्शन की व्याख्या यहां नहीं की जा सकती। यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रारंभ से ही इस ग्रंथ की प्रशंसा बौद्ध क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी की गई है। सातवीं शताब्दी ईसवी के महाकवि बाणभट्ट ने अपने 'हर्ष-चरित' में बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए वहां शुकों को भी 'कोश' (अभिधर्म-कोश) की व्याख्या करते दिखाया है। ''शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्‌भिः।'' वसुबंधु ने अपने 'अभिधर्म-कोश' पर स्वयं भाष्य लिखा। इस अभिधर्म-कोश-भाष्य[1] पर 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या लिखने वाले आचार्य यशोमित्र का कहना है कि अपनी आध्यत्मिक प्राप्तियों के कारण आचार्य वसुबंधु अपने समकालीनों में 'द्वितीय बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे। ''यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः।''[2] किसी मनुष्य के लिए यह प्रशंसा साधारण नहीं है। अभिधर्म-कोश पर जो विस्तृत व्याख्यापरक साहित्य लिखा गया

1. इसकी हस्तलिखित प्रति की खोज महापंडित सांकृत्यायन ने तिब्बत में की है और ऐसा समझा जाता है कि प्रो० प्रह्लाद प्रधान ने इसका संपादन जयसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना के द्वारा प्रकाशन के लिए किया है।

2. स्फुटार्था की प्रारंभिक पंक्तियां।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, उससे पता लगता है कि कितना विस्तृत प्रभाव इस ग्रंथ का लोगों के मन पर पड़ा है। अभिधर्म-कोश के अलावा वसुबंधु की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'परमार्थ-सप्तति' है, जो उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध सांख्याचार्य विंध्यवासी की रचना 'सांख्य-सप्तति' के खंडन के रूप में लिखी थी। 'तर्क-शास्त्र' और 'वाद-विधि' नामक दो रचनाएं वसुबंधु ने न्याय पर भी लिखीं। एक महायानी आचार्य के रूप में उन्होंने सद्धर्म-पुंडरीक-सूत्र, महापरिनिर्वाण-सूत्र और वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता पर व्याख्याएं लिखीं। आचार्य वसुबंधु ने एक छोटी और अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना 'विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि' भी हमें दी है, जो 'विंशिका' और 'त्रिंशिका' के दो रूपों में पाई जाती है, जिनमें क्रमशः बीस और तीस कारिकाएं हैं।

बौद्ध न्याय के इतिहास में दिङ्नाग का स्थान अत्यंत ऊंचा है। वे वस्तुतः बौद्ध न्याय के संस्थापक ही हैं और सामान्यतः मध्ययुगीन न्याय के पिता कहे गए हैं। उनका जीवन-काल पांचवीं शताब्दी का आदि भाग है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार दिङ्नाग का जन्म काञ्ची के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पहले वे हीनयान बौद्ध धर्म के वात्सीपुत्रीय संप्रदाय के अनुयायी थे, परंतु बाद में महायान के उपदेशों में उनका अनुराग हो गया। तिब्बती परंपरा के अनुसार वे वसुबंधु के शिष्य थे। दिङ्नाग नालंदा महाविहार में भी गए, जहां उन्होंने सुदुर्जय नामक एक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में परास्त किया। उन्होंने शास्त्रार्थ करते हुए ओडिविश (उड़ीसा) और महारट्ठ (महाराष्ट्र) का भी भ्रमण किया। कहा जाता है कि उड़ीसा के एक जंगल में उनकी मृत्यु हुई। दिङ्नाग ने न्याय संबंधी करीब एक सौ पुस्तकें लिखीं। इनमें से अनेक तिब्बती और चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं और बुनियु नंजियो ने अपनी पुस्तक-सूची में उनका उल्लेख किया है। इ-त्सिंग ने लिखा है कि उसकी भारत-यात्रा के समय दिङ्नाग की पुस्तकों का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों की तरह होता था। दिङ्नाग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रमाण-समुच्चय है। इसके अलावा उनके मुख्य ग्रंथ हैं : न्याय-प्रवेश,

हेतुचक्र-डमरू, प्रमाण-शास्त्र, और आलंबन-परीक्षा, जो क्लिष्ट और दुरूह शैली में लिखे गए हैं। दिङ्नाग ने अपने ग्रंथों में आचार्य वात्स्यायन के द्वारा न्याय-भाष्य में प्रतिपादित कुछ सिद्धांतों का खंडन किया था। बाद में वात्स्यायन के पक्ष का समर्थन करते हुए उद्योतकर भारद्वाज ने अपना 'न्याय-वार्तिक' लिखा। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग बौद्ध और श्रौत परंपराओं के न्याय को मिलाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति दिङ्नाग के उत्तराधिकारी और अद्वितीय प्रतिभा के नैयायिक थे। उनका जन्म चोल देश के तिरूमलई नामक ग्राम में हुआ था। डा० श्चेरबात्स्की ने सच ही उन्हें भारत का 'कांट' कहा है। उनके ब्राह्मण प्रतिवादियों ने भी उनकी तर्क-शक्ति की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। धमकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होंने न्याय पढ़ा। बाद में वे नालंदा महाविहार चले गए और वहां के संघ-स्थविर और उस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य धर्मपाल के शिष्य हो गए। एक महान दार्शनिक विचारक और सूक्ष्म तार्किक के रूप में धर्मकीर्ति का नाम अभी तक अंधकारावृत था। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में धर्मकीर्ति के सबसे बड़े ग्रंथ 'प्रमाण-वार्तिक' की उसके मूल संस्कृत रूप में खोजकर न केवल बौद्ध धर्म की बल्कि सामान्यतः संपूर्ण भारतीय न्याय की अकथनीय सेवा की है।[1] धर्मकीर्ति द्वारा लिखित अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं: प्रमाण-विनिश्चय, न्याय-बिंदु, संबंध-परीक्षा, हेतु-बिंदु, वाद-न्याय और संतानांतरसिद्धि। इन सब ग्रंथों का विषय प्रायः बौद्ध प्रामाण्यवाद है और इनमें उच्च दार्शनिक प्रतिभा और सूक्ष्म चिंतन के दर्शन होते हैं। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म प्रमाण-मीमांसा में कितनी ऊंची उड़ान उड़ सका, इसके दर्शन हमें धर्मकीर्ति की रचनाओं में होते हैं। संपूर्ण भारतीय न्याय-शास्त्र के विकास में भी उनका अपना स्थान है। धर्मकीर्ति ने अपने

1. इस ग्रंथ की व्याख्या, जिसका नाम 'प्रमाण-वार्तिक-भाष्य' या 'वार्तिक-अलंकार' है, प्रज्ञाकर गुप्त द्वारा लिखी गई थी, जिसे जयसवाल इस्टीट्यूट, पटना, ने 1953 में प्रकाशित किया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रंथों में उद्योतकर के 'न्याय-वार्तिक' का खंडन किया था। इससे प्रेरणा पाकर वाचस्पति मिश्र ने नौवीं शताब्दी में अपनी 'न्याय-वार्तिक-तात्पर्य टीका' लिखी, जिसमें न्याय-वार्तिककार के पक्ष का समर्थन किया गया।

तिब्बत

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उन भारतीयों में अग्रणी है, जिन्होंने भारत और तिब्बत को सांस्कृतिक रूप से समीप लाने के लिए निःस्वार्थ कार्य किया। तिब्बत में उनका नाम केवल बुद्ध और पद्मसंभव के बाद लिया जाता है। निःसंदेह जितने भारतीय विद्वान भारत से तिब्बत गए उनमें सबसे महान आचार्य शांतरक्षित और उनके शिष्य कमलशील थे। आचार्य दीपंकर भी महान विद्वान थे और उपर्युक्त दो की अपेक्षा वे इस बात में अधिक हैं कि उन्होंने अमूल्य संस्कृत ग्रंथों को तिब्बती भाषा में लभ्य बनाया। तिब्बती लोग आचार्य दीपंकर को अतिश या स्वामी श्री अतिशया (जो-वो-र्जे पल-दन अतिश) कहकर भी पुकारते हैं।

आचार्य दीपंकर के पिता राजा कल्याण श्री थे। उनकी माता का नाम श्रीप्रभावती था। उनका जन्म सन् 982 ई० में पूर्वी भारत के सहोर नामक स्थान में हुआ। जिस कल्याण श्री प्रासाद में दीपंकर का जन्म हुआ उसके पास विक्रम-विहार था, जो विक्रमशिला-विहार भी कहलाता था। आचार्य दीपंकर का जन्म बंगाल में हुआ या बिहार में, इसके संबंध में एक व्यर्थ का विवाद चलता रहा है। प्रामाणिक तिब्बती स्रोतों का असंदिग्ध कथन है कि आचार्य दीपंकर भागलपुर में पैदा हुए थे।

दीपंकर के माता-पिता का विक्रमशिला-विहार से, जो उस समय बौद्ध जगत में विस्तृत रूप से ज्ञात था, घनिष्ठ संबंध था। अनुश्रुति का कहना है कि आचार्य दीपंकर के जन्म के समय उनके माता-पिता नवजात शिशु के साथ 500 रथों के जुलूस को लेकर इस विहार में पूजा के लिए गए। राजा कल्याण श्री के तीन पुत्र थे—पद्मगर्भ, चंद्रगर्भ और श्रीगर्भ। इनमें द्वितीय चंद्रगर्भ ही भिक्षु होने के बाद दीपंकर श्रीज्ञान कहलाए।

जैसा उच्च वर्ग के लोगों के लड़कों के लिए उस समय रिवाज था, ज्योतिषियों ने चंद्रगर्भ के जन्म के समय उनके संबंध में अनेक आश्चर्यजनक भविष्यवाणियां कीं। चंद्रगर्भ एक चतुर बालक था और तीन वर्ष की अवस्था में ही पढ़ने भेज दिया गया। ग्यारह वर्ष की आयु तक उसने न केवल लिखना, पढ़ना और गणित सीख लिया, बल्कि वह एक वैयाकरण भी हो गया। चूंकि कुमार चंद्रगर्भ अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, इसलिए सिंहासन पर बैठना उसके भाग्य में नहीं था।

उन दिनों उच्च शिक्षा केवल विहारों में मिल सकती थी। सौभाग्यवश विश्वविख्यात विक्रमशिला महाविहार राज-प्रासाद से अधिक दूर नहीं था, परंतु नालंदा का फिर भी अधिक सम्मान था। एक दिन अकस्मात् राजकुमार चंद्रगर्भ घूमते-घूमते पास के जंगल में निकल गया, जहां उसे एक कुटिया में निवास करते आचार्य जितारि[1] मिले। जितारि उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान और वैयाकरण थे। उन्होंने कुमार से पूछा, "तुम कौन हो?" कुमार ने उत्तर दिया, "मैं इस देश के राजा का पुत्र चंद्रगर्भ हूं।" जितारि ने इस उत्तर को गर्वपूर्ण समझा और कुमार को फटकारते हुए कहा, "हमारे यहां राजा या दास कोई नहीं है। यदि तू देश का शासक है, तो यहां से भाग जा।"

यह चौरासी सिद्धों का युग था और तिलोपा और नारोपा अभी जीवित थे। यद्यपि जितारि की गणना चौरासी सिद्धों में नहीं थी, फिर भी कुमार को यह मालूम था कि जितारि ने एक महान विद्वान होते हुए भी संसार को छोड़ दिया है। अत्यंत विनम्रता के साथ कुमार ने जितारि से कहा कि उसकी इच्छा संसार को छोड़ने की है। इस पर जितारि ने कुमार को नालंदा जाने की सलाह दी, क्योंकि वह जानते थे कि यदि कुमार अपने पिता की राजधानी के पास भिक्षु-पद की उपसंपदा लेगा तो वह अपने अभिमान की भावना को जीत नहीं सकेगा।

---

1. इस नाम पर टिप्पणी इस अध्याय के अंत में संलग्न परिशिष्ट में देखिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

किसी प्रकार अपने माता-पिता से अनुमति लेकर जब कुमार चंद्रगर्भ कुछ सेवकों के सहित नालंदा गया तो नालंदा के राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा, "विक्रमशिला-महाविहार तो तुम्हारे पड़ोस में ही है। तुम उसे छोड़कर यहां क्यों आए?" इस पर कुमार ने नालंदा की प्रशंसा की। राजा ने उसकी सिफारिश नालंदा विहार में लिए जाने की कर दी और कुमार चंद्रगर्भ भिक्षु बोधिभद्र की सेवा में उपस्थित हुआ, जो उस समय नालंदा विहार के प्रधान थे। भिक्षु होने के लिए चूंकि बीस वर्ष की आयु की आवश्यकता थी और कुमार चंद्रगर्भ अभी ग्यारह वर्ष ही का था, इसलिए उसे नौ वर्ष अभी और ठहरना पड़ा। इस बीच आचार्य बोधिभद्र ने उसे श्रामणेर की दीक्षा दे दी और उसका नाम दीपंकर श्रीज्ञान रख दिया। 'दीपंकर' बौद्ध परंपरा में एक अत्यंत पवित्र नाम है, क्योंकि इस नाम के एक बुद्ध ऐतिहासिक बुद्ध भगवान शाक्यमुनि से बहुत पहले हो चुके हैं। उनके नाम के साथ 'श्रीज्ञान' इसलिए जोड़ दिया गया कि आगे चलकर उनसे एक विद्वान बनने की आशा की जाती थी।

आचार्य बोधिभद्र के गुरु मैत्रीगुप्त उस समय जीवित थे। उन्होंने विद्वत्ता के मार्ग को छोड़कर सिद्धों की जीवन-पद्धति अपना ली थी। इसलिए उनका इस समय नाम मैत्रीपा अद्वयवज्र या अवधूतिपाद था। एक दिन बोधिभद्र अपने नवीन शिष्य दीपंकर श्रीज्ञान को लेकर, जिसकी अवस्था उस समय बारह वर्ष की थी, अवधूतिपाद के पास गए, जो राजगृह में उस समय रह रहे थे। बोधिभद्र ने अवधूतिपाद से प्रार्थना की कि वह दीपंकर श्रीज्ञान को अपना शिष्य बना लें, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। अठारह वर्ष की अवस्था तक दीपंकर श्रीज्ञान इन्हीं सिद्ध आचार्य मैत्रीपा अद्वयवज्र या अवधूतिपाद के पास राजगृह में रहे और इस बीच उन्होंने धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन किया।

उन दिनों मंत्र-यान और सिद्ध-यान का जोर था। अतः इनका अध्ययन भी दीपंकर श्रीज्ञान ने आवश्यक समझा। इसके लिए उन्हें नारोपा (नाडपाद या नरोत्तमपाद) जैसे गुरु मिल गए। नारोपा न केवल एक सिद्ध थे, बल्कि एक महान विद्वान भी। उन दिनों नालंदा और

विक्रमशिला के प्रवेशार्थियों को अनेक कठिन परीक्षाएं उत्तीर्ण करनी पड़ती थीं। तभी उनका प्रवेश इन विश्वविद्यालयों में हो सकता था। विक्रमशिला के प्रत्येक दरवाजे पर एक कुशल विद्वान होता था। नारोपा के अधिकार में उत्तर का दरवाजा था। राजगृह से दीपंकर नारोपा के पास गए और ग्यारह वर्ष तक उनकी शिष्यता में रहे। दीपकंर के अतिरिक्त नारोपा के कई अन्य शिष्य भी थे, जैसे कि प्रज्ञारक्षित, कनकश्री और माणकश्री, जो सब बाद में प्रसिद्ध विद्वान हुए। विदेशों से भी नारोपा के पास पढ़ने के लिए विद्यार्थी आते थे। तिब्बत के प्रसिद्धतम सिद्ध और कवि मिला-रेपा के गुरु मर्पा नारोपा के एक शिष्य थे।

दीपंकर ने विक्रमशिला में अपना अध्ययन समाप्त कर लिया, परतु उनकी ज्ञान-पिपासा शांत नहीं हुई। उन दिनों बोधगया के वज्रासन महाविहार के प्रधान भिक्षु की विद्वत्ता के लिए बड़ी ख्याति थी। उनको वज्रासनीपाद (दोर्जे दन्पा) कहकर पुकारा जाता था, यद्यपि यह उनका वास्तविक नाम नहीं था। दीपंकर श्रीज्ञान वज्रासन के मति विहार में गए जहां उन्होंने महाविनयधर शीलरक्षित से दो वर्ष तक विनय-पिटक को पढ़ा। इस प्रकार 31 वर्ष की आयु में दीपंकर श्रीज्ञान त्रिपिटक और तंत्रों के महापंडित हो गए।

उस समय सुवर्ण-द्वीप (आधुनिक सुमात्रा) के आचार्य धर्मपाल की विद्वत्ता की बौद्ध जगत में बड़ी ख्याति थी। भारतीयों का उस समय ऐसा दावा नहीं रहता था कि ज्ञान का एकाधिकार उन्हीं के हाथ में है। वस्तुतः 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहे जाने वाले रत्नाकरशांति, जो चौरासी सिद्धों में से एक थे, आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे। रत्नकीर्ति और तर्क-शास्त्र के महान व्याख्याकार ज्ञानश्री मित्र ने आचार्य धर्मपाल के चरणों में बैठकर विद्या प्राप्त की थी। दीपंकर से इन विद्वानों की भेंट विक्रमशिला में हुई थी और उससे प्रभावित होकर उन्होंने सुमात्रा जाने का निश्चय कर लिया। बोधगया से वे ताम्रलिप्ति (आधुनिक तमलुक) गए और वहां से 14 मास तक यात्रा करते हुए सुमात्रा पहुचे। सुमात्रा में आज कुछ प्राचीन विहारों के भग्नावशेषों के अलावा बौद्ध धर्म के अधिक चिन्ह नही हैं, परंतु

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उस समय वह बौद्ध विद्या के लिए प्रसिद्ध था। पहले कुछ दिन तक एकांत जीवन बिताने के बाद दीपंकर आचार्य धर्मपाल के दर्शनार्थ गए और बारह वर्ष तक उनके पास धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करते हुए रहे। जिन ग्रंथों का उन्होंने वहां अनुशीलन किया उनमें असंग कृत 'अभिसमयालंकार' और शांतिदेव-कृत 'बोधिचर्यावतार' आज भी विद्यमान हैं। तंत्रों के रहस्य का भी उन्होंने वहां ज्ञान प्राप्त किया।

चौंतीस वर्ष की अवस्था में दीपंकर श्रीज्ञान सुमात्रा से विक्रमशिला लौट आए। अपनी असाधारण विद्वत्ता के कारण वह वहां के 51 विद्वानों में प्रधान और विहार के 108 मंदिरों के अधिष्ठाता बनाए गए। सिद्ध भूतकोटिपाद, शांतिपाद और अवधूतिपाद— इन सबने आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान के निर्माण में योग दिया। दीपंकर श्रीज्ञान एक महान विद्वान ही नहीं, सिद्ध-यान के रहस्यों के ज्ञाता भी थे।

उस समय भारत में नालंदा, उद्दंतपुरी (बिहार शरीफ), वज्रासन और विक्रमशिला, ये चार महाविहार थे। इनमें विक्रमशिला सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। विदेशों से यहां अध्ययनार्थ आने वाले विद्यार्थियों की संख्या नालंदा की अपेक्षा अधिक थी। यहां 108 विद्वान और आठ महापंडित थे। आचार्य दीपंकर की गणना आठ महापंडितों में होती थी। आचार्य रत्नाकरशांति विहार के प्रधान थे।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का उस समय प्रचार हुआ, जब उसका रूप बहुत कुछ तांत्रिक हो चला था। तिब्बत के गुगे (शैन-शंग) प्रांत के राजा के ज्येष्ठ पुत्र ने भिक्षुपद की दीक्षा लेकर 'ज्ञानप्रभ' नाम धारण कर लिया था। ज्ञानप्रभ का आकर्षण तांत्रिकता की ओर बिल्कुल नहीं था। बल्कि वह इसके कट्टर विरोधी थे। ज्ञानप्रभ कट्टर बुद्धिवादी थे और तिब्बत के तांत्रिक बौद्ध धर्म में सुधार करना चाहते थे। उन्होंने तांत्रिकता के विरुद्ध एक पुस्तक भी लिखी, जिसके कारण तिब्बती तांत्रिक बौद्धों का विश्वास है कि राजवंशीय भिक्षु को नरक जाना पड़ा। ज्ञानप्रभ जानते थे कि तांत्रिकता के दोषों को दूर करना एक महान कार्य है और उनके

अकेले किए यह समस्या हल नहीं होगी। इसलिए उन्होंने तिब्बत के 21 मेधावी तरुणों को चुना। उन्हें पहले तिब्बत में ही दस वर्ष तक शिक्षा दी गई और फिर बाद में कश्मीर उच्च अध्ययन के लिए भेजा गया, परंतु वहां की जलवायु उन्हें अनुकूल नहीं पड़ी और केवल दो, रत्नभद्र (रिन-छेन-ज़ैंग-पो) और सुप्रज्ञ (लेग्स-पहि-शेस-रब), को छोड़कर शेष की कश्मीर में ही मृत्यु हो गई। रत्नभद्र तिब्बत में सबसे बड़े अनुवादक माने जाते हैं। रत्नभद्र जब कश्मीर में अपने अध्ययन को समाप्त कर तिब्बत पहुंचे तो देवगुरु ज्ञानप्रभ उन्हें देखकर अत्यंत हर्षित हुए। परंतु केवल एक विद्वान के सहयोग से वे तिब्बती तांत्रिक बौद्ध धर्म के सुधार की अधिक आशा नहीं कर सकते थे। तिब्बत के विद्यार्थियों को भारत की जलवायु अनुकूल नहीं पड़ती थी। इसलिए ज्ञानप्रभ को इसी निष्कर्ष पर आना पड़ा कि यदि भारत से ही कुछ विद्वान भिक्षु तिब्बत जाकर काम करें तो उन्हें अपने उद्देश्य में अधिक सफलता मिल सकती है।

पश्चिमी तिब्बत से विद्यार्थी भारतीय महाविहारों में अध्ययनार्थ आया करते थे। उनसे ज्ञानप्रभ को पता चला कि विक्रमशिला महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नामक एक महाविद्वान आचार्य हैं। फलतः ज्ञानप्रभ ने कुछ आदमियों के दल को लंबी यात्रा की सब आवश्यक सामग्री देकर विक्रमशिला भेजा ताकि वे आचार्य दीपंकर को तिब्बत आने का निमंत्रण दें। ये आदमी विक्रमशिला आए, परंतु दीपंकर ने तिब्बत की यात्रा पर जाना स्वीकार नहीं किया।

ज्ञानप्रभ इससे हताश होने वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने एक और दल को भेजने का निश्चय किया, परंतु धन की कमी थी, इसलिए वे सोना इकट्ठा करने के लिए तिब्बत के गार्तोग प्रांत में गए, जो मानसरोवर झील के उत्तर में स्थित था और जहां सोने की खान थी। यहां गार्तोग के राजा ने उन्हें कैद कर लिया और एक बड़ी धन-राशि मुक्ति-स्वरूप मांगी। जब ज्ञानप्रभ के बंदी बनाए जाने की खबर उनके पुत्र बोधिप्रभ (ब्यंग-चब-ओद) के पास पहुंची तो उसने अपने पिता को छुड़ाने के लिए धन इकट्ठा करना शुरू किया। अभी आवश्यक रकम

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

में कुछ कमी थी कि उसके पूर्व वह अपने पिता से मिलने जेल गया। ज्ञानप्रभ ने उससे कहा, "मेरे पुत्र, तुम जानते हो कि मैं बुड्ढा हो गया हूँ। यदि मै इस समय नहीं मरूं तो आगे के दस वर्षों में तो मर ही जाऊंगा। इसलिए यदि तुम पैसा मेरे ऊपर व्यर्थ खर्च करोगे, तो हम एक विद्वान को भारत से नहीं बुला सकेंगे। यह कितना महान होगा यदि मैं यहां अपने उद्देश्य के लिए मर जाऊं और तुम सब सोना भारत के विद्वान को बुलाने के लिए उपयोग कर सको। फिर यह भी निश्चित नहीं है कि मांगे हुए सोने को पाकर यह राजा मुझे छोड़ ही देगा। इसलिए हे मेरे पुत्र, मेरे लिए चिंता छोड़कर तुम एक दूत को अतिश के पास भेजो। मुझे विश्वास है कि वे भोटों के देश (तिब्बत) में आना स्वीकार कर लेंगे, विशेषतः जब वे मेरी वर्तमान दुरवस्था को सुनेंगे तो हम पर करुणा करेंगे। यदि किसी कारणवश वे न आ सकें तो तुम किसी दूसरे विद्वान को लाना, जिसने उनके नीचे काम किया हो।" इतना कहकर देवगुरु ज्ञानप्रभ ने अपने पुत्र के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और उससे अंतिम विदाई ली।

उस समय तिब्बत में राजवंशीय भिक्षुओं को देवगुरु (ल्हा-ब्ला मा) कहकर पुकारने का रिवाज था। देवगुरु बोधिप्रभ ने अपने पिता के आदेश की पूर्ति के लिए दस आदमियों की एक मंडली को चुना। ये सब लोग तिब्बत से नेपाल होते हुए विक्रमशिला आए। यहां उनका प्रथम परिचय विक्रमसिंह (व्सोन सेन) नामक भिक्षु से हुआ जो ग्य (कुलू के मार्ग में लद्दाख का अंतिम गांव जो आजकल बसा नहीं है) का निवासी था। इस कुशल भिक्षु ने इन तिब्बती लोगों को बताया कि उन्हें एकदम ही अतिश के पास जाकर उनसे यह नहीं कह देना चाहिए कि वे उन्हें तिब्बत ले जाने के लिए आए हैं। ऐसा कह देने पर उन्हें सफलता नहीं मिलेगी। भिक्षु विक्रमसिंह ने उन्हें यह भी वचन दिया कि उपयुक्त समय पर वे उन्हें आचार्य अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) से मिला देंगे।

इन तिब्बती लोगों के आने के कुछ दिन बाद विक्रमशिला में विद्वानों की एक सभा हुई। विक्रमसिंह तिब्बती लोगों को लेकर सभा में

गया जहां इन लोगों ने न केवल आचार्य अतिश को बल्कि उनके नीचे काम करने वाले रत्नकीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित और कनकश्री जैसे कई विद्वानों को भी देखा। किस प्रकार इन विद्वानों के द्वारा अतिश सम्मानित और सत्कृत थे, यह भी उन्होंने देखा। इसके कुछ दिन बाद विक्रमसिंह तिब्बती लोगों को आचार्य अतिश से मिलाने ले गया। उन्होंने अतिश को प्रणाम किया, सोना उनके सामने रख दिया और राजवंशीय भिक्षु ज्ञानप्रभ की जेल में मृत्यु की दुख भरी गाथा उनके सामने कही। दीपंकर श्रीज्ञान भाव विह्वल होकर बोले, "निःसंदेह ज्ञानप्रभ एक बोधिसत्व थे, क्योंकि उन्होंने धर्म के लिए अपने प्राणों का विसर्जन किया। मैं उनकी इच्छा को पूरा करूंगा, परंतु तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि मेरे ऊपर 108 मंदिरों का भारी उत्तरदायित्व है। अन्य अनेक कर्त्तव्य भी मुझे करने हैं। इन सब कर्त्तव्यों से छुटकारा पाने में मुझे 18 महीने लगेंगे। तभी मैं तिब्बत चल सकूंगा। तब तक तुम इस सोने को अपने पास रखो।"

इस समय (1030 ई०) अतिश की आयु 57-58 साल की थी, परंतु उनकी वृद्ध अवस्था उनके संकल्प के मार्ग में खड़ी नहीं हो सकी। 18 महीने बीतने पर उन्होंने तिब्बती लोगों को बुलवाया। उनके द्वारा लाए गए सोने के एक चतुर्थांश को उन्होंने पंडितों को दिया, दूसरे चतुर्थांश भाग को बोधगया के वज्रासन में पूजा के लिए दिया, तीसरे चतुर्थांश को रत्नाकरशांतिपाद को दिया और शेष को विभिन्न धार्मिक कृत्यों को करवाने के लिए राजा को दे दिया। भारत से प्रस्थान करने से पूर्व आचार्य दीपंकर एक बार उस स्थान (बोधगया) के दर्शन करने गए जहां सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' बने थे। यात्रा करते हुए पहले दीपंकर और उनके साथी, जिनमें उनके दुभाषिया विक्रमसिंह भी सम्मिलित थे, नेपाल पहुंचे। यहां से उन्होंने पालवंशीय राजा नयपाल (1040-1055 ई०) को एक पत्र भी लिखा। तंजूर-संग्रह में उनका यह पत्र तिब्बती अनुवाद के रूप में आज भी उपलब्ध है।[1] इसी प्रकार के अन्य पत्र जो बौद्ध गुरुओं

1. म्दो ह्ग्रेल, चौरानवे, 33, 3। स्थविर-महापंडित-दीपंकर-श्रीज्ञानेन प्रेषितो "विमिलार्थलेखो"।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ने लिखे, तिब्बती अनुवादों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं।[1] नेपाल से चलकर दीपंकर और उनके साथी थुड् विहार में पहुंचे, जहां विक्रमसिंह की मृत्यु हो गई। इससे आचार्य दीपंकर बहुत दुखी हुए, क्योंकि विक्रमसिंह उनके दुभाषिया थे, जिनके अभाव में तिब्बत जाना ही दीपंकर को व्यर्थ लगता था। सौभाग्यवश जयशील जैसे कुछ अन्य दुभाषिये भी थे, जिन्होंने आचार्य दीपंकर को सांत्वना दी और वे आगे बढ़े। जैसे ही तिब्बत के गुगे प्रांत में उन्होंने प्रवेश किया, देवगुरु बोधिप्रभ द्वारा भेजे हुए आदमियों ने उनका स्वागत किया। मानसरोवर प्रदेश में पहुंचने पर स्वयं राजा उनका स्वागत करने आया और उनको थो-लिन विहार में निवास प्रदान किया गया। इस विहार को स्वर्गीय राजा-ज्ञानप्रभ ने बनवाया था। आचार्य दीपंकर ने आठ महीने इस विहार में रहकर धर्म-प्रचार किया। यहां उन्होंने अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया, और अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'बोधिपथ-प्रदीप' लिखा। इस ग्रंथ का तिब्बती अनुवाद आज भी मिलता है। मानसरोवर प्रांत में अतिश ने तीन वर्ष तक निवास किया। सन् 1044 में वे मानसरोवर के पूर्व में पुरङ (स्पु-रंस) नामक स्थान में चले गए, जहां उनके अनुरक्त शिष्य डोम-तोन-प उनसे मिले। छाया की तरह इस शिष्य ने आचार्य की मृत्यु तक उनका अनुसरण किया। डोम-तोन-प ने आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान की जीवनी भी लिखी है, जिनका नाम है 'गुरुगुणधर्माकर'।

दूर-दूर से लोग आचार्य दीपंकर के उपदेश सुनने आने लगे। आचार्य दीपंकर सतत एक जगह से दूसरी जगह यात्रा करते रहते थे और जहां कहीं वे जाते उनका सम्मान होता था। अतिश को तिब्बती भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का समय नहीं मिला था। यात्रा करने के अतिरिक्त उन्हें ग्रंथ लिखने पड़ते थे। तिब्बती भिक्षु रत्नभद्र, जिन्हें ज्ञानप्रभ ने उच्च अध्ययन के लिए कश्मीर भेजा था, वहां से संस्कृत के एक महान विद्वान होकर लौटे थे। इन रत्नभद्र के रूप में दीपंकर को उनका एक प्रबल भक्त और सहायक मिला, जिसने अनेक संस्कृत ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद में उनकी सहायता की।

1. देखिए इस अध्याय के अंत में संलग्न प्रथम सूची।

तिब्बत में अपने कुल तेरह वर्ष के निवास में से अतिश ने तीन वर्ष नहरिस में, चार वर्ष मध्य-तिब्बत में और छः ने-थङ में बिताए। सन् 1047 में वे मध्य-तिब्बत के सम्-ये विहार में गए। शांतरक्षित द्वारा आठवीं शताब्दी में स्थापित यह प्रथम विहार था, जहां तिब्बती भिक्षुओं की उपसंपदा हुई थी। अनेक संस्कृत ग्रंथों का यहां अनुवाद भी किया गया था। इस विहार का पुस्तकालय इतना समृद्ध था कि कुछ पुस्तकें अतिश ने यहां ऐसी भी देखी थीं, जो भारत के विहारों में उपलब्ध नहीं थीं। जिन-जिन स्थानों की दीपंकर ने यात्रा की वहां वे आज तक याद किए जाते हैं। सन् 1050 ई० में उन्होंने येर्-व नामक विहार में निवास किया। यहीं उन्होंने सन् 1051 में 'कालचक्र' पर अपनी व्याख्या लिखी। ल्हासा से दक्षिण में आधे दिन की यात्रा के फासले पर एक स्थान है, जिसका नाम ने-थङ है। यहीं पर दीपंकर ने अपने अंतिम दिन बिताए और यहीं पर सन् 1054 ई० में 73 वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा।

चीन

कुमारजीव

कुमारजीव (344-413 ई०) का जन्म एक भारतीय पिता और कूची की निवासिनी माता से हुआ। कुमारजीव के पिता कुमारायण एक उच्च-कुलीन भारतीय थे, जो किसी कारणवश पामीर को पार करते हुए कूची में पहुंचे। यहां राजवंशीय कुमारी जीवा से उन्होंने विवाह कर लिया। कड़ा-शहर में इनके पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमारजीव रखा गया। कुछ दिन बाद जीवा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वह भिक्षुणी हो गई। अपने पुत्र कुमारजीव को बौद्ध दर्शन और साहित्य की उच्च शिक्षा दिलाने के लिए वह उसे साथ लेकर कश्मीर चली गई।

कश्मीर में आचार्य बंधुदत्त से कुमारजीव ने बौद्धधर्म का अध्ययन किया और बाद में इस प्रतिभाशाली शिष्य ने अपने आचार्य को महायान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म में दीक्षित किया। कुछ ही वर्षों में कुमारजीव ने बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओं में दक्षता प्राप्त कर ली और अपनी माता के साथ कूची लौट गए। मार्ग में उन्होंने मध्य-एशिया के बौद्ध अध्ययन-केन्द्रों को देखा।

अनुश्रुति है कि जब कुमारजीव और उसकी माता कश्मीर से कूची की और लौट रहे थे तो मार्ग में उन्हें एक अर्हत् मिले जिन्होंने भविष्यवाणी की कि यदि जीवा अपने पुत्र को उसकी पैंतीसवें वर्ष की आयु तक युवावस्था के दोषों और प्रलोभनों से बचा सकी तो वह एक दिन जन-साधारण में बुद्ध-शासन का प्रचार कर उन्हें मुक्ति दिलाने वाला बनेगा।

एक विद्वान के रूप में कुमारजीव की इतनी अधिक ख्याति हो गई कि खोतान, काशगर, यारकंद और पूर्वी तुर्किस्तान के अनेक भागों से बौद्ध लोग उनके पास आने लगे।

सन् 355 ई० में कुमारजीव ने काशगर की यात्रा की, जहां उनका परिचय महायानी आचार्य सूर्यसोम से हुआ। इनसे कुमारजीव ने माध्यमिक शास्त्रों को पढ़ा। कश्मीर के विमलाक्ष नामक भिक्षु ने मध्य-एशिया के मार्ग से पांचवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में चीन की यात्रा की। इस भिक्षु से कुमारजीव ने सर्वास्तिवादी विनय की शिक्षा प्राप्त की। विमलाक्ष ने बाद में कुमारजीव को अनुवाद के कार्य में सहायता दी, जिसके लिए वे प्रसिद्ध हैं।

सन् 401 ई० में राजनैतिक कारणों से कुमारजीव चीन ले जाए गए, जहां वे पहले से ही प्रसिद्ध थे। चीनी इतिवृत्तों का कहना है कि सन् 405 ई० में त्सिन वंश के राजा ने, जो स्वयं बौद्ध था, कुमारजीव का बड़ा सम्मान किया। 800 भिक्षुओं और विद्वानों का एक अनुवादक-दल संगठित किया गया। कुमारजीव के निरीक्षण में इस दल ने 300 से अधिक जिल्दों का अनुवाद किया। कहा जाता है कि जब अनुवाद का काम चल रहा थो तो स्वयं राजा मूल ग्रंथ की प्रति को अपने हाथ में

रखकर पढ़ता था। अपने जीवन के अंत (सन् 413 ई०) तक कुमारजीव ने बौद्ध धर्म के प्रचार में इतना अधिक कार्य किया कि उसके परिणामस्वरूप उत्तरी चीन में अनेक बौद्ध विहार स्थापित किए गए। साधारण जनता का 1/10 भाग बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया।

कुमारजीव चीन में माध्यमिक सिद्धांतों के प्रथम आचार्य और सत्यसिद्धि (चेंग-शिह त्सुंग) और निर्वाण (नीह-पन-त्सुंग) संप्रदायों के प्रथम व्याख्याकार माने जाते है।

कुमारजीव के ग्रंथ चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के एक नवीन युग के प्रवर्तन की सूचना देते हैं। बौद्ध दर्शन संबंधी अपने गंभीर ज्ञान तथा संस्कृत और चीनी भाषाओं पर अपने अधिकार के कारण कुमारजीव अपने अनुवादों को वह स्पष्टता और विशेषता दे सके हैं जो उनके पूर्वगामी धर्म-प्रचारकों के लिए संभव नहीं थी।

सन् 402 और 412 ई० के बीच कुमारजीव ने अनेक ग्रंथों के अनुवाद किए और चीनी भाषा में एक मौलिक ग्रंथ और कई गाथाएं भी लिखीं। 3000 से अधिक भिक्षु उनके शिष्य हो गए, जिनमें से दस ने महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथों की रचना की है।

कुमारजीव ने जिन अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, उनमें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ये हैं:

1. त-च तु-लुन (महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र)
2. पे-लुन (शत-शास्त्र)
3. फो-श्वो-ओ-मि-तो-चिन (सुखावत्यमृत-व्यूह)
4. म्यो-फ-ल्यन-हव-चिन (सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र)
5. मो-हो-पन-जो-पो-मि-चिन (महाप्रज्ञापारमिता सूत्र)
6. चिन-कन-पन-जो-पो-तो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहा जाता है कि कुमारजीव जब अपनी मरण-शैया पर थे तो उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि उन्हें उनके काम को स्वीकार करना चाहिए, परंतु उनके जीवन को आदर्श नहीं मानना चाहिए। उन्होंने कहा, "कमल कीचड़ में पैदा होता है। कमल से प्रेम करो, कीचड़ से नहीं।"

कुमारजीव भारत और मध्य-एशिया के बीच सांस्कृतिक सहयोग और बौद्ध विद्वानों द्वारा भारतीय संस्कृति को चीन में फैलाने के प्रयासों के प्रतीक हैं।

परमार्थ

परमार्थ (पो-लो-मो-थो), जिन्हें गुणरत तथा कुछ अन्य नामों से भी पुकारा जाता है, संस्कृत विद्या के महान केंद्र उज्जैन (यु-शन-नि) के एक श्रमण थे।

उज्जैन में अपनी बौद्ध शिक्षा समाप्त कर परमार्थ पाटलिपुत्र चले गए, जहां से वे चीनी सम्राट की प्रार्थना पर उसके द्वारा भेजे गए दूतों के साथ चीन चले गए। परमार्थ अपने साथ अनेक बौद्ध संस्कृत ग्रंथों को भी लेते गए। उन्होंने समुद्री मार्ग से यात्रा की और सन् 548 ई० में नानकिंग पहुंचे। इस समय से लेकर अपनी मृत्यु (569 ई०) तक अर्थात् पूरे इक्कीस वर्ष तक उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए अनेक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद किए।

परमार्थ, बोधिरुचि और युआन्-च्वांग, ये तीन विज्ञानवाद बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य हैं, जिन्होंने बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद चीनी भाषा में किए।

परमार्थ ने चीन में महायान-संपरिग्रह-शास्त्र-संप्रदाय (शे-लुन-त्सुंग) की स्थापना की, जिसके आधार उनके द्वारा किए गए बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद थे। इनमें महायान-संपरिग्रह-शास्त्र का स्थान प्रमुख था।

परमार्थ द्वारा किए बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवाद 275 जिल्दों में हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :

1. फो-श्वो-ची-त्सी-चिन (संधि-निर्मोचन-सूत्र)
2. चिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र)
3. शो-त-शन-लुन (महायान-संपरिग्रह-शास्त्र)
4. कुन-पीन-फन-पीह-लुन (मध्यांत-विभाग-शास्त्र)
5. ओ-फि-त-मो-कु-शो-शिह-लुन (अभिधर्म-कोश-व्याख्या-शास्त्र)
6. शो-त-शन-लुन-शिह (महायान-संपरिग्रह-शास्त्र-व्याख्या)
7. लुह-र्ह-शि-र्ह-मिन-ल्यो-लुन (विनय-द्वाविंशति-प्रसन्नार्थ-शास्त्र)
8. शि-प-खुन-लुन (अष्टादशाकाश या अष्टादश-शून्यता-शास्त्र)

बोधिधर्म

यह तथ्य स्थापित किया जा चुका है कि बोधिधर्म या धर्मबोधि (त-म-फु-थि) एक भारतीय श्रमण थे, जिन्होंने सन् 526 ई० में भारत से चीन के लिए प्रस्थान किया। 528 या 536 ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनके जीवन के विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं।

बोधिधर्म ने अध्ययन की अपेक्षा ध्यान पर अधिक जोर दिया। इसलिए उनके प्रभाव के परिणाम-स्वरूप बौद्ध विहार बौद्धिक होने की अपेक्षा साधनात्मक अधिक हो गए।

जब बोधिधर्म ने चीन में प्रवेश किया तो उनका आदर हुआ। सम्राट ल्यांग-वु-ति ने उन्हें नानकिंग में बुलाया। उसके साथ उनका जो संलाप हुआ उसे यहां दे देना आवश्यक होगा, क्योंकि उससे उनके सिद्धांतों पर प्रकाश पड़ता है।

सम्राट ने पूछा, "जब से मैं राजगद्दी पर बैठा हूं मैंने निरंतर विहारों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आदि की स्थापना की है। मुझे अपने इस शुभ कृत्य से कितना पुण्य मिलेगा?'' बोधिधर्म ने उत्तर दिया, ''कुछ नहीं।'' सम्राट ने पूछा, ''क्यों नहीं?'' भिक्षु ने उत्तर दिया, ''ये सभी चीजें विनाशी कारणों के परिणाम हैं, जिनमें कोई सत्यता नहीं है।'' सम्राट ने पूछा, ''तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है?'' भिक्षु ने उत्तर दिया, ''इसे पवित्रता, निर्वाण और पूर्णता में खोजो। सांसारिक उपायों से पुण्य का संग्रह नहीं किया जा सकता।'' सम्राट ने फिर पूछा, ''सबसे बड़ा पवित्र सिद्धांत क्या है?'' भिक्षु ने उत्तर दिया, ''प्रत्येक वस्तु शून्य-स्वभाव है, इसलिए 'पवित्र' कुछ नहीं है।'' इस पर कुछ आवेश में सम्राट ने कहा, ''तब फिर मुझे उत्तर देने वाले तुम कौन हो?'' ''मैं स्वयं नहीं जानता कि उत्तर देने वाला कौन है?'' भिक्षु का उतना ही निर्भीक उत्तर था।

जैसा उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है, शून्यता बोधिधर्म के सिद्धांत का सार है, शून्यता—जिसका शब्दों से प्रख्यापन नहीं किया जा सकता। बोधिधर्म के निषेधात्मक उत्तर का यही रहस्य था। बोधिधर्म के ध्यानवादी सिद्धांतों का चीन के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहां से ज़ेन बौद्ध धर्म के रूप में बौद्ध धर्म के इस ध्यान-संप्रदाय का प्रवर्तन जापान में हुआ, जिसने वहां की संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

अक्सर यह कहा जाता है कि बोधिधर्म का ध्यानवादी बौद्ध सप्रदाय बौद्ध धर्म का विशुद्ध रूप न होकर कन्फ्यूशियन धर्म, ताओ-धर्म और बौद्ध धर्म का एक संश्लिष्ट रूप है। परंतु यह बात ठीक नही। जैसा बोधिधर्म ने कहा है, बौद्ध धर्म की भावना ध्यानवादी संप्रदाय की भावना ही है।

बोधिधर्म ने शास्त्रों के अध्ययन को अधिक महत्व नहीं दिया। इसलिए उन्होंने अनुवादों के कार्य को न कर ध्यान-पद्धति के विकास पर अधिक जोर दिया। फिर भी उन्होंने एक बौद्ध संस्कृत ग्रंथ का चीनी अनुवाद किया है और वह है त-पन-नी-फन-चिन-लुन (महापरिनिर्वाणसूत्र-शास्त्र)। बोधिधर्म के पांच उत्तराधिकारी हुए जिन्होंने उन्हीं के समान ध्यान का जीवन बिताया और जिनका तंग वंश के सम्राटों ने बड़ा आदर किया।

युआन च्वांग

युआन च्वांग (602-664 ई०) लो-यंग विहार के एक चीनी श्रमण थे, जिनकी सन् 622 ई० में उपसंपदा हुई। सन् 629 ई. में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध भारत-यात्रा के लिए प्रस्थान किया और सन् 645 ई. में वे चीन की राजधानी में वापस पहुंचे। इसके बाद अपने जीवन के अंत तक वे अनुवाद के काम में लगे रहे। उनकी मृत्यु सन् 664 ई० में पैंसठ वर्ष की आयु में हुई।

भारत में युआन च्वांग ने नालंदा में रहकर पांच वर्ष तक बौद्ध साहित्य तथा ब्राह्मण साहित्य का अध्ययन किया। शीलभद्र से युआन च्वांग ने विज्ञानवाद के दर्शन को पढ़ा। भारत से लौटते समय युआन च्वांग अपने साथ बौद्ध साहित्य के एक बड़े संग्रह को ले गए जिसका उन्होंने बाद मे चीनी भाषा में अनुवाद किया। भगवान बुद्ध की धातुओं के कुछ अवशेष और उनकी कुछ मूर्तियों को भी वह अपने साथ ले गए।

युआन च्वांग एक असाधारण प्रतिभा का अनुवादक ही नहीं था, वह एक मौलिक साहित्यकार भी था। अनुवाद की प्रक्रिया में उसने परमार्थ के ढंग को पूर्णतः न मानकर एक नवीन मार्ग की उद्भावना की। युआन च्वांग तथा उसके साथियों के द्वारा किए गए अनुवादों में निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(1) त-पन-जो-पो-लो-मि-तो-चिन (महा-प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र)

(2) वेइ-शि-सन-शि-लुन (विद्यामात्र-सिद्ध-त्रिदश-शास्त्र)

(3) त-शन-चन-येह-लुन (कर्मसिद्ध-प्रकरण-शास्त्र)

(4) वी-शिरह-शि-लुन (विद्यामात्र-सिद्धि-शास्त्र)

(5) पीन-चुन-पीन-लुन (मध्यांत-विभाग-शास्त्र)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(6) शो-त-शन-लुन-पन (महायानसंपरिग्रह-शास्त्रमूल)

(7) ओ-फि-त-मो-शुन-चन-लिन (अभिधर्मन्यायानुसार-शास्त्र)

(8) यिन-मिन-निन-चन-लि-लुन (हेतुविद्या-न्यायप्रवेश-शास्त्र)

(9) यिन-मिन-चन-लि-मन-लुन-पन (न्यायद्वारतर्क-शास्त्र)

(10) नन-तत्वन-चिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र)

बोधिरुचि

बोधिरुचि (571-727) का मूल नाम धर्मरुचि था। सम्राज्ञी वु-त्से-यीन (684-705 ई०) के आदेश से उनका नाम धर्मरुचि से बदलकर बोधिरुचि कर दिया गया। बोधिरुचि का जन्म दक्षिण भारत के एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

तंग वंश के शासन के आदि के भाग में सिंहल, भारत और जापान से अनेक भिक्षु चीन में गए। उन्हीं में एक बोधिरुचि थे जो स्थायी रूप से चीन में ही बस गए। चीनी ऐतिहासिक लेखों के अनुसार बोधिरुचि अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे और बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने बौद्ध धर्म में प्रवेश किया था। चीन जाकर बोधिरुचि ने अपना सारा लंबा जीवन बौद्ध ग्रंथों के अनुवादों में बिताया। कहा जाता है कि बोधिरुचि की मृत्यु सन् 727 ई० में 156 वर्ष की अवस्था में हुई। मृत्यु से पूर्व उन्होंने भोजन बिल्कुल छोड़ दिया। जब उनका मरण-काल समीप था, उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि वे उन्हें छोड़कर चले जाएं और अपने एकांत कमरे में उन्होंने निर्वाण में प्रवेश किया। सन् 693-713 के बीच बोधिरुचि ने 53 बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवाद किए। चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में बोधिरुचि नाम के दो बौद्ध भिक्षु हो गए हैं जिनमें से एक बोधिरुचि तंग वंश के शासन-काल में हुए और दूसरे वेइ वंश के शासन-काल में। जिन बोधिरुचि का हमने ऊपर विवरण दिया है, वे तंग वंश के बौद्ध भिक्षु ही हैं।

वेइ-वंश के शासन-काल में जिन बोधिरुचि भिक्षु की जीवन-धारा बही, उन्होंने चीन में एक संप्रदाय का भी प्रवर्तन किया जिसका नाम दशभूमिक संप्रदाय (ति-लुन-त्सुंग) है।

जापान

जापान में मुख्य बारह बौद्ध संप्रदाय हैं। इनमें से प्रत्येक का संस्थापक एक बौद्ध भिक्षु माना जाता है। यहां हम ऐसे चार बौद्ध भिक्षुओं के संक्षिप्त विवरण देंगे जिनका योगदान जापानी बौद्ध धर्म के प्रति सर्वाधिक है।

कुकइ

जापान में कुकइ (774-835 ई०) से अधिक लोकप्रिय या सम्मानित अन्य कोई भिक्षु युगों से नहीं रहा है। कुकई शिंगोन संप्रदाय के भिक्षु थे। उन्होंने इस संप्रदाय संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे हैं। कला, शिक्षा और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में उन्होंने जापान की संस्कृति को बहुत कुछ दिया है। जापान में एक कविता, जो आज भी लोकप्रिय है और जिसमें जापानी अक्षरमाला के केवल 47 अक्षरों में बौद्ध धर्म के उपदेश बड़ी अच्छी तरह सिखाए गए हैं, कुकइ-रचित ही मानी जाती है। शिंगोन संप्रदाय के कोंगोबुलि नामक प्रसिद्ध विहार में उनकी मृत्यु हुई, परंतु उनके अनुयायियों का विश्वास है कि उन्होंने केवल 'न्युजो' में प्रवेश किया, अर्थात् शाश्वत समाधि ली।

शिनरन

शिनरन (1175-1262 ई०) जोदो-शिन संप्रदाय के संस्थापक थे। उनका सबसे बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने बौद्ध धर्म को साधारण जनता के हृदय तक पहुंचा दिया। भिक्षु शिनरन एक अत्यंत सादा जीवन बिताते थे और कभी अपने को उपदेष्टा नहीं कहते थे। उन्होंने किसानों के बीच ग्रामीण जीवन बिताया और अमिताभ बुद्ध की भक्ति का उपदेश दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

डोजेन

भिक्षु डोजेन (1200-1253 ई०) ने सोतो ज़ेन संप्रदाय की स्थापना की। एक ध्यानी बौद्ध होने के नाते उन्होंने सांसारिक सम्मान की कोई परवाह नहीं की। उन्होंने ध्यान संप्रदाय के ईहीजी नामक विहार की स्थापना की और उसके लिए जो नियम उन्होंने निर्दिष्ट किए उन्हें जापान के अन्य सब ध्यान-संप्रदाय के विहारों में मान्य किया गया। उन्होंने अनेक प्रवचन दिए जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'शो-बो-जेन-ज़ो' (सत्य सिद्धांत का सार) है। उनके अनुयायियों द्वारा ही नहीं बल्कि जापान के अन्य संप्रदायों द्वारा भी यह ग्रंथ एक अद्वितीय दार्शनिक रचना माना जाता है।

निचिरेन

निचिरेन (1222-1282 ई०) जापान के एक देशभक्त भिक्षु थे। उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब जापान पर चीन के मंगोलियाई सम्राट के आक्रमण का भय था। निचिरेन का विश्वास था कि सद्धर्म-पुंडरीक-सूत्र में उपदिष्ट धर्म ही बौद्ध धर्म का एकमात्र सच्चा स्वरूप है और केवल वही उनके देश को विदेशी आक्रमण से बचा सकता है। उन्हें अपने विचारों के कारण अनेक बार अपने देश की सरकार से दंडित भी होना पड़ा। परंतु अपनी देश-भक्ति और अपने प्रवचनों की सरलता और सादगी से उन्होंने जापानी जनता के हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया। उन्होंने एक संप्रदाय का प्रवर्तन किया जो उनके नाम पर 'निचिरेन' संप्रदाय कहलाता है। निचिरेन संप्रदाय के अनुयायी उन्हें एक 'महाबोधिसत्व' मानते हैं जिसने राष्ट्र को बचा लिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(6) शो-त-शन-लुन-पन (महायानसंपरिग्रह-शास्त्रमूल)

(7) ओ-फि-त-मो-शुन-चन-लिन (अभिधर्मन्यायानुसार-शास्त्र)

(8) यिन-मिन-निन-चन-लि-लुन (हेतुविद्या-न्यायप्रवेश-शास्त्र)

(9) यिन-मिन-चन-लि-मन-लुन-पन (न्यायद्वारतर्क-शास्त्र)

(10) नन-तत्वन-चिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र)

बोधिरुचि

बोधिरुचि (571-727) का मूल नाम धर्मरुचि था। सम्राज्ञी वु-त्से-यीन (684-705 ई०) के आदेश से उनका नाम धर्मरुचि से बदलकर बोधिरुचि कर दिया गया। बोधिरुचि का जन्म दक्षिण भारत के एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

तंग वंश के शासन के आदि के भाग में सिंहल, भारत और जापान से अनेक भिक्षु चीन में गए। उन्हीं में एक बोधिरुचि थे जो स्थायी रूप से चीन में ही बस गए। चीनी ऐतिहासिक लेखों के अनुसार बोधिरुचि अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे और बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने बौद्ध धर्म में प्रवेश किया था। चीन जाकर बोधिरुचि ने अपना सारा लंबा जीवन बौद्ध ग्रंथों के अनुवादों में बिताया। कहा जाता है कि बोधिरुचि की मृत्यु सन् 727 ई० में 156 वर्ष की अवस्था में हुई। मृत्यु से पूर्व उन्होंने भोजन बिल्कुल छोड़ दिया। जब उनका मरण-काल समीप था, उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि वे उन्हें छोड़कर चले जाएं और अपने एकांत कमरे में उन्होंने निर्वाण में प्रवेश किया। सन् 693-713 के बीच बोधिरुचि ने 53 बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवाद किए। चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में बोधिरुचि नाम के दो बौद्ध भिक्षु हो गए हैं जिनमें से एक बोधिरुचि तंग वंश के शासन-काल में हुए और दूसरे वेइ वंश के शासन-काल में। जिन बोधिरुचि का हमने ऊपर विवरण दिया है, वे तंग वंश के बौद्ध भिक्षु ही हैं।

वेइ-वंश के शासन-काल में जिन बोधिरुचि भिक्षु की जीवन-धारा बही, उन्होंने चीन में एक संप्रदाय का भी प्रवर्तन किया जिसका नाम दशभूमिक संप्रदाय (ति-लुन-त्सुंग) है।

जापान

जापान में मुख्य बारह बौद्ध संप्रदाय हैं। इनमें से प्रत्येक का संस्थापक एक बौद्ध भिक्षु माना जाता है। यहां हम ऐसे चार बौद्ध भिक्षुओं के संक्षिप्त विवरण देंगे जिनका योगदान जापानी बौद्ध धर्म के प्रति सर्वाधिक है।

कुकइ

जापान में कुकइ (774-835 ई०) से अधिक लोकप्रिय या सम्मानित अन्य कोई भिक्षु युगों से नहीं रहा है। कुकई शिंगोन संप्रदाय के भिक्षु थे। उन्होंने इस संप्रदाय संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे हैं। कला, शिक्षा और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में उन्होंने जापान की संस्कृति को बहुत कुछ दिया है। जापान में एक कविता, जो आज भी लोकप्रिय है और जिसमें जापानी अक्षरमाला के केवल 47 अक्षरों में बौद्ध धर्म के उपदेश बड़ी अच्छी तरह सिखाए गए हैं, कुकइ-रचित ही मानी जाती है। शिंगोन संप्रदाय के कोंगोबुलि नामक प्रसिद्ध विहार में उनकी मृत्यु हुई, परंतु उनके अनुयायियों का विश्वास है कि उन्होंने केवल 'न्युजो' में प्रवेश किया, अर्थात् शाश्वत समाधि ली।

शिनरन

शिनरन (1175-1262 ई०) जोदो-शिन संप्रदाय के संस्थापक थे। उनका सबसे बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने बौद्ध धर्म को साधारण जनता के हृदय तक पहुंचा दिया। भिक्षु शिनरन एक अत्यंत सादा जीवन बिताते थे और कभी अपने को उपदेष्टा नहीं कहते थे। उन्होंने किसानों के बीच ग्रामीण जीवन बिताया और अभिताभ बुद्ध की भक्ति का उपदेश दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

डोजेन

भिक्षु डोजेन (1200-1253 ई०) ने सोतो ज़ेन संप्रदाय की स्थापना की। एक ध्यानी बौद्ध होने के नाते उन्होंने सांसारिक सम्मान की कोई परवाह नहीं की। उन्होंने ध्यान संप्रदाय के ईहीजी नामक विहार की स्थापना की और उसके लिए जो नियम उन्होंने निर्दिष्ट किए उन्हें जापान के अन्य सब ध्यान-संप्रदाय के विहारों में मान्य किया गया। उन्होंने अनेक प्रवचन दिए जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'शो-बो-जेन-ज़ो' (सत्य सिद्धांत का सार) है। उनके अनुयायियों द्वारा ही नहीं बल्कि जापान के अन्य संप्रदायों द्वारा भी यह ग्रंथ एक अद्वितीय दार्शनिक रचना माना जाता है।

निचिरेन

निचिरेन (1222-1282 ई०) जापान के एक देशभक्त भिक्षु थे। उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब जापान पर चीन के मंगोलियाई सम्राट के आक्रमण का भय था। निचिरेन का विश्वास था कि सद्धर्म-पुंडरीक-सूत्र में उपदिष्ट धर्म ही बौद्ध धर्म का एकमात्र सच्चा स्वरूप है और केवल वही उनके देश को विदेशी आक्रमण से बचा सकता है। उन्हें अपने विचारों के कारण अनेक बार अपने देश की सरकार से दंडित भी होना पड़ा। परंतु अपनी देश-भक्ति और अपने प्रवचनों की सरलता और सादगी से उन्होंने जापानी जनता के हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया। उन्होंने एक संप्रदाय का प्रवर्तन किया जो उनके नाम पर 'निचिरेन' संप्रदाय कहलाता है। निचिरेन संप्रदाय के अनुयायी उन्हें एक 'महाबोधिसत्व' मानते हैं जिसने राष्ट्र को बचा लिया।

परिशिष्ट

सूची-1

तिब्बती भाषा में सुरक्षित भारतीय पंडितों के पत्र

पत्र-प्रेषक का नाम	जिसके पास पत्र प्रषित किया गया।	पत्र नाम	समय	तंजुर (म्दो-ह्ग्रेल) में निर्देश
मातृचेट	कनिष्क	महाराज कनिष्क	प्रथम शताब्दी ईसवी	गि 34, ने 29
नागार्जुन	उदायिभद्र (सातवाहन)	सुहृल्लेख	द्वितीय शताब्दी ईसवी	गि 32, ने 27
चंद्रगोमिन	वीररत्न कीर्ति	शिष्यलेख	छठी शताब्दी ईसवी	गि 33, ने 28
जितारि[1]	.....	चित्तरत्न-विशोधन-क्रम	ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी	गि 39, ने 30
बोधिभद्र (सोमपुरी)	.....	गुरुलेख	ऊपर के समान	गि 36, ने 31
सज्जन	सूक्ष्मज्ञान	पुत्रलेख	ऊपर के समान	गि 39, ने 32
दीपंकर श्रीज्ञान	नयपाल	विमलरत्न लेख	ऊपर के समान	गि 103, ने 33
जगन्मित्रानंद	जयचंद्र	चंद्रराज-लेख	बारहवीं शताब्दी ईसवी	गि 103, ने 34

1. तोहोकु विश्वविद्यालय की पुस्तक सूची (1934) के अनुसार यह नाम जेतारि है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूची-2

तिब्बती अनुवादकों की सहायता से अतिश द्वारा अनुवादित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

ग्रंथ का नाग	लेखक	अनुवादक
गाध्यमक-रत्न-प्रदीप	भव्य	ग्र्ग छोन, ग्रुस, सेन गे (विक्रगसिंह)
गाध्यमक-हृदय-कारिका	भव्य	(नग-छो) छल, खिम्स-ग्र्गल व (शीलजय या जयशील), ल्हासा
माध्यगक-हृदय-कारिका-वृत्ति	भव्य	ऊपर के सगान
माध्यमकार्य-संग्रह	भव्य	ऊपर के सगान
माध्यगकभ्रमघाट	आर्यदेव	ऊपर के सगान
पंचस्कंध प्रकरण	चद्रकीर्ति	ऊपर के सगान
रत्नाकरडोदघाट	दीपंकर श्रीज्ञान	ग्र्ग लोछवा और शीलजय (जयशील)
शिक्षासगुच्चगाभिसगय	सुवर्णद्वीपीय धर्गपाल	शीलजय
बोधि-पथ-प्रदीप	दीपकर श्रीज्ञान	(शु०) द्गे-वहि-ब्लो ग्रोस
बोधि-पथ-प्रदीप पजिका	दीपंकर श्रीज्ञान	शीलजय (जयशील)
महासूत्रसगुच्चय	दीपंकर श्रीज्ञान	जयानंद और (प छय) नि-ग-ग्रग्स

चीनी यात्री

सातवीं शताब्दी ईसवी के करीब जब यूरोप 'अंधकार-युग' में रह रहा था, भारत और चीन एक प्रगाढ़ राजनैतिक, बौद्धिक, धार्मिक और कलात्मक जीवन बिता रहे थे। बौद्ध धर्म ने इन दोनों देशों के बीच जिस संबंध को स्थापित किया उसने मानवता की एक ऐसी धारा को जन्म दिया जो सिंहल से जापान तक फैल गई। तंग वंश के शासन-काल में चीन ने एक नवीन एकता प्राप्त की और भारत से आने वाले शांतिदायक प्रभाव का उसने स्वागत किया, जिससे उसकी शक्ति में मृदुता आई। इस युग में अनेक चीनी तीर्थ-यात्री भारत में आए, जिनमें से दो सुप्रसिद्ध, युआन-च्वांग और इ-त्सिंग, अपने लिखित विवरण छोड़ गए हैं जिनमें उस विस्तृत आंदोलन की स्मृतियां अनुविद्ध हैं जिसमें जापान ने भी भाग लिया था। होर्युजी का मंदिर, जिसे शोतोकु तेशा ने नारा में सन् 607 ई० में बनवाया, इस परिवर्तन का साक्षी है। दो शताब्दी पूर्व फाहियान इस आंदोलन का पूर्वगामी था। वह भारत आने वाला सर्वप्रथम चीनी यात्री था, जो अपनी यात्रा का विवरण लिखित रूप में छोड़ गया है।

फाहियान

फाहियान ने मध्य-चीन से गोबी के रेगिस्तान में होते हुए हिंदूकुश तथा उत्तरी भारत को पार करते हुए बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बंदरगाह तक की अपनी सारी यात्रा पैदल ही की। ताम्रलिप्ति से वह समुद्री मार्ग द्वारा सिंहल गया और वहां से भयानक समुद्री यात्रा के बाद, जिसमें वह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कई बार मृत्यु से बाल-बाल बचा, अपने देश चीन में पहुंचा। वह अपने साथ अनेक बौद्ध धार्मिक ग्रंथ और बौद्ध देवताओं की मूर्तियां ले गया, जिनकी खोज में वह भारत आया था।

फाहियान चीन में बौद्ध विनय की दुरवस्था देखकर अत्यंत खिन्न था। अनेक मित्रों के साथ भारत आकर विनय-नियमों को ले जाने का उसने संकल्प किया। चीन के छाङ्-आन् नामक स्थान से प्रस्थान करने के बाद यात्रा करता हुआ वह तुङ्-ह्वान् आया। यहां के राज्यपाल ने उसे गोबी रेगिस्तान को पार करने के लिए आवश्यक सहायता की। गोबी के रेगिस्तान की भयानक यात्रा का वर्णन करते हुए फाहियान ने लिखा है कि अनेक दुष्ट आत्माएं और गर्म हवाएं इसमें निवास करती थीं जो किसी को नहीं छोड़ती थीं। न ऊपर चिड़ियां दिखाई पड़ती थीं, न नीचे पशु। मार्ग का चिन्ह पाने के लिए चारों ओर दृष्टि फैलाने पर भी सिवाय मरे हुए आदमियों की जलती हुई हड्डियों के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था।

फाहियान ने मध्य-एशिया में जिन राज्यों की यात्रा की, उनमें उसने भारतीय संस्कृति का प्रचार देखा। लोप-नोर के दक्षिण में शन-शन के प्रदेश में उस समय हीनयान संप्रदाय के चार हजार भिक्षु थे और साधारण जनता भारतीय धर्म का ही कुछ परिवर्तनों के साथ अनुसरण करती थी। ''इस स्थान से पश्चिम में चलकर जो राज्य मिलते हैं वे भी इसी प्रकार के हैं। जो अपने घरबार को छोड़कर श्रमण और श्रामणेर बन गए हैं, वे सब भारतीय ग्रंथों और भारत में बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन करते हैं।'' फाहियान ने दो मास और कुछ दिन कड़ा शहर में बिताए। यहां हीनयान संप्रदाय के 4,000 से अधिक भिक्षु उस समय थे।

आगे चलकर चीनी यात्री खोतान में ठहरा जो एक समृद्ध और सुखी राज्य था। यहां महायान के अनेक सहस्र भिक्षु निवास करते थे। इस देश के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को विशाल और आरामप्रद 'गोमती-विहार' में निवास दिया। इस विहार का अनुशासन परिपूर्ण था। ''घंटा बजने पर तीन हजार भिक्षु भोजन के लिए एकत्र हो जाते हैं। जब वे विहार की भोजन-शाला में प्रवेश करते हैं, तो उस समय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

उनका व्यवहार गंभीर और शिष्टतापूर्ण होता है। नियमित क्रम में वे बैठ जाते हैं। सब मौन रहते हैं, उनके बर्तनों की भी कोई खनखनाहट नहीं होती। यदि वे अधिक भोजन परोसवाना चाहते हैं, तो परोसने वालों को वे बुलाते नहीं, बल्कि अपने हाथों से केवल संकेत कर देते हैं।''

फाहियान के कुछ साथी खोतान से काशगर की ओर बढ़ गए, परंतु फाहियान और उसके कुछ अन्य साथी खोतान में तीन महीने और ठहर गए, ताकि मूर्तियों के प्रभावशाली जुलूस को देख सकें। इस जुलूस में (हीनयान संप्रदाय को छोड़कर) चौदह विहारों के भिक्षु भाग लेते थे, जिनमें गोमती विहार के भिक्षुओं का प्रथम स्थान होता था। राजा और उसके दरबार के लोग ही नहीं, बल्कि रानियां भी इस समारोह में सम्मिलित होती थीं। यह समारोह हमारे आज के रथोत्सव के समान ही नहीं था, बल्कि उससे भी अधिक शानदार ढंग से मनाया जाता था। भिन्न-भिन्न प्रगकार के रथ होते थे और प्रत्येक विहार का रथोत्सव अलग-अलग दिन होता था। खोतान नगर से सात या आठ 'ली' (एक 'ली' करीब एक-तिहाई मील या आधा किलोमीटर के बराबर होता है) पश्चिम में राजा के द्वारा निर्मित 'नवीन विहार' स्थित था, जो करीब 76 मीटर ऊंचा था और जिसके बनवाने में 80 वर्ष लगे थे।

खोतान में रथ-महोत्सव को देखने के बाद फाहियान काशगर को चल दिया, जहां वह तीन मास में पहुंचा। काशगर में उसने वहां के राजा द्वारा बुलाई गई 'पंच-परिषद' को देखा। यह परिषद प्रति पांचवें वर्ष बुलाई जाती थी। इसी प्रकार की परिषद को हम भारत में सातवीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयाग में बुलवाए जाते देखते हैं, जिसमें युआन-च्वांग भी सम्मिलित हुआ। परंतु काशगर की सभा अपेक्षाकृत छोटी ही रही होगी। काशगर के संबंध में फाहियान ने लिखा है, ''इस देश में भगवान बुद्ध का एक पीकदान है। यह पत्थर का बना हुआ है और उनके भिक्षा-पात्र के रंग का है। भगवान बुद्ध का एक दंत-धातु भी यहां है, जिसके ऊपर यहां के लोगों ने एक स्तूप का निर्माण किया है।''

बोलोर-तघ पर्वत-श्रेणी के किनारे-किनारे चलते हुए सिंधु नदी को प्रथम बार पार करने के भयानक दृश्य का फाहियान ने वर्णन किया है।

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

चट्टानों को सीढ़ियों की सहायता से पार करने के बाद उसने इस नदी को रस्सियों के बने पुल से पार किया था। इसके बाद फाहियान उद्यान (प्रदेश) पहुंचा, जो उस समय बौद्ध धर्म का एक समृद्ध केंद्र था। इसके बाद दक्षिण दिशा में चलकर फाहियान गंधार और तक्षशिला में आया। पेशावर में उसने कनिष्क द्वारा निर्मित स्तूप को देखा, जिसकी अतुलनीय विशालता का उसने वर्णन किया है।

पेशावर से आगे चलकर फाहियान नगरहार (हद्दा) आया। इस समय तक उसके सब साथी उसे छोड़ चुके थे। नगरहार में एक स्तूप था, जो भगवान बुद्ध की खोपड़ी की हड्डी के ऊपर बनवाया गया था। नगरहार के दक्षिण में आधे योजन की दूरी पर फाहियान ने एक गुफा देखी, जिसमें लोगों के कथनानुसार भगवान बुद्ध अपनी छाया छोड़ गए थे, "चारों ओर के देशों के अनेक राजाओं ने कुशल चित्रकारों को उसका रेखाचित्र खींचने के लिए भेजा है, परंतु कोई उसका ऐसा चित्र नहीं बना सका है।" नगरहार के पड़ोस के अन्य कई स्थानों का भी वर्णन फाहियान ने किया है।

सफेद कोह को पार करने के बाद फाहियान ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया। यहां उस समय महायान और हीनयान संप्रदायों के तीन हजार भिक्षु रहते थे। बन्नू में भिक्षुओं की इतनी ही संख्या थी, परंतु वे सब हीनयान संप्रदाय के थे। तदनंतर पंजाब में भ्रमण करता हुआ चीनी यात्री मथुरा प्रदेश में आया, जहां बौद्ध धर्म उस समय अत्यंत लोकप्रिय अवस्था में था और राजा, जनता सब भिक्षुओं का आदर करते थे। आगे बढ़ता हुआ चीनी यात्री मध्यदेश में पहुंचा जिसे गुप्त साम्राज्य का हृदय कहा जा सकता था। इस प्रदेश का विस्तृत विवरण फाहियान ने दिया है। उसकी जलवायु की प्रशंसा करते हुए उसने वहां के निवासियों की समृद्धि का वर्णन किया है। राज्य-शासन और दंड-व्यवस्था का भी उसने वर्णन किया है। लोगों की सदाचार--प्रियता का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, "सारे देश में कोई जीव-हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, यहां तक कि लोग प्याज और लहसुन भी नहीं खाते.... इस देश में सुअर और मुर्गियां नहीं पाली जातीं, पशुओं का क्रय-विक्रय नहीं होता,

यहां के बाजारों में मांस बेचने वालों की दुकानें नहीं हैं और न शराब ही निकाली जाती है।" समाज में भिक्षुओं का सम्मान था और सब जगह लोग शयनासन, भोजन और वस्त्र से उनका आतिथ्य करते थे।

इसके बाद फाहियान ने क्रमशः संकाश्य (कपिथ), कन्नौज (कन्याकुब्ज–कुबड़ी कन्याओं का प्रदेश) और साकेत या अयोध्या (शा-कि) की यात्रा की। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली और पाटलिपुत्र भी वह गया। मगध देश की फाहियान ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है, "मध्य मंडल के सब देशों में मगध में ही सबसे अधिक विशाल नगर और कस्बे हैं। इसके आदमी बड़े धनवान और समृद्ध हैं और हृदय की उदारता तथा अपने पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्य–पालन में एक–दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं।" मगध के निवासियों को भी मूर्तियों के जुलूस निकालते फाहियान ने देखा था। उसने वहां के दातव्य औषधालयों का भी बड़ी प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। नालंदा, राजगृह, गया, वाराणसी और उसके समीप ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ) तथा कौशांबी की भी फाहियान ने यात्रा की और इन सबका विशद वर्णन किया। कौशांबी के घोचिरवन (घोषिताराम) में जिस समय वह था, उसने दक्षिण भारत के पारावत नामक विहार के बारे में सुना, जिसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

वाराणसी से फाहियान पाटलिपुत्र लौट आया। किस प्रकार उसने बौद्ध धर्म संबंधी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त कीं, इसका विवरण फाहियान ने दिया है, जो काफी रोचक है। साधारणतः बौद्ध शास्त्र मौखिक परंपरा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चले आ रहे थे, परंतु श्रावस्ती के एक महायानी संघाराम में फाहियान को एक हस्तलिखित प्रति मिली। फाहियान का कहना है कि यह प्रति बुद्ध-उपदेशों के उस पाठ के अनुसार थी जिसकी स्वीकृति प्रथम महासंगीति के अवसर पर की गई थी और जिसका प्रयोग भगवान बुद्ध के जीवन-काल में भी भिक्षु करते थे। फाहियान का यह कहना आधुनिक विद्वानों को स्वीकार नहीं हो सकता। फाहियान ने तीन वर्ष संस्कृत (या पालि) लिखने और बोलने के सीखने में तथा विनय की प्रतिलिपि करने में बिताए। फिर वह चंपा होता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हुआ तमलुक (ताम्रलिप्ति) चला गया और वहां भी उसने दो वर्ष सूत्रों की अनुलिपि करने तथा मूर्तियों के चित्र खींचने में बिताए।

एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान तमलुक से सिंहल के लिए चल दिया जहां वह चौदह दिन में पहुंचा। सिंहल में फाहियान दो वर्ष तक ठहरा और इस बीच वह चीन में अज्ञात संस्कृत ग्रंथों का संग्रह और उनकी अनुलिपि करता रहा। सिंहल में निवास करते समय फाहियान को अपने घर की बुरी तरह याद आने लगी। चीन से चले उसे कई वर्ष हो गए थे। उसके कुछ साथी पीछे रह गए थे या मर गए थे। वह अकेलापन अनुभव कर रहा था। एक दिन जब एक व्यापारी को उसने अनुराधपुर के अभयगिरि विहार में भगवान बुद्ध की मूर्ति के सामने श्वेत रेशम से बने एक चीनी पंखे को अर्पित करते देखा तो वह अपनी भावनाओं को रोक नहीं सका और उसकी आंखों में आंसू आ गए। फाहियान ने सिंहल के विहारों, दंतधातु-महोत्सव, मिहिंतले और सामान्यतः सिंहली बौद्ध धर्म का एक आकर्षक चित्र हमें दिया है।

सिंहल से पुनः एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान अपने देश चीन की ओर चल पड़ा। रास्ते में दो दिन की यात्रा के बाद एक बड़ा तूफान आया जो तेरह दिन तक चलता रहा। एक बार तो यहां तक नौबत आई कि फाहियान को भय होने लगा कि कहीं नाविक उसकी पुस्तकों और मूर्तियों को समुद्र में न फेंक दें। परंतु सौभाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। जहाज में एक छेद का पता लगा जिसे एक टापू के पास बंद कर दिया गया। इसके बाद एक और भयंकर तूफान आया, परंतु 90 दिन की यात्रा के बाद फाहियान का जहाज सुरक्षित रूप से जावा पहुंच गया। यहां फाहियान उतर गया और पांच महीने तक इस द्वीप में ठहरा। इस समय जावा में ब्राह्मण धर्म समृद्ध अवस्था में था और बौद्ध धर्म की अवस्था संतोषजनक नहीं थी। एक दूसरे व्यापारिक जहाज में बैठकर और उतनी ही भयंकर यात्रा के बाद फाहियान चीन के चिंग-चाउ नामक स्थान में पहुंचा जहां एक जाड़ा और एक गर्मी बिताने के बाद वह चीन की राजधानी नानकिंग में पहुंचा और जिन सूत्रों और विनय को वह भारत से ले गया था, उन्हें धर्म-गुरुओं को उसने अर्पित कर दिया।

फाहियान ने चीन के छाङ् आन् प्रांत से भारत के मध्य-देश तक की यात्रा में छह वर्ष बिताए। छह वर्ष तक ही वह भारत में ठहरा। उसके बाद तीन वर्ष में वह चिंग-चाउ पहुंचा। करीब तीस देशों के बीच में होकर वह अपनी यात्रा में गुजरा। उसने अपने व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं दिया और न उसके बारे में कभी सोचा। गहन कांतारों और पर्वत-श्रेणियों को उसने पार किया और भयंकर सामुद्री यात्राएं कीं, केवल इस उद्देश्य के लिए कि वह अपने देश के लोगों को बौद्ध धर्म का संदेश सुना सके। त्रिरत्न के अनुभाव से उसकी रक्षा हुई और संकट के क्षणों में वह बचा लिया गया। जिन अनुभवों के बीच होकर वह गुजरा, उनका विवरण उसने बांस के फलकों और रेशम पर इसलिए लिखा कि सौम्य पाठक भी इस सूचना में अपने भाग को प्राप्त कर सके।

युआन-च्वांग

युआन-च्वांग का जन्म सन् 602 ई० में लो-यंग में हुआ। जब वह आठ वर्ष का ही था, उसने कन्फ्यूशियन धर्म के विधि-विधान के पालन से अपने पिता को आश्चर्यान्वित कर दिया। उससे यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अनेक पूर्वजों की भांति परंपरावादी ढंग का प्रसिद्ध साहित्यकार बनेगा। परंतु जब उसके बड़े भाई ने बौद्ध भिक्षु की दीक्षा ले ली तो उससे प्रभावित होकर युआन-च्वांग ने भी तेरह वर्ष की अवस्था में ही लो-यंग के बौद्ध विहार में जाकर पंचशील ग्रहण कर लिया। उसने भारतीय दर्शन का अध्ययन शुरू किया और शीघ्र ही उसकी जटिलताओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् 617 में चीन में राजनैतिक अव्यवस्था फैल गई, जिसके परिणामस्वरूप युआन-च्वांग को स्पु-चुआन के पर्वतों में शरण लेनी पडी। इस बीच उसका बौद्ध धर्म का अध्ययन चलता रहा और उस पर प्रवचन भी वह देने लगा, जिसके कारण उसकी पर्याप्त ख्याति हो गई। सन् 626 ई० में छाङ्-आन् (आधुनिक सि-अम-फु) उसके कार्य का केंद्र बन गया। यह नगर नए राजवंश की राजधानी था और उस समय चीन में बौद्ध धर्म का केंद्र था। यहां रहते हुए युआन-च्वांग के मन में बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों और सिद्धांतों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

को देखकर शंकाएं आने लगीं। उन्होंने संकल्प किया कि वे भारत जाकर वहां के ज्ञानी पुरुषों से मिलेंगे और अपनी शंकाओं का समाधान करेंगे।

उन्होंने इस उद्देश्य से चीन से प्रस्थान करने की सम्राट से अनुमति मांगी, परंतु वह नहीं मिली। संकल्प के पक्के इस छब्बीस वर्षीय भिक्षु ने इसकी परवाह न करते हुए और आगे आने वाले भयों से न डरते हुए गुप्त यात्रा शुरू कर दी। रात में वह यात्रा करता और दिन में छिपा रहता। सीमांत के एक किले के पास उस पर किसी ने तीर का निशाना लगाया, परंतु वह बाल-बाल बच गया। बिना किसी की सहायता के और प्रत्येक संकट की उपेक्षा करते हुए युआन-च्वांग ने अकेले रेगिस्तान को पार किया और वह ह-मि पहुंचा जहां तुर्फान (जो उस समय कओचंग कहलाता था) के राजा की ओर से, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था, उसे निमंत्रण मिला।

तुर्फान गोबी के रेगिस्तान के मध्य में स्थित है। आज वह निष्प्राण है, परंतु उन दिनों वहां जीवन का स्पंदन था। जनता बौद्ध थी और समृद्ध आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन बिताती थी। तुखारी भाषा की एक उपभाषा बोली जाती थी। वहां का शासक चु-वेन-तइ (620-640 ई०) चीनी वंश का था। वह तुर्की खान के अधीन था और चीनी सम्राट से भी उसके संबंध थे। उसका निमंत्रण वस्तुतः आदेश ही था और चीनी यात्री को करीब-करीब बलपूर्वक ही तुर्फान ले जाया गया। चु-वेन-तइ श्रद्धालु बौद्ध होते हुए भी कुछ अपरिष्कृत स्वभाव का आदमी था। हालाकि युआन-च्वांग का उसने अत्यंत आदरपूर्वक आतिथ्य किया, परंतु उसकी योजना यह थी कि वह युआन-च्वांग को अपने दरबार में ही धर्म-गुरुओं का प्रधान बनाकर रख ले। उसने युआन-च्वांग से कहा, "मैं आपको यहां रखने का आग्रह करता हूं ताकि मैं आपकी वंदना कर सकूं। पामीर के पर्वत को अपनी जगह से हटाना आसान है, परंतु मेरे निश्चय को डिगाना कठिन है।" युआन-च्वांग ने वीरतापूर्वक उत्तर दिया, "सद्धर्म के उद्देश्य के लिए मैं आया हूं। राजा केवल मेरी हड्डियों को ही रख सकेगा। मेरी आत्मा या इच्छा-शक्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है।" इस संकल्प के साथ युआन-च्वांग ने राजा के द्वारा भेजे गए भोजन

को छुआ तक नहीं। तब राजा को चिंता हुई और उसने युआन-च्वांग की बात मान ली। युआन-च्वांग ने एक मास और वहां ठहरना स्वीकार कर लिया। इस बीच उन्होंने राजा के दरबार में धर्मोपदेश दिए। एक मास की समाप्ति पर राजा ने न केवल चीनी यात्री को सम्मानपूर्वक विदा किया, बल्कि उसके मार्ग पर पड़ने वाले सभी राज्यों के राजाओं के लिए परिचय-पत्र भी दिए। एक परिचय-पत्र तुर्की खान को भी दिया जिसका आदेश भारत के दरवाजों तक चलता था। इस प्रकार युआन-च्वांग का पद अब एक साधारण तीर्थ-यात्री के रूप में न रह गया, बल्कि उसे एक राजकीय महत्त्व मिला और भारत तक अपने मार्ग में वह जहां कहीं गया, उसे शानदार ढंग से सब आवश्यक वस्तुएं मिलती गईं।

तुर्फान से चलकर युआन-च्वांग कड़ा-शहर पहुंचा, जो एक तुखारी-भाषी नगर था। यहां उस समय दस संघाराम थे, जहां हीनयान मत के दो हजार भिक्षु निवास करते थे। एक रात यहां ठहरकर युआन-च्वांग कूचा (सं० कुची) पहुंचा जो उस समय मध्य-एशिया का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था। इसकी भौतिक समृद्धि और उच्च सभ्यता से युआन-च्वांग बहुत बहुत प्रभावित हुआ। बीसवीं शताब्दी में जो पुरातत्व-संबंधी खोजें यहां हुई हैं, उनसे बहुत से ऐसे दृश्य सामने आए हैं जिनमें युआन-च्वांग ने भाग लिया होगा। कूचा गोबी के रेगिस्तान में एक नखलिस्तान जैसा था और इसके शासकों को योद्धा होना अनिवार्य था, क्योंकि यह नगर चारों ओर से तुर्क-मंगोलों से घिरा हुआ था। कूचा की गद्दी पर इस समय पर तुखारी शासक बैठा हुआ था जिसका नाम सुवर्णदेव था, जो सुवर्णपुष्प का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसके राज्य में 5,000 भिक्षु थे जिन्हें वह सब प्रकार का संरक्षण देता था। चीन के तंग-वंशीय सम्राट से भी उसके कूटनीतिक संबंध थे। हीनयान मत के भिक्षुओं से यहां युआन-च्वांग के शास्त्रार्थ हुए। इस समय कूचा में गोक्षगुप्त नामक एक वृद्ध संत रहते थे जिनके साथ युआन-च्वांग के अच्छे संबंध हो गए। बुरे मौसम के कारण चीनी यात्री को कूचा में दो या तीन मास ठहरना पड़ा। जब उसने वहां से प्रस्थान किया तो राजा ने उसे नौकर, ऊंट और घोड़े, एक पूरा काफिला दे दिया और राजा के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

साथ भिक्षु तथा अन्य धार्मिक नागरिक-गण युआन-च्वांग को विदाई देने के लिए नगर की बाहरी सीमा तक आए।

कूचा छोड़ने के दो दिन बाद युआन-च्वांग पर डाकुओं ने आक्रमण किया और फिर वह तिएन-शन के ढलाव पर स्थित हिम-नदी पर आया, जिसका उसने चित्रमय वर्णन किया है। आगे चलते हुए चीनी यात्री इस्सिककुल (गर्म झील) के पास आया, जहां उस समय पश्चिमी तुर्कों का खान तंबू डाले पड़ा था। यह सन् 630 ई० की बात है। खान धार्मिक संस्कृति से रहित नहीं था और बौद्ध धर्म की ओर उसका झुकाव था, क्योंकि पचास वर्ष पूर्व उसके पूर्वजों को गंधार के एक जिनगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु से शिक्षा मिल चुकी थी। खान ने युआन-च्वांग का सत्कारपूर्वक आतिथ्य किया और 'शुद्ध भोजन' खिलाया, अर्थात चावल की रोटियां, मलाई, दूध, चीनी, शहद और किशमिशें। भोजन के बाद युआन-च्वांग ने उसे धर्म का उपदेश किया, जिसके बाद खान ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि धर्म के उपदेश को वह श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। खान ने भी युआन-च्वांग को अपने पास रोकना चाहा, परंतु जब यह संभव नहीं हुआ तो उसने उसे उसकी भारत तक की यात्रा में अपना राजकीय संरक्षण दिया, जिसके कारण युआन-च्वांग पामीर और बैक्ट्रिया के दर्रों को आसानी से पार कर सका।

युआन-च्वांग का आगे का पड़ाव समरकंद (प्राचीन मरकंद) में पड़ा, जो व्यापारिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण नगर था, क्योंकि वहां भारत और चीन के काफिलों के मार्ग मिलते थे। यहां के लोग जरथुस्त्र धर्म और बौद्ध धर्म के बीच विचलित होते रहते थे। युआन-च्वांग की इस नगर की यात्रा से तुर्क-ईरानी राज्य में बौद्ध धर्म को प्रकर्ष मिला। उसने यहां एक सभा की जिसमें अनेक भिक्षुओं को दीक्षित किया गया और पूजा के लिए अनेक प्राचीन विहारों का पुनरुद्धार किया गया।

समरकंद से यात्रा करता हुआ चीनी यात्री कठिन पर्वत-मार्गों को पार करने के बाद पश्चिमी तुर्क-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर पहुंचा। वंसु नदी को पार कर युआन-च्वांग ने बैक्ट्रिया में प्रवेश किया, जो उस समय तर्दुशद के शासन में थी, जो तुर्कों के एक बड़े खान का पुत्र था।

तर्दुशद का विवाह तुर्फान के राजा की बहन से हुआ था, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था। बैक्ट्रिया में बौद्ध धर्म का प्रचार संभवतः अशोक के धर्म-प्रचारकों द्वारा किया गया था। बैक्ट्रिया की राजधानी बलख थी। बलख और बैक्ट्रिया में उस समय अनेक विहार थे जहां हीनयानी भिक्षु निवास करते थे। यहां के प्रज्ञाकर नामक एक विद्वान भिक्षु का उल्लेख युआन-च्वांग ने किया है, जिसके साथ सत्संग का उन्होंने लाभ उठाया था। आगे चलकर युआन-च्वांग ने हिंदूकुश को पार किया और वह बामियान पहुंचा, जिसके दृश्य का उसने सही वर्णन किया है। इस समय बामियान में दस बौद्ध विहार थे जिनमें कई हजार भिक्षु रहते थे। युआन-च्वांग ने दो विशाल बुद्ध मूर्तियों का भी उल्लेख किया है, जिनकी ऊंचाई क्रमशः 52 और 35 मीटर थी।

बामियान से चलकर 2,745 मीटर ऊंचे शिबर दर्रे को पार कर युआन-च्वांग कपिश (काबुल के उत्तर में आधुनिक बेगराम गांव) पहुंचा जो उस समय एक समृद्ध व्यापारिक नगर था। शिखर दर्रे को पार करते हुए युआन-च्वांग को डाकुओं का सामना करना पड़ा। कपिस में उस समय एक बौद्ध राजा राज्य करता था जो महायान में श्रद्धावान था। यहां युआन-च्वांग ने विभिन्न बौद्ध संप्रदायों की सभा की, जो पांच दिन तक चलती रही। सन् 630 में युआन-च्वांग लंपक होते हुए जलालाबाद (प्राचीन नगरहार) पहुंचा। यहां उसने प्रथम बार भारतीय भूमि पर पैर रखा और उसे जलवायु तथा निवासियों के स्वभाव में एक विशेष अंतर दिखाई पड़ने लगा। गंधार में गत छह शताब्दियों से प्रबल ग्रीक-रोमन प्रभाव में बौद्ध कला विकसित हो रही थी और वह बौद्ध धर्म का द्वितीय पवित्र स्थान माना जाता था। पेशावर उस समय हूणों के आक्रमणों के कारण नष्ट-भ्रष्ट अवस्था में था। करीब दस लाख बौद्ध विहार भग्न अवस्था में पड़े थे और वहां कोई नहीं रहता था। स्तूप भी टूटी-फूटी अवस्था में पड़े थे। उद्यान या उड्डियान देखने भी युआन-च्वांग गया, जिसे हूणों ने गंधार से भी अधिक नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। किसी समय यहां 1,400 विहार और 18,000 भिक्षु थे। जनता अब भी प्रायः बौद्ध थी और हीनयान तथा महायान दोनों ही प्रचलित थे, परंतु महायान का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप तांत्रिक होता जा रहा था। उड्डियान और गंधार से प्रस्थान करने के बाद युआन-च्वांग ने उदभंड या उदकखंड के समीप सिंधु नदी को पार किया और तक्षशिला में प्रवेश किया। यहां भी उसने हूणों द्वारा विनष्ट अनेक बौद्ध विहार देखे। यहां से कुछ समय के लिए युआन-च्वांग कश्मीर गया, जहां उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार था। यहां इस समय एक सौ बौद्ध विहार और 5,000 भिक्षु थे तथा लोगों को अशोक और कनिष्क की स्मृतियां प्रिय थीं। कश्मीर के राजा ने अपनी राजधानी प्रवरपुर (श्रीनगर) में युआन च्वांग का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। यहां युआन-च्वांग ने एक सत्तर वर्षीय महायानी भिक्षु के दर्शन किए जिनसे उन्होंने विज्ञानवाद की विशुद्ध परंपरा के संबंध में बहुत-सी बातें सीखीं। युआन-च्वांग ने मई सन् 631 से लेकर अप्रैल सन् 633 ई० तक अर्थात पूरे दो वर्ष कश्मीर में बिताए और इस बीच उन्होंने वहां बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया और अपने साथ ले जाने के लिए अनेक सूत्रों और शास्त्रों की प्रतिलिपियां भी करवाईं।

कश्मीर से चलकर युआन-च्वांग पहले साकल (स्यालकोट) में रुका जो पूर्व काल में ग्रीक राजा मिनांदर और हूण अत्याचारी शासक महिरकुल (या मिहिरकुल) की राजधानी रहा था और जहां युआन-च्वांग से दो शताब्दी पूर्व तेजस्वी दार्शनिक वसुबंध ने भी निवास किया था। स्यालकोट से चीनी यात्री व्यास नदी के बाएं किनारे पर स्थित चीनभुक्ति नामक स्थान पर आया जहां उसे माध्यमिक मत में निष्णात एक वृद्ध ब्राह्मण मिला जिसके साथ सत्संग करते हुए उसने एक महीना एक गांव में गुजारा। चीनभुक्ति में युआन-च्वांग एक वर्ष तक ठहरा और सन् 634 की वर्षा में वह जालंधर पहुंचा। यहां से चीनी यात्री मथुरा आया जो उस समय बौद्ध कला के लिए प्रसिद्ध थी। मथुरा से यमुना की ओर ऊपर जाते हुए वह कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणेश्वर भी गया। उसके बाद चीनी यात्री कपिथ (प्राचीन संकाश्य) गया, जहां से वह कन्याकुब्ज (कन्नौज) गया, परंतु इस समय उसकी राजा हर्ष से भेंट नहीं हुई क्योंकि राजा पूर्व में गया हुआ था। बाद में हर्ष युआन-च्वांग का परम मित्र और संरक्षक हो गया। युआन-च्वांग ने हर्ष के व्यक्तित्व और शासन की

प्रशंसा की है। अयोध्या को देखने के बाद जब चीनी यात्री गंगा के किनारे-किनारे प्रयाग जा रहा था तो रास्ते में उसे ठगों ने पकड़ लिया और दुर्गा को उसे बलि देने का प्रयत्न किया, परंतु किसी प्रकार युआन-च्वांग की जान बची। प्रयाग में उस समय बौद्ध धर्म की अवस्था अच्छी नहीं थी। प्रयाग से चीनी यात्री ने कौशांबी जाकर वहां भगवान बुद्ध के स्मृति–चिन्हों को देखा।

प्रयाग में युआन-च्वांग ने भगवान बुद्ध के जन्म-स्थान की यात्रा करने का संकल्प किया। इसलिए वह वहां से उत्तर की ओर चल पड़ा और श्रावस्ती (सहेट-महेट) होता हुआ कपिलवस्तु और लुंबिनी-वन पहुंचा। इसके बाद रामग्राम और कुशीनगर (कसिया) भी चीनी यात्री गया। यहां से लौटते हुए चीनी यात्री वाराणसी आया, जहां से वह उत्तर में वैशाली (बसाढ़) गया। वैशाली से पाटलिपुत्र और वहां से बोधगया चीनी यात्री दर्शनार्थ गया। नालंदा महाविहार के भी युआन-च्वांग ने दर्शन किए। इस समय वहां दस हजार भिक्षु थे जो सब महायान के अनुयायी थे। युआन-च्वांग 15 महीने ठहरा। योगाचार-सिद्धांतों और संस्कृत का उसने यहां विस्तृत अध्ययन किया। यहीं से राजगृह के दर्शनार्थ भी चीनी यात्री गया। नालंदा से प्रस्थान कर युआन-च्वांग ने सन् 638 का वर्ष बंगाल और चंपा में बिताया, जिसके बाद वह ताम्रलिप्ति पहुंचा, जहां से उसने हीनयान बौद्ध धर्म के अध्ययनार्थ श्रीलंका की समुद्री यात्रा करने का विचार किया, परंतु भिक्षुओं के परामर्श के अनुसार उसने समुद्री यात्रा नहीं की और उड़ीसा, महाकोशल, आंध्र और तेलुगु प्रदेश में होते हुए कांचीपुरम् पहुंचा जहां उसे पता चला कि सिंहल में राजनैतिक अशांति चल रही है। इसलिए उसने सिंहल जाने का विचार छोड़ दिया और उत्तर की ओर चलते हुए उसने भरुकच्छ (भड़ौंच) और वलभी की यात्रा की। सिंध और मुल्तान की यात्रा के बाद युआन-च्वांग फिर नालंदा में ठहरने के लिए लौट आया। कामरूप (असम) के राजा भास्कर वर्मा के निमंत्रण पर वह उसके दरबार में भी गया, जिसके बाद हर्ष से उसकी भेंट हुई। हर्ष के द्वारा बुलाई गई सभाओं में, जो कन्नौज और प्रयाग में हुईं, युआन-च्वांग ने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भाग लिया। इन सभाओं का विस्तृत विवरण युआन-च्वांग ने दिया है। कन्नौज से प्रस्थान कर जालंधर और तक्षशिला होते हुए युआन-च्वांग अपने पूर्व मार्ग से ही नगरहार पहुंचा जहां एक विहार में निवास करने के पश्चात् उसने सन् 644 में हिंदूकुश को पार किया और काशगर, यारकंद और खोतान की यात्रा करते तथा कुछ समय के लिए तुङ-ह्वान विहार में विश्राम करते हुए सन् 645 ई० में छाङ्-आन पहुंचा जहां राजधानी के राज-पदाधिकारियों और भिक्षुओं ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। सम्राट ने उसे बिना अनुमति जाने के अपराध के लिए न केवल क्षमा कर दिया, बल्कि उसका इस बात के लिए अभिनंदन भी किया कि सबके कल्याण के लिए उसने अपने जीवन को इतने संकट में डाला। सम्राट ने मंत्री बनने के लिए युआन-च्वांग के सामने प्रस्ताव रखा, जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। शेष जीवन युआन–च्वांग ने एक बौद्ध भिक्षु की ही तरह एक विहार में बिताया जिसे सम्राट ने विशेषतः उनके लिए बनवाया था। यहां भारत से ले जाए गए 600 ग्रंथों के चीनी अनुवाद का काम स्वयं और अन्य अनुवादक़ों की सहायता से करना शुरू किया। अनुवाद कार्य और धर्मोपदेश करते हुए इस महान साधक चीनी भिक्षु ने, इस बात की अभिज्ञा के साथ कि उसने एक अच्छा और सोद्देश्य जीवन बिताया है, सन् 664 ई० में शांतिपद निर्वाण में प्रवेश किया।

इ-त्सिंग

जब युआन-च्वांग भारत की यात्रा के बाद पहुंचा, उस समय इ-त्सिंग दस वर्ष का बालक था, परंतु उसने बौद्ध भिक्षु के जीवन की तैयारी कर ली थी। चौदह वर्ष की अवस्था में उसने भिक्षु-संघ में प्रवेश कियां। यद्यपि उसने सन् 652 ई० में ही भारत की यात्रा करने का संकल्प कर लिया था, परंतु सन् 671 ई० अर्थात अपनी 37 वर्ष की अवस्था में ही वह अपनी इच्छा को कार्यरूप में परिणत कर सका। इ-त्सिंग 25 वर्ष तक अर्थात् सन् 671 से लेकर सन् 695 ई० तक अपने देश के बाहर रहा और इस बीच उसने 30 से अधिक देशों की यात्रा की। सन् 695 ई० में वह चीन लौटा। अपने साथ 400 ग्रंथों को वह भारत से चीन ले गया

था। इनमें से 56 ग्रंथों का उसने स्वयं चीनी भाषा में अनुवाद किया। सन् 713 ई० में 79 साल की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

इ-त्सिंग ने अपनी भारत-यात्रा दोनों ओर से समुद्री मार्ग द्वारा की। उसके यात्रा-विवरणों में यद्यपि युआन-च्वांग के समान वैज्ञानिक रुचि और विविधता नहीं हैं, परंतु मानवीय तत्व की अधिकता है। भारत के अलावा उसने सुमात्रा, श्रीविजय (आधुनिक पलेमबंग) और मलाया की भी यात्रा की सन् 673 ई० में वह ताम्रलिप्ति में उतरा और तदुपरांत मगध में यात्रा करता हुआ बोधगया आया जहां उसने बोधि-वृक्ष की पूजा की। दस वर्ष उसने सद्धर्म का अध्ययन करते हुए और ग्रंथों का संग्रह करते हुए नालंदा में बिताए। ताम्रलिप्ति के मार्ग से ही उसने सन् 685 ई० में भारत से प्रस्थान किया। श्रीविजय पहुंचकर वहां उसने चार वर्ष संस्कृत के अध्ययन में बिताए जिसके बाद एक बार वह चीन जाकर फिर श्रीविजय लौट आया और अंत में सन् 695 ई० में चीन लौट गया, जहां सम्राट और नागरिकों की ओर से उसका उसी प्रकार सम्मान किया गया जैसा युआन-च्वांग का किया गया था।

इ-त्सिंग ने लिखा है कि कोरिया के अनेक भिक्षुओं ने भी मध्य-एशिया के मार्ग से और समुद्री मार्ग से भारत की यात्रा की थी, परंतु यात्रा की कठिनाइयों के कारण वे भारत में ही मर गए और कभी अपने देश वापस नहीं पहुंचे। इ-त्सिंग ने चीन से भारत आने वाले यात्रियों के लिए सिफारिश की है कि उन्हें भारत में प्रवेश करने से पूर्व श्रीविजय में अपनी संस्कृत की शिक्षा पूरी कर लेनी चाहिए। वस्तुतः इस युग में हिंद-चीन और हिंदेशिया में भारतीय संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक था और विचारों, पुस्तकों तथा कलाकृतियों का निरंतर आदान-प्रदान भारत, सिंहल, जावा, कंबोडिया, चंपा और चीन के कांटन प्रदेश के बीच चलता रहता था।

इस प्रकार एशिया के इतिहास के इस प्रकाशवान युग में महान तंग-वंशीय इन चीनी तीर्थ-यात्रियों ने अपनी यात्राओं और धार्मिक ग्रंथों के अनुवादों से सुदूर पूर्व को भारत के साथ एक प्रेम-सूत्र में बांध दिया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध कला का संक्षिप्त पर्यवेक्षण

भगवान बुद्ध के अनुयायी अधिकतर व्यापारी वर्ग के थे, इसलिए उन्होंने विशाल स्तूप और चैत्य बनवाए, जैसे कि सांची और भरहुत मध्य-भारत में, अमरावती और नागार्जुनकोंडा दक्षिण-भारत में और कार्ले तथा भाजा पश्चिमी भारत में। भिक्षु और भिक्षुणी संघ की रचना भगवान बुद्ध की करुणा का परिणाम थी। ये भिक्षु और भिक्षुणियां अक्सर देश में चारिकाएं करते रहते थे। जैसे जैसे इनकी संख्या बढ़ती गई, गृहस्थ उपासकों ने, जिनमें अशोक अग्रणी था, उनके लिए चैत्य, स्तूप और विहार बनवाने शुरू किए। अनेक गुफा मंदिर शांत और सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में बनवाए गए, जैसे महाराष्ट्र में कार्ले, कान्हेरी, भाजा और अजंता में। चित्रकला और मूर्तिकला का भी उपयोग तथागत के गौरव और उनके जीवन की महत्ता को दिखाने के लिए किया गया और इसी उद्देश्य से जातक कथाएं और अन्य कहानियां भी कलाकृतियों के रूप में अंकित की गई।

तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर तृतीय शताब्दी ईसवी तक के समय में बौद्ध कला और संस्कृति का विस्मयकारी विकास हुआ। अनेक स्तूप और चैत्य इस युग में बनाए गए जिनमें भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाओं को भी अंकित किया गया। बौद्ध कला को धर्म से प्रेरणा मिली। बौद्ध विहारों की मूर्ति-कला संबंधी समृद्धि यह दिखलाती है कि

धर्म का अर्थ कर्मकांड या सिद्धांत ही नहीं है, बल्कि वह एक अंतर्हित आध्यात्मिक गुण है जो किसी न किसी प्रकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। भारत के उत्तर-पश्चिम में यूनान और रोम के प्रभाव के कारण एक मिश्रित कला का विकास हुआ और एक पूर्ण बौद्ध लाक्षणिक निदर्शन की गंधार नाम से विवृति की गई।

बौद्ध कला में स्तूप

बौद्धों के लिए पूजा की श्रेष्ठतम वस्तुएं त्रि-रत्न अर्थात बुद्ध, धर्म और संघ हैं। इनके अलावा बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और अर्हतों और चक्रवर्तियों के धातुओं पर बनाए गए स्मारक भी हैं। इन धातुओं को हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं: (1) शारीरिक, (2) उद्देशिक, और (3) पारिभोगिक।

परंपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के प्राचीनतम शारीरिक धातु वे बाल थे जो व्यापारी-उपासक तपस्सु और भल्लिक को दिए गए थे और जिन पर उन्होंने अपने देश उड़ीसा में एक चैत्य बनवाया था।

मुख्य 'शारीरिक' धातु वे माने जाते हैं जो मृत्यु के बाद जलाने से बचते हैं। जब भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण मल्लों के देश में हो गया, तो राजगृह के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, पावा के मल्ल, कुशीनगर के मल्ल, रामग्राम के कोलिय और वेठ द्वीप के एक ब्राह्मण, इन सब लोगों ने भगवान के धातुओं को आठ भागों में बांट लिया और उन पर क्रमशः राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा, कुशीनगर, रामग्राम और वेठ द्वीप में स्तूप बनवाए। इनके अलावा पिप्पलिवन के मौर्यों तथा द्रोण नामक एक ब्राह्मण ने भी भगवान की धातुओं के कुछ अंशों पर स्तूप बनवाए। इनके अलावा भगवान के तीन दंत धातुओं का भी उल्लेख है, जिसमें से एक की पूजा स्वर्ग में होती है, एक की गंधार देश में और एक कलिंग देश में नागों द्वारा पूजा जाता है। भगवान के एक दंत-धातु के कलिंग की राजधानी दंतपुर में ले जाए जाने की भी कथा है।

भगवान बुद्ध और अन्य अर्हतों द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पात्र, लकड़ी, वृक्ष आदि की भी पूजा की जाती है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि इन स्मारकों की पूजा कब आरंभ हुई, परंतु इतना असंदिग्ध है कि मध्य-युग से पूर्व इस प्रकार की पूजा उत्तर और दक्षिण दोनों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। फाहियान ने पेशावर में बुद्ध के भिक्षा-पात्र को देखा था। भगवान बुद्ध के काषाय वस्त्र और संघाटी जैसे अन्य स्मारकों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। पालि ग्रंथ 'दीपवंस' में न केवल भगवान बुद्ध बल्कि उनके पूर्ववर्ती बुद्धों की भी प्रयुक्त वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। चीनी यात्री युआन-च्वांग ने भगवान बुद्ध द्वारा छोड़ी गई छाया का भी उल्लेख किया है, जिसके दर्शन उसने कौशांबी, गया और नगर में किए थे। इसी प्रकार भगवान बुद्ध द्वारा छोड़े गए पद-चिन्ह भी पूजे जाते हैं।

'चैत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'चिता' से है। चिता की अवशिष्ट किसी भी वस्तु पर जो स्मारक खड़ा किया जाए, वह चैत्य कहलाता है। इस प्रकार के स्मारक बुद्ध-पूर्व काल में भी खड़े किए जाते थे। पारिभाषिक अर्थों में चैत्य से अर्थ एक टीले से होता है, जिसमें किसी महापुरुष की हड्डियां, राख, दांत या बाल जैसी कोई वस्तु रखी गई हो। इस प्रकार यह एक पूजा-स्थान भी होता है। स्तूप का अर्थ भी एक टीला होता है, या साधारणतः जो कोई भी वस्तु उठाई जाए, या स्थापित की जाए, वह स्तूप कहलाती है।

स्तूप को कभी-कभी दगोबा भी समझ लिया जाता है, परंतु वस्तुतः दगोबा स्तूप का वह एक भाग होता है जहां स्मृतिचिन्ह रखे जाते हैं। सभी स्तूपों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वहां स्मृतिचिन्ह रखे ही जाएं। केवल किसी पूज्य स्थान पर ही स्मृति-स्वरूप स्तूप बना दिए जाते थे। भगवान बुद्ध ने जहां वाराणसी के समीप धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था और जहां 500 प्रत्येक-बुद्धों में निर्वाण प्राप्त किया था, वहां दो स्तूपों की स्थापना की गई थी।

प्राचीनतम स्तूपों के नमूने सांची और भरहुत में हैं। इनके आधार वृत्तात्मक या वर्गाकार हैं और इनके चारों ओर कहीं पाषाण-वेष्टनियां हैं और कहीं नहीं भी हैं। ईंटों का बना प्राचीनतम स्तूप पिपरावा का है जो नेपाल की सीमा पर है। इसका निर्माण संभवतः 450 ई०पू० में किया

गया। इस स्तूप से यह प्रकट होता है कि प्रस्तरों की स्थापत्य-कला से पूर्व ईंटों का प्रयोग किया जाता था।

सांची का स्तूप बौद्ध कला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कहा जाता है कि तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व में अशोक ने इसका निर्माण करवाया। एक शताब्दी बाद इसमें कुछ परिवर्द्धन किए गए। इसकी पाषाण-वेष्टनियां इसी प्रकार के परिवर्द्धनों में हैं। सांची का स्तूप सुमेरु पर्वत को अभिव्यक्ति करता है और उसके प्रत्येक भाग का अभिव्यंजनात्मक अर्थ है। पहले सांची के स्तूप में केवल एक ही छत्र था, परंतु बाद में उनकी संख्या में वृद्धि कर दी गई, जिससे उसका आकार एक प्रासाद के समान हो गया हौर गुंबज की लंबाई बढ़ गई। इसी प्रकार की बात हमें नेपाल के स्वयंभूनाथ-चैत्य और अनुराधपुर के थूपाराम दगोबा (246 ई० पूर्व) में देखने को मिलती है। जावा के बोरोबुदूर और बर्मा के मिंग्युन स्तूपों की सांची के स्तूप से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्तूप-निर्माण-कला विकास करते हुए उस अवस्था में पहुंची जब स्तूप सीढ़ियों के समान अनेक भागों से युक्त प्रासाद या मीनार के आकार में बनाए जाने लगे। सिंहल के पोलोन्नरुवा नामक स्थान में स्थित महल-प्रासाद इसका एक उदाहरण है।

प्रस्तर-मूर्तियां और कांस्य-मूर्तियां

पत्थर और कांसे की बनी मूर्तियां भारत में केवल कला की वस्तुएं ही नहीं, बल्कि धार्मिक पूजा की आलंबन भी मानी जाती रही हैं। आज उनका महत्त्व पुरातत्व और प्रतिमा-विद्या की दृष्टि से भी हो गया है, परंतु फिर भी उनका प्रभाव अधिकतर उनकी सौंदर्य-शक्ति के कारण ही है। तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व में भारतीय मूर्तिकला ने अनेक महिमाशाली रूप प्राप्त किए। सारनाथ का सिंह-शीर्ष तथा रामपुरवा का पाषाण-वृषभ अपने ओज और अभिव्यक्ति के कारण मौर्ययुगीन मूर्तिकारी की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां माने जाते थे। इनके अलावा परखम और पटना में प्राप्त यक्ष तथा दीदारगंज (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) में प्राप्त यक्षिणी की मूर्तियां अपने आकार और रूप के कारण अत्यंत महिमाशालिनी हैं,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यद्यपि उनकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति उतनी विशद नहीं है। मौर्य-युग के लोक-जीवन को अभिव्यक्ति करने वाली कांस्य-मूर्तियां अभी प्राप्त नहीं हुई हैं। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में भारतीय कला के इतिहास में एक गहन क्रियाशीलता का युग शुरू हुआ। बौद्ध धर्म के प्रभाव-स्वरूप इस युग में सांची, भरहुत, अमरावती और नागार्जुनकोंडा की समृद्ध मूर्तिकारी का जन्म हुआ। अमरावती और उसके पड़ोस में भगवान बुद्ध की कांसे की बनी हुई कुछ मूर्तियां मिली हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी ईसवी से पूर्व का नहीं हो सकता। दूसरी शताब्दी के बाद धातु की बनी बुद्ध-मूर्तियां भी काफी लोकप्रिय हुई और काफी संख्या में मिलती हैं। यद्यपि धातुओं से मूर्ति बनाने की कला अत्यंत प्राचीन है, परंतु इस प्रकार की बनी मूर्तियां प्रथम शताब्दी ईसवी से पूर्व की नहीं मिलतीं। इस युग की कुछ छोटी मूर्तियां उत्तर में तक्षशिला और दक्षिण में अमरावती में मिली हैं।

प्रथम शताब्दी ईसवी में मूर्तिकला का एक जानदार और सर्जक संप्रदाय मथुरा में चल पड़ा जिसका पूर्ण विकास गुप्त-युग (चौथी-पांचवीं शताब्दी ईसवी) में हुआ। गुप्त-युग संपूर्ण भारतीय कला का ही स्वर्ण-युग माना जाता है। मथुरा, सारनाथ और बिहार की बुद्ध मूर्तियां इस पूरे युग के आदर्शों की प्रतिनिधि स्वरूप हैं। आध्यात्मिक आभा से इन मूर्तियों के मुख प्रकाशित हैं और उनके प्रसन्न वदन और नमित अवलोकन सब प्राणियों के प्रति बुद्ध की करुणा को प्रकट करने में समर्थ हैं। गुप्त-युग की कांस्य-मूर्तियां पाषाण-मूर्तियों के समान ही कलापूर्ण हैं, जैसे कि बिहार राज्य के सुलतानगंज (पांचवीं शताब्दी ईसवी) में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति, जो आज बरमिंघम आर्ट गैलरी में है और इसी प्रकार सिंध के मीरपुर-खास स्तूप से प्राप्त ब्रह्मा की मूर्ति। आठवीं शताब्दी ईसवी से धातु-निर्मित मूर्तियां अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगी। पाल-वंश (नौवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक) की धातु-मूर्तियां, जो बिहार राज्य में नालंदा और कुर्किहार से प्राप्त हुई हैं, अपने रूप के परिष्कार और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। नालंदा का प्रभाव

बौद्ध कला की दृष्टि से भी अत्यंत महान रहा है। जावा, सुमात्रा, नेपाल और बर्मा तक उसने कलाकृतियों के द्वारा बौद्ध संस्कृति के संदेश को भेजा है।

बौद्ध कांस्य-मूर्तियां दक्षिण में, विशेषतः तंजावूर जिले में, कुछ मात्रा में मिली हैं, जिनका समय दसवीं शताब्दी ईसवी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी ईसवी तक है। अमरावती, नालंदा और नागपट्टिनम् की बौद्ध मूर्तियों के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि कहां तक भारतीय कला ने बर्मा, थाईलैंड, मलाया, सुमात्रा, जावा और हिंद-चीन की कला को प्रभावति किया है।

चित्रकला

जातकों में और अन्य बौद्ध साहित्य में चित्रकला संबंधी अनेक निर्देश मिलते हैं। बौद्ध कला के प्राचीनतम अवशेष हमें अजंता के चैत्य-भवन में मिलते हैं, जिनका समय द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व है। गुप्त-काल (पांचवी-छठी शताब्दी ईसवी) में बौद्ध चित्रकला का विकास हुआ। इस युग के सर्वोत्तम उदाहरण हमें बाघ (मध्य प्रदेश) और अजंता में मिलते हैं। इनमें बुद्ध के जीवन-संबंधी तथा जातक-कथाओं संबंधी अनेक चित्र मिलते हैं, जो अपने शांत, विरागमय और कोमलता तथा भाव-गांभीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं।

एशिया के अन्य देश

बौद्ध कला का एशिया पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि सहजता से उसकी किसी अन्य से तुलना नहीं की जा सकती। बौद्ध कला का भारत और एशिया में निर्बाध विकास अध्ययन का एक आकर्षक विषय है। भारत के प्राचीनतम ऐतिहासिक स्मारक सामान्यतः बौद्ध ही हैं और राजवंशों के सतत संरक्षण में जो महान स्मारक निर्मित किए गए, वे धार्मिक श्रद्धावान पुरुषों के लिए ही नहीं, बल्कि विश्व के समस्त कला-निर्णायकों के लिए भी आदर की वस्तु हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्राट अशोक के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि विदेशी राज्जाओं से उसके संबंध थे। इसलिए यह माना जा सकता है कि संभवतः उसके स्तंभों के शीर्ष-भाग पर पारसी प्रभाव पड़ा हो। मथुरा के क्षत्रपों के समय में और कुषाण युग में भारत की आदि कला-शैलियों और विदेशी कला-शैलियों का सम्मिश्रण हुआ। कुषाण-कला की मूर्तियों पर शक्तिशाली गंधार प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अफगानिस्तान के बेगराम स्थान में हाथीदांत पर उत्कीर्ण जो कलाकृतियां मिली हैं, उनकी मथुरा से प्राप्त प्रथम और द्वितीय शताब्दी ईसवी की कुषाण मूर्तियों से आश्चर्यजनक समानता है। शृंगार-सज्जा का दृश्य भी अद्भुत कलाकृति है और सांची के इस संबंधी चित्रण के समान ही है। ग्रीक-रोमन परंपराओं का प्रभाव गंधार-कला पर पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप बुद्ध और बोधिसत्वों की कुछ सर्वोत्तम मूर्तियों का निर्माण किया गया। मानवीय रूप में भगवान बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियां गंधार-कला की ही हैं जो कम से कम मथुरा और अमरावती की देशी प्रणालियों की समकालीन अवश्य थीं। यहां शास्ता को मानवीय सौंदर्य के साथ चित्रित किया गया है, ग्रीक देवता अपोलो के शारीरिक सौंदर्य के अनुकरण पर। यहां उनके वस्त्रों पर जो सिकुड़नें दिखाई गई हैं वे भी ग्रीक-रोमन मूर्तिकला की एक विशेषता ही हैं। गंधार-कला के कलाकारों ने शारीरिक अंगों के चित्रण में बड़ी दक्षता का परिचय दिया है। गंधार-कला की एक मूर्ति बुद्ध के क्षीणकाय रूप में भी मिली है, जो लाहौर के संग्रहालय में रखी हुई है। गंधार-कला की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वहां बुद्ध के अंगरक्षक के रूप में वज्रपाणि को चित्रित किया गया है, जिसकी कल्पना का आधार ग्रीक वीर हरकुलीज़ है। बामियान (अफगानिस्तान) में पूर्ववर्ती गंधार-कला के आधार पर दो विशाल बुद्ध-मूर्तियां निर्मित की गईं जिनका काल तीसरी और चौथी शताब्दी ईसवी है। इन 52 और 35 मीटर ऊंची दो बुद्ध मूर्तियों को युआन-च्वांग ने अपने मार्ग में देखा था। एक पहाड़ी को काटकर ये मूर्तियां बनाई गई थीं, जिनके चारों ओर का करीब डेढ़ किलोमीटर का प्रवेश बौद्ध विहारों और चैत्यों से घिरा हुआ था। उत्तरकालीन गंधार-कला की यह एक

विशाल सृष्टि है। फोंदुकिस्तान (अफगानिस्तान) में भी बुद्ध और बोधिसत्वों की कुछ मूर्तियां मिली हैं, जो असाधारण रूप से सुंदर है और जिन पर कुशलता से काम किया गया है।

चीनी-तुर्किस्तान और जावा में हारीति का चित्रण किया गया है जो माता के वात्सल्य की प्रतीक है। कूचा-प्रदेश के किज़िल स्थान में एक चित्र बुद्ध-जीवन संबंधी मिला है। नेपाल के दो प्राचीनतम स्तूप शंभुनाथ और बोधिनाथ हैं। तिब्बत का ग्यन त्से स्तूप जावा के बोरोबुदूर स्तूप की याद दिलाता है।

नेपाल और तिब्बत में बौद्ध धर्म नालंदा से गया था, अतः पालवंशीय कला का इन दोनों देशों की कला पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। अनेक बुद्ध और बोधिसत्वों का चित्रण इस प्रकार इन देशों में किया गया है, यथा ध्यानी बुद्ध, मानुषी बुद्ध, भैषज्य बुद्ध, मैत्रेय बुद्ध आदि। तारा, मारीचि, लोकपाल और जंभाल जैसे अनेक देवी-देवताओं के भी चित्रण किए गए हैं। आचार्य पद्मसंभव और अतिश जैसे भारतीय महापंडितों के चित्र भी तिब्बती कला में अंकित किए गए हैं।

बौद्ध कला के कुछ अत्यंत विस्मयकारी स्मारक श्रीलंका में पाए जाते हैं। प्राचीन काल की एक महत्वपूर्ण बुद्ध-मूर्ति ध्यान-मुद्रा में हमें अनुराधपुर में देखने को मिलती है। सिंहली कला की एक अद्भुत कृति ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की महापरिनिर्वाण मुद्रा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति है। यह मूर्ति सिंहल के पोलोन्नरुवा स्थान में पाई गई है। सिगिरिय में प्राप्त अप्सराओं आदि के चित्र पल्लव चित्रकला से गहरे रूप से संबद्ध और प्रभावित हैं। अनुराधपुर का थूपाराम दगोबा सिंहली स्तूप-रचना का एक अति उत्तम उदाहरण है।

बर्मा के प्रचीनतम स्तूप सादे और भारतीय ढंग के हैं। पेगन का दसवीं शताब्दी ईसवी का नगक्ये-नदौन स्तूप सारनाथ के धमेक-स्तूप की शैली का है। उत्तरी बर्मा का क्वांग मुदाउ स्तूप सांची के स्तूप से काफी समानता रखता है। पेगन के पूर्वी पेतलेक पेगोडा में जातक की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहानियों से अनेक चित्र अंकित किए गए हैं। नागार्जुनकोंडा में भी इसी प्रकार के चित्र पाए जाते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध की एक तूफान में नाग मुचलिंद ने रक्षा की थी। इस दृश्य का अंकन स्याम में बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। त्रायस्त्रिंश लोक से संकाश्य में भगवान बुद्ध के उतरने के दृश्य को भी स्याम के कलाकारों ने अनेक प्रकार से चित्रित किया है।

जावा में शैलेंद्रों के युग में, अर्थात आठवीं शताब्दी ईसवी से लेकर दसवीं शताब्दी ईसवी तक, बौद्ध कला का सर्वाधिक विकास हुआ। भारत के पाल और चोल वंश के राजाओं से शैलेंद्र नरेशों का सतत संबंध रहा। जावा की कला यद्यपि भारतीय कला से ही मूलतः उत्पन्न थी, फिर भी उसने विकसित होकर स्वयं नालंदा और नागपट्टिनम् की कला को प्रभावित किया। चंडी मेंदुत के मंदिर में बुद्ध भगवान बोधिसत्वों से घिरे चित्रित किए गए हैं। जावा की यह एक सुंदर कलाकृति है। बोरोबुदूर स्तूप के समीप भगवान बुद्ध के जीवन और विभिन्न जातकों से चित्र उपस्थित किए गए हैं, जो अपने कलात्मक सौंदर्य के लिए विख्यात हैं। बोरोबुदूर का स्तूप अद्भुत सौंदर्य का स्मारक है और उसकी रचना श्रीचक्र के नमूने पर सर्वतोभद्र शैली में हुई है। इस स्तूप का महान अभिव्यंजनात्मक महत्व है, क्योंकि इसमें सुमेरु पर्वत की रचना के साथ कर्म के शुभाशुभ परिणामों की भी मूर्तिबद्ध अभिव्यक्ति की गई है। जहाज का तो मूर्तिबद्ध निदर्शन इतना सुंदर कहीं किया ही नहीं गया। जावा के सिंगसारी नामक स्थान में प्रज्ञापारमिता की एक मूर्ति मिली है जो बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी ईसवी की है। इस देवी की यह मूर्ति विश्व की संभवतः श्रेष्ठतम मूर्ति है। धातुओं की बनी हुई कई बुद्ध–मूर्तियां भी जावा में मिली हैं, जिनमें एक पद्मपाणि बोधिसत्व की चांदी की मूर्ति भी है, जो जकार्ता के संग्रहालय में रखी हुई है।

भारत से बाहर बौद्ध कला ने मूर्तिकारी की एक समृद्ध रचना की

है जिसके कई विशिष्ट नमूने भारत में अपनी तुलना नहीं रखते। मूर्तिकारों ने अपनी श्रेष्ठ कलाकृतियों में जिस विशाल कल्पना-शक्ति और विचार का परिचय दिया है, उसके कारण वे विश्व के विद्वानों और कला-निर्णायकों के ध्यान तथा आदर की वस्तु बन गई हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध महत्व के स्थान

उत्तरी भारत

गौतम बुद्ध भारत-भूमि में अपने पद-चिन्ह और संपूर्ण मानव-जाति की आत्मा पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। इस मानवीय शिक्षक ने स्वर्गीय देवताओं को भी निष्प्रभ कर दिया और जिन स्थानों को उसने अपनी विद्यमानता से पवित्र किया, वे पूजा के महान स्थान बन गए। भगवान बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व कहा था कि श्रद्धावान आर्य श्रावक को इन चार स्थानों का वैराग्य की वृद्धि हेतु दर्शन करना चाहिए। वे चार स्थान हैं– (1) लुंबिनीवन, जहां तथागत का जन्म हुआ, (2) बोधगया, जहां उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया, (3) ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ), जहां उन्होंने प्रथम धर्मोपदेश दिया, और (4) कुशीनगर, जहां उन्होंने अनुपाधिशेष निर्वाण में प्रवेश किया।

उपर्युक्त चार स्थानों के अतिरिक्त चार अन्य स्थान हैं, जो बौद्ध धार्मिक साहित्य में अत्यंत पवित्र माने गए हैं। वे हैं — बुद्धकालीन कोसल देश की राजधानी श्रावस्ती, संकाश्य, मगध की राजधानी राजगृह और लिच्छवियों की वैशाली। उपर्युक्त आठों स्थान मिलाकर बौद्ध साहित्य में ही 'अट्ठमहाठानानि' या आठ महास्थान कहलाते हैं।

लुंबिनी

लुंबिनी में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्थान की आधुनिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

स्थिति रुम्मिनदेई है जो नेपाल की तराई में स्थित है। भगवान बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण इसका महत्त्व बढ़ा और कई विहार आदि यहां स्थापित किए गए, जिनमें आज कोई विद्यमान नहीं है। हां, अशोक का स्तंभ अवश्य विद्यमान है, जिस पर अंकित अभिलेख से हमें पता लगता है कि सम्राट अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बाद बीसवें वर्ष में इस स्थान की यात्रा की थी। अशोक के इस अभिलेख पर ये शब्द अंकित हैं, "यहां भगवान बुद्ध पैदा हुए थे।" इससे असंदिग्ध रूप से भगवान बुद्ध के जन्म-स्थान की पहचान हो जाती है। अशोक स्तंभ के अलावा यहां एक प्राचीन चैत्य भी है, जिसमें एक मूर्ति पर भगवान बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है।

बोधगया

बोधगया में भगवान बुद्ध ने सम्यक संबोधि प्राप्त की थी। यह स्थान हिंदुओं के तीर्थ-स्थान गया से करीब दस किलोमीटर दक्षिण में स्थित है। श्रद्धालु बौद्धों के लिए इस स्थान से अधिक पवित्र स्थान और कोई दूसरा नहीं है। अनेक विहार, चैत्य और स्मारक इस स्थान के चारों ओर स्थापित किए गए हैं और चीनी यात्री युआन-च्वांग ने इसका जो वर्णन किया है, उससे पता लगता है कि इसका अतीत कितना वैभवशाली रह चुका है।

युआन-च्वांग के वर्णनानुसार मूल बोधि चैत्य की स्थापना अशोक ने की थी। अशोक के एक शिलालेख में भी सम्राट के द्वारा की गई 'संबोधि' की यात्रा का उल्लेख है। इस 'संबोधि' स्थान से तात्पर्य बोधगया से ही हो सकता है। संभव है अशोक ने इस स्थान पर कोई चैत्य बनवाया हो, परंतु आज हमें उसके कोई चिन्ह नहीं मिलते। युआन-च्वांग के वर्णन से जान पड़ता है कि आज जिस आकार और शक्ल में यह मंदिर विद्यमान है, ठीक उसी आकार और शक्ल में यह सातवीं शताब्दी ईसवी में भी विद्यमान था। महाबोधि मंदिर करीब 49 मी. ऊंचा है और उसमें भूमि-स्पर्श मुद्रा में भगवान बुद्ध की एक मूर्ति स्थापित है। मंदिर के चारों ओर अन्य अनेक स्मारक हैं, जो

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बुद्धत्व-प्राप्ति के समय और उससे कुछ दिन बाद के, भगवान बुद्ध के जीवन की घटनाओं से संबद्ध हैं।

सारनाथ

सारनाथ में भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया, इसलिए इसे बौद्ध धर्म के जन्म का सूचक मानना चाहिए। यह धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान है। इसलिए शिलालेखों में इसका निर्देश 'सद्धर्मचक्र-प्रवर्तन-विहार' के नाम से किया गया है। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में सारनाथ का नाम ऋषिपतन मृगदाव (इसिपतन मिगदाय) था। इसके प्रारंभिक इतिहास का पता नहीं लगता। अशोक के समय से इसकी अधिक प्रसिद्धि हुई। अशोक ने यहां कई स्मारक स्थापित किए, जिनमें प्रसिद्ध अशोक-स्तंभ, जिसके शीर्ष-भाग पर चार सिंह-मूर्तियां अंकित हैं, एक अद्भुत कलाकृति है। चारों दिशाओं में निर्भीकतापूर्वक शांति और सद्भावना के बुद्ध-संदेश की घोषणा का यह प्रतीक है। पांचवीं और सातवीं शताब्दी ईसवी में क्रमशः फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की और इसके विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण दिए हैं। परवर्ती युग में भी इस स्थान पर अनेक विहार और चैत्य आदि बनवाए गए और पुरानों की मरम्मत होती रही। बारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कन्नौज के राजा गोविंदचंद्र की रानी कुमारदेवी ने यहां एक विहार भगवान बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन के स्मारक के रूप में बनवाया था। सारनाथ के भग्नावशेष एक काफी लंबे क्षेत्र में फैले हैं। वाराणसी से सारनाथ की ओर आने पर सारनाथ के समीप जो एक ऊंचा भग्न स्तूप दिखाई पड़ता है, जिसे आजकल चौखंडी कहते हैं, वह स्थान है जहां भगवान बुद्ध को, जब वे गया से सारनाथ को जा रहे थे, प्रथम बार पंचवर्गीय भिक्षु मिले थे, जिन्हें उन्होंने बाद में अपने धर्म में दीक्षित किया। सारनाथ के भग्नावशेषों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण धमेक-स्तूप है जो उस स्थान को सूचित करता है जहां भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। आस-पास की भूमि से यह स्तूप करीब 46 मीटर ऊंचा है। पुरातत्व की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामग्री, जो तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर बारहवीं शताब्दी ईसवी तक के विस्तृत युग के विभिन्न स्तरों से संबंध रखती है, सारनाथ के भग्नावशेषों से प्राप्त हुई है। धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा

में बलुआ पत्थर की बनी भगवान बुद्ध की मूर्ति जो यहां मिली है, भारतीय रूपंकर कला की एक अद्वितीय कृति ही है।

कुशीनगर

कुशीनगर या कुसिनारा भगवान बुद्ध की परिनिर्वाण-भूमि है। यहीं के शाल-वन में अस्सी वर्ष की अवस्था में भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था। इस स्थान की पहचान आजकल के उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में स्थित कसिया नामक स्थान से की गई है। अन्य बौद्ध तीर्थ-स्थानों की तरह कुशीनगर भी भगवान बुद्ध के जीवन-काल के बाद तीर्थ-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया और यहां अनेक विहारों और चैत्यों का निर्माण किया गया। फाहियान और युआन-च्वांग ने कुशीनगर को उजड़ी हुई अवस्था में देखा था। कुशीनगर में स्थित परिनिर्वाण-चैत्य गुप्तकाल में निर्मित किया गया। अशोक ने भी यहां एक स्तूप बनवाया था। कुशीनगर में 'माथा कुंवर का कोट' नामक स्थान में भगवान बुद्ध की परिनिर्वाण-प्राप्ति की शैयासीन स्थिति में एक भव्य मूर्ति मिली है। कुशीनगर में 'रामाभार' नामक स्थान उस स्थिति को सूचित करता है जहां भगवान बुद्ध का दाह-संस्कार किया गया था और उनके फूलों के आठ भाग किए गए थे।

श्रावस्ती

श्रावस्ती (आधुनिक सहेट–महेट) प्राचीन कोसल देश की राजधानी थी। यहां भगवान बुद्ध ने अपना सबसे बड़ा ऋद्धि-प्रदर्शन किया था, जिसका चित्रण बौद्ध कला में प्रारंभिक युग से किया गया है। श्रावस्ती के प्रसिद्ध सेठ अनाथपिंडिक ने यहां भगवान बुद्ध और भिक्षु-संघ के निवास के लिए प्रसिद्ध 'जेतवन–विहार' या जेतवनाराम बनवाया था।

सहेट-महेट दो अलग स्थान हैं जो भग्नावशेषों पर स्थित हैं। इनमें महेट जो बड़ा है और जिसका क्षेत्रफल करीब 400 एकड़ है, श्रावस्ती नगर की स्थिति को सूचित करता है और सहेट जिसका क्षेत्रफल करीब 32 एकड़ है, प्राचीन जेतवन-विहार है। यहां भगवान बुद्ध की एक विशाल मूर्ति और उनकी धातुओं के कुछ अंश भी मिले हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

संकाश्य

संकाश्य (आधुनिक संकिसा-बसतपुर, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश) में भगवान बुद्ध त्रायस्त्रिंश लोक से उतरे थे। यहां भी प्राचीन काल में अनेक बौद्ध विहार, चैत्य और स्मारक निर्मित किए गए। फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की और इन दोनों चीनी यात्रियों ने इसके संबंध में मनोरंजक विवरण दिए हैं।

राजगृह

राजगृह (आधुनिक राजगिर, पटना जिले में) मगध राज्य की राजधानी था, जिसका बौद्धों के लिए अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। यहां भगवान बुद्ध ने अनेक बार वर्षावास किया और यहीं देवदत्त ने उनकी जान लेने का भी प्रयत्न किया। इसी नगर के वेभार पर्वत की सप्तपर्णी (सत्तपण्णी) गुफा में भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद प्रथम बौद्ध संगीति हुई। अनेक प्राचीन स्थानों की खोज राजगिर के भग्नावशेषों में की जा सकती है। जरासंध की बैठक को कुछ विद्वानों ने पिप्पल का निवास-स्थान माना है। कुछ पालि ग्रंथों में प्रथम संगीति के संयोजक महाकाश्यप के निवास-स्थान को पिप्पल-गुहा कहा गया है। गृध्रकूट पर्वत, जहां भगवान बुद्ध अक्सर निवास करते थे, राजगृह के समीप ही है।

वैशाली

लिच्छवियों की राजधानी वैशाली (आधुनिक बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) प्रारंभिक युग में बौद्धों का एक प्रधान केंद्र थी। भगवान बुद्ध अपने जीवन-काल में इस नगरी में तीन बार गए। यहीं भगवान बुद्ध ने यह घोषणा की थी कि तीन मास बाद वे महापरिनिर्वाण में प्रवेश करेंगे। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद लिच्छवियों ने उनके धातुओं में से प्राप्त अपने भाग पर एक स्तूप का निर्माण वैशाली में किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण के करीब सौ वर्ष बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई थी। 'राजा विशाल का गढ़' नामक स्थान, जो बसाढ़ में है, वैशाली के प्राचीन गढ़ को संभवतः सूचित करता है। फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की। युआन-च्वांग ने इस नगर का विस्तार करीब 26 या 31 वर्ग किलोमीटर बताया है और उसके अंदर पाए जाने वाले असंख्य स्मारकों का उल्लेख किया है। राजा विशाल के गढ़ से तीन किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में कोल्हुआ नामक स्थान है, जहां बलुआ पत्थर का एक स्तंभ है जो आस-पास की सतह से 6.7 मीटर ऊंचा है। यह अशोक की शैली का स्तंभ है परंतु इस पर अशोक का कोई अभिलेख नहीं है। संभवतः यह उन कई अशोक-स्तंभों में से ही है जिनका उल्लेख युआन-च्वांग ने किया है। इसके समीप दक्षिण में 'रामकुंड' नामक एक कुंड है जिसे कनिंघम ने प्राचीन 'मर्कटह्रद' माना है, जिसे बंदरों ने भगवान के उपयोग के लिए खोदा था। इसके उत्तर में एक भग्न टीला है जिसे युआन-च्वांग द्वारा देखे गए अशोक-स्तूप की स्थिति माना गया है।

उपर्युक्त आठ स्थानों के अतिरिक्त अन्य ऐसे स्थानों का नामोल्लेख कर देना भी यहां अनावश्यक न होगा, जहां बौद्ध विहार, चैत्य तथा अन्य स्मारक पाए गए हैं। इस प्रकार के स्थानों में सांची, तक्षशिला, कौशांबी और नालंदा जैसे स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सांची

सांची (बंबई से 880 किलोमीटर) का संबंध गौतम बुद्ध के जीवन से नहीं है और न उसका अधिक उल्लेख ही प्राचीन बौद्ध साहित्य में हुआ है। चीनी यात्रियों ने भी उसके संबंध में कुछ नहीं कहा है। फिर भी यह निश्चित है कि प्रारंभिक बौद्ध कला की सर्वोत्तम निधियां हमें सांची में ही मिलती हैं। सांची के स्मारकों का आरंभ अशोक के युग से हुआ। सांची के बड़े स्तूप का व्यास 30.5 मीटर है। अपने मौलिक रूप में इसे अशोक के काल में ईंट से बनवाया गया था। बाद में इसके आकार को दुगुना किया गया। अशोक द्वारा की गई बोधगया की यात्रा का एक शिल्पांकन सांची के बड़े स्तूप में पाया जाता है। अन्य कई छोटे स्तूप यहां हैं। अग्र श्रावक धर्म-सेनापति सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन के धातुओं के अवशेष सांची में ही मिले थे, जो वहां आज एक नव-निर्मित विहार में स्थापित किए गए हैं।

तक्षशिला (टैक्सिला) आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान में है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवान बुद्ध के जीवन काल में यह एक प्रसिद्ध स्थान था, जहां दूर-दूर से विद्यार्थी शिल्पों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। कौशांबी भगवान बुद्ध के जीवन काल में वत्स-राज्य की राजधानी थी। यहां प्रसिद्ध घोषिताराम विहार था। कौशांबी की पहचान आधुनिक कोसम गांव के रूप में की गई है, जो इलाहाबाद जिले में यमुना नदी के किनारे पर स्थित है।

नालंदा

नालंदा (राजगिर के समीप आधुनिक बड़गांव) उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के इतिहास में एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गया। भगवान बुद्ध ने इस स्थान की अनेक बार यात्रा की और अशोक के समय से ही यहां संघाराम आदि बनने शुरू हो गए, परंतु जो भग्नावशेष यहां मिले हैं वे प्रायः गुप्तकाल तक के ही हैं। युआन-च्वांग ने कुछ समय नालंदा महाविहार में रहकर अध्ययन किया था और उसने इस विहार का विस्तृत वर्णन किया है। पांचवीं शताब्दी ईसवी से लेकर बारहवीं शताब्दी ईसवी तक नालंदा विश्वविद्यालय के महावैभवशाली दिन थे और एक शिक्षा-केंद्र के रूप में वह संपूर्ण बौद्ध जगत में प्रसिद्ध था। चीनी यात्री इ-त्सिंग ने भी नालंदा के भिक्षुओं के जीवन का वर्णन किया है। आचार्य शीलभद्र, शांतरक्षित और अतिश (दीपंकर) जैसे अनेक तेजस्वी विद्वानों का निवास-स्थान नालंदा महाविहार कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म के प्रकाश को चारों दिशाओं में विकीर्ण करता रहा।

पश्चिमी भारत

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सौराष्ट्र में बौद्ध धर्म का प्रवेश कब हुआ। परंतु वहां अशोक के समय से पूर्व बौद्ध धर्म का किसी न किसी रूप में प्रचार अवश्य था। जूनागढ़ के समीप गिरनार में अशोक का एक शिलालेख मिला है, जिससे प्रकट होता है कि सौराष्ट्र में इसी समय व्यापक रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया।

गिरनार

जूनागढ़ में गिरनार के समीप अशोक का शिलालेख प्राप्त हुआ है,

यह हम ऊपर कह चुके हैं। युआन-च्वांग ने सातवीं शताब्दी ईसवी में जूनागढ़ की यात्रा की थी। युआन-च्वांग के वर्णनानुसार उस समय यहां कम से कम 50 विहार थे जिनमें स्थविरवाद संप्रदाय के तीन हजार भिक्षु निवास करते थे। जूनागढ़ के आस-पास कई गुफाएं हैं जो तीन मंजिलों तक की हैं, परंतु इनमें किसी अभिलेख की प्राप्ति नहीं हुई है।

धांक

जूनागढ़ से 48 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम और पोरबदर से 11 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में धांक नामक स्थान है, जहां चार सादी गुफाएं पाई गई हैं। इनमें अनेक उत्तरकालीन पौराणिक मूर्तियां हैं। मंजुश्री के नाम पर एक कुआं भी है।

सिद्धसर

धांक से कुछ किलोमीटर दूर पश्चिम में सिद्धसर है जहां कई गुफाएं हैं जो बौद्ध दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

तलाजा

भावनगर से 48 किलोमीटर दक्षिण में तलाजा नामक स्थान है जो किसी समय एक महान बौद्ध केंद्र था। यहां 36 गुफाएं और एक कुड है। संभवतः ये गुफाएं अशोक के युग के कुछ ही बाद की हैं।

सान्हा

तलाजा से दक्षिण-पश्चिम में सान्हा की 62 गुफाएं हैं। ये सादे ढंग की हैं और इनमें चित्रकारी आदि नहीं पाई जाती।

वलभी

छठी शताब्दी ईसवी के बाद सौराष्ट्र में वलभी, जो आज भावनगर से 35 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित है, बौद्ध धर्म का केंद्र हो गई। सन् 640 ई० में युआन-च्वांग ने इसकी यात्रा की। उस समय यहां 100 विहार थे जिनमें साम्मितीय संप्रदाय के 6,000 भिक्षु रहते थे। उस समय एक विद्या-केंद्र के रूप में वलभी की ख्याति केवल नालंदा के बाद थी और स्थिरमति और गुणमति जैसे प्रख्यात आचार्य यहां निवास करते थे। सातवीं और आठवीं शताब्दी ईसवी के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ताम्रपत्र-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वलभी के मैत्रक शासकों ने पंद्रह बौद्ध विहारों को भूमि दान की थी। ये विहार वलभी के राजवंश के सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा बनवाए गए थे।

कांपिल्य

गुजरात में नवसारी के समीप कांपिल्य नामक स्थान का बौद्ध महत्त्व है। गुजरात के राष्ट्रकूट वंश के दंतिवर्मा (867 ई०) नामक राजा का एक ताम्रपत्र-अभिलेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि स्थविर स्थिरमति के आदेश से इस राजा ने पुरावी (आधुनिक पूर्णा, सूरत जिले में) नदी में स्नान कर कांपिल्य-विहार को भूमि दान की थी। इस विहार में उस समय सिंधु देश के संघ के पांच सौ भिक्षु रहते थे। राष्ट्रकूट राजा धारावर्ष के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सन् 884 ई० में इसी प्रकार का भूमि-दान इस विहार के लिए किया था। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानी आक्रमण से त्रस्त होकर बौद्ध संघ सिंधु देश से यहां आ गया था, क्योंकि यह स्थान पहले से ही बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। यहां आकर उन्होंने कांपिल्य-विहार की स्थापना की थी, जिसके संबंध में पहले कहा जा चुका है।

अशोक के काल से ही बौद्ध धर्म महाराष्ट्र में लोकप्रिय हो गया था। पश्चिमी महाराष्ट्र के सह्याद्रि पर्वत में अनेक बौद्ध गुफाएं पाई जाती हैं, जिनमें कहीं-कहीं चित्रकारी भी की गई है। चट्टानों को काटकर गुफाएं बनाने की स्थापत्य-कला के लिए महाराष्ट्र के जो स्थान प्रसिद्ध हैं उनमें भाजा, कोंडाणे, पितलखोरा, अजंता, बेदसा, नासिक, कार्ले, कान्हेरी और एलोरा (वेरूल) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

भाजा

भाजा में द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व का प्राचीनतम बौद्ध चैत्य-भवन पाया जाता है।

कोंडाणे

कोंडाणे की बौद्ध गुफाएं भाजा की गुफाओं से कुछ बाद की हैं।

पितलखोरा

पितलखोरा की बौद्ध गुफाओं में सात विचित्र अभिलेख मिले हैं, जिनमें

कुछ भिक्षुओं के नाम भी अंकित हैं।

अजंता

अजंता में विभिन्न आकार की 29 गुफाए हैं। इनके भित्ति-चित्र भारत की ही नहीं, विश्व की अन्यतम कलाकृतियों में हैं।

बेदसा

बेदसा का चैत्य-भवन कमशेत स्टेशन से साढ़े छह किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में हैं।

नासिक

प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी ईसवी तक की 23 गुफाएं नासिक में हैं। छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी में इनमें से कई को महायानी रूप दिया गया।

जुन्नर

जुन्नर में करीब 130 गुफाएं पाई जाती हैं। ऐसा लगता है कि यहां प्राचीन काल में पश्चिमी भारत का सबसे बड़ा बौद्ध संघाराम था।

कार्ले

कार्ले का चैत्य-भवन सामान्यत भाजा के समान ही है। एक अभिलेख में इसे चट्टान काटकर बनाया गया जबुद्वीप का सर्वश्रेष्ठ प्रासाद कहा गया है।

कान्हेरी

कान्हेरी में प्राचीन काल में एक विशाल बौद्ध संघाराम था। यहां एक सौ से अधिक बौद्ध गुफाएं पाई गई हैं, जिनका काल दूसरी शताब्दी ईसवी से लेकर आज तक है।

गोआ

कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी ईसवी में गोआ में और उसके आस-पास बौद्ध धर्म का प्रचार था।

कर्नाटक

अशोक के समय से ही कर्नाटक में बौद्ध धर्म का प्रभाव स्थापित हो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया था। सातवाहन राजाओं के समय में भी यहां अनेक विहारों का निर्माण किया गया।

दक्षिणी भारत

जिस प्रकार महाराष्ट्र चट्टान से काटकर बनाई गई स्थापत्य-कला के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार आंध्र अपने विशाल बौद्ध स्तूपों के लिए प्रसिद्ध है। अशोक के काल में आंध्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया। कृष्णा नदी की दक्षिणी घाटियों और गोदावरी के बीच के प्रदेश में अनेक विशाल बौद्ध विहारों का निर्माण समृद्ध व्यापारियों के द्वारा किया गया। अमरावती और नागार्जुनकोंडा के स्तूप, जो गुंटूर जिले में हैं और भट्टिप्रोलु, जगय्यपेट्ट, गुसिवाडा और घंटिशाल के स्तूप जो कृष्णा जिले में हैं, दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व और तीसरी शताब्दी ईसवी के बीच निर्मित किए गए। इस प्रदेश का सबसे प्राचीन स्तूप भट्टिप्रोलु स्तूप है जो दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व बनाया गया। इस बात के प्रमाण हैं कि यह एक महास्तूप था, जिसमें भगवान बुद्ध की धातुओं का अंश प्रतिष्ठापित किया गया था।

अमरावती

अमरावती गुंटूर के 26 किलोमीटर पश्चिम में स्थित है। आंध्र राज्य में सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्थान यही है। अमरावती का स्तूप विशालतम और प्रसिद्धतम है। इसका प्रथम निर्माण द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व किया गया था, परंतु 150-200 ई० में नागार्जुन के प्रयत्नों से इसका परिवर्द्धन किया गया। बुद्ध के जीवन के अनेक चित्र इसकी पाषाण वेष्टनियों पर अंकित किए गए हैं। कलात्मक सौंदर्य और विशालता में अमरावती के स्तूप की तुलना उत्तर के सांची और भरहुत के स्तूपों से की जा सकती है। मूर्तिकला के गंधार और मथुरा के संप्रदायों की भांति अमरावती का मूर्तिकला-संप्रदाय भी बड़ा प्रभावशाली था। इसके द्वारा निर्मित कलाकृतियां श्रीलंका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों तक गईं।

नागार्जुनकोंडा

नागार्जुनकोंडा के स्तूप की खोज बीसवीं सदी में हुई। गुंटूर जिले में

कृष्णा नदी के किनारे यह स्थित है। संभवतः अशोक के समय में इसका निर्माण किया गया। बाद में तीसरी शताब्दी में इसका पुनः निर्माण और परिवर्द्धन किया गया। नागार्जुनकोंडा के समीप अन्य अनेक स्थानों में काफी बड़ी संख्या में बौद्ध स्तूप बनाए गए हैं।

नागपट्टम्

मद्रास के समीप नागपट्टम् में चोलों के समय में एक बौद्ध विहार था, ऐसा हमें ग्यारहवीं शताब्दी के एक अभिलेख से मालूम होता है। आचार्य धम्मपाल ने नेत्ति-पकरण की अपनी अट्ठकथा में इस स्थान का उल्लेख किया है और कहा है कि इसी के धर्माशोक विहार में रहकर उन्होंने अपनी वह अट्ठकथा लिखी।

श्रीमूलवासम्

पश्चिमी घाट के श्रीमूलवासम् नामक स्थान में इसी नाम के राजा के शासनकाल में एक बौद्ध संघाराम था। तंजौर के मंदिर में बुद्ध के जीवन से संबंधित चित्र अंकित किए गए हैं।

कांची

दक्षिण में कांची एक प्रसिद्ध बौद्ध केंद्र था, जहां एक राज-विहार और सौ अन्य बौद्ध विहार थे। इस नगर के समीप पांच बुद्ध-मूर्तियां भी मिली हैं। प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाचार्य बुद्धघोष ने मनोरथ-पूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की रचना कांचीपुरम् में अपने मित्र जोतिपाल के साथ निवास करते हुए उनकी प्रार्थना पर की थी। युआन-च्वांग ने भी कांची के धर्मपाल नामक एक प्रसिद्ध आचार्य का उल्लेख किया है जो नालंदा में शिक्षक थे। चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक कांचीपुरम् बौद्ध धर्म का एक केंद्र बना रहा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म में उत्तरकालीन परिवर्तन

हिंदू धर्म के प्रति दृष्टिकोण

भगवान बुद्ध और उनके समकालीन ब्राह्मणों के संबंध अत्यंत सौहार्दपूर्ण थे, इसे श्रीमती रायिस डेविड्स ने अच्छी प्रकार दिखाया है। उन्होंने ठीक ही निर्दिष्ट किया है कि भगवान बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति में समाई हुई ब्रह्म की सत्ता के सिद्धांत का विरोध नहीं किया है। जिस चीज का उन्होंने निषेध किया है वह तो भौतिक आत्मा है जिसकी ओर उपनिषद् के कुछ वाक्य संकेत करते हैं। इस प्रकार श्रीमती रायिस डेविड्स के अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भगवान बुद्ध के उपदेश उस समय के ब्राह्मण धर्म के ब्रह्म की विश्व-व्यापी सत्ता के केंद्रीय सिद्धांतों की संगति में ही थे।[1] ब्राह्मणों ने ब्रह्म-ज्ञान को एक अतिशय गुह्य ज्ञान के रूप में रखा जिस पर उन्होंने विशिष्ट अधिकार-संपन्न त्रैवर्णिकों का ही आधिपत्य माना।

ब्राह्मणों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध भगवान बुद्ध नें अपनी विरोध की आवाज खुलकर उठाई। उन्होंने घोषणा की कि सत्य और परमार्थ-ज्ञान के क्षेत्र में वर्ग, जाति और सामाजिक स्थिति का कोई महत्त्व नहीं है और उसके दरवाजे सबके लिए खुले हैं। इसलिए यह कहना सत्य से अधिक दूर जाना नहीं होगा कि अपने मूल रूप में बौद्ध धर्म का उद्देश्य केवल उस वस्तु का सुधार करना या उसे लोकप्रिय बनाना था जिसे प्रो० मैक्समूलर ने सच्चे ब्राह्मण-धर्म की योजना में जीवन की चतुर्थ अवस्था या सच्चा ब्राह्मणत्व कहा है।

1. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जिल्द दसवीं, पृष्ठ 274-86

फिर भी हमें भारतीय विचार के प्रति भगवान बुद्ध के अनमोल और विधायक दान को नहीं भूलना चाहिए। अपने धार्मिक संघ की व्यवस्था में उन्होंने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को कड़ाई के साथ कुछ नैतिक मानदंडों के अनुसार, जिन्हें उन्होंने 'शील' कहा है, अपने शरीर और मन को संयम में रखने का अभ्यास करना चाहिए। उपनिषदों में हमें नीति के संबंध में अधिक नहीं मिलता। कुछ उपनिषदों में नीति-संबंधी जो कुछ वाक्य मिलते भी हैं, उन पर भी आत्मा और ब्रह्म संबंधी जिज्ञासाओं तथा ऐसे अन्य विषयों की छाया पड़ी हुई है जिन पर वहां कुछ अधिक जोर दिया गया है। भगवान बुद्ध का विचार था कि हमारे दैनिक जीवन के दुखों को दूर करने के प्रयत्न में इस प्रकार की जिज्ञासाओं का अधिक महत्त्व या उपयोग नहीं है। ब्राह्मण धर्म में इसी विचारधारा का अनुसरण करते हुए गौतम, बौधायन और आपस्तंब जैसे ऋषियों ने वैदिक परंपरा के साधुओं के लिए पालनीय नैतिक नियमों का एक स्तर निश्चित कर दिया था।[1]

वैदिक कर्मकांड

वैदिक कर्मकांड को भगवान बुद्ध ने पसंद नहीं किया। उन्होंने इसमें कोई पुण्य नहीं देखा और इसे व्यर्थ समझा, क्योंकि इसमें निर्दयतापूर्वक पशुओं की हिंसा होती थी, श्रमिकों के साथ सख्ती की जाती थी और प्रभूत अपव्यय होता था।

वैदिक यज्ञ से श्रेष्ठतर और अधिक पुण्य वाला कौन-सा यज्ञ है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा कि अच्छे तपस्वियों को दान देना श्रेष्ठतर यज्ञ है। परंतु इससे भी अधिक अच्छा चारों

1. गौतम की तिथि 500 ईसवी पूर्व (जी० बुहलर, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, द्वितीय), बौधायन 400 ई. पू., आपस्तंब 300 ई. पू.

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिशाओं को नियमित रूप से दान देना है। बुद्ध धर्म और संघ की शरण लेना इससे भी अधिक श्रेष्ठ है। संयमित मन से शिक्षापदों का पालन इससे उच्चतर यज्ञ है। संसार को छोड़कर बुद्ध के भिक्षु संघ मे सम्मिलित हो जाना और सत्य में अंतर्दर्शन प्राप्त करना, यह तो सर्वोत्तम पुण्य है।[1] एक अवसर पर भगवान बुद्ध ने अपने यज्ञ संबंधी विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि दान से पूर्व, पीछे और दान देते समय प्रसन्नता अनुभव करना दान की पारमिता है। दान का क्षेत्र तभी परिपूर्ण होता है जब दान का लेने वाला राग, द्वेष और मोह के दोषों से विमुक्त होता है। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार दान देकर सुखी लोकों में जन्म लेते है।[2]

वैदिक यज्ञवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया औपनिषद युग के आरंभ में ही शुरू हो गई थी और उसका चरम विकास सांख्य दर्शन के रूप में हुआ। वैदिक यज्ञों की समालोचना तीन कारणों से की गई थी : (1) वे अपवित्र हैं, क्योंकि उनमें पशु हिंसा होती है, (2) वे विनाशशील हैं, और (3) वे ऊंच और नीच की भावनाओं को पैदा करने वाले हैं।[3] भगवद्गीता भी यज्ञों की विनाशशीलता के आधार पर उनकी व्यर्थता बतलाती है।[4] यहा यह कह देना चाहिए कि इसी प्रकार के आंदोलनों के कारण, जिनका वैदिक यज्ञवाद के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ा, याज्ञिक विधान उत्तर भारत में बिल्कुल बंद हो गए, यद्यपि दक्षिण भारत में कभी-कभी आज भी उनका विधान देखा जाता है।

भगवद्गीता और भक्ति आंदोलन

डा. रामकृष्ण गोपाल भांडारकर के मतानुसार भगवद्गीता और भक्ति–आंदोलन की उत्पत्ति विचार के उस स्रोत से हुई जिसका आदि उपनिषदों के रूप में और विकास पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म और जैन

1. कूटदंत–सुत्त, दीघ 1.144-47, ई. जे. टॉमस, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृष्ठ 176 और गीता, 4।28, 32, 33.
2. अंगुत्तर, 3।337
3. सांख्यकारिका, कारिका 2.
4. अध्याय 9, श्लोक 21

धर्म के उदय के साथ उसी युग में हुआ।[1] बौद्ध धर्म और जैन धर्म अपनी विश्वजनीन प्रवृत्तियों के कारण शीघ्र ही देश में फैल गए। ईश्वरवादी धर्म के समर्थकों ने इसलिए अपने धर्म का प्रचार साधारण जनता और आर्येतरों (शूद्रों) में करना बुद्धिमानी समझा। उन दिनों धार्मिक संप्रदाय अधिकतर अनीश्वरवादी ही थे और जैसा बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्म साधनाओं का साक्ष्य है, भारतीय मस्तिष्क उन दिनों जब नैतिक विवेचनों और नैतिक श्रेष्ठता के प्रतिपादन में लगा था, तो ईश्वरवादी विश्वास से इसका कोई संबंध नहीं था। फलतः भगवद्गीता में जिन विचारों का प्रतिनिधित्व है उनकी आवश्यकता इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए थी। यह ठीक है कि उपनिषद ईश्वरवादी विचारों से भरी पड़ी हैं, परंतु वहां ये विचार बिखरी हुई अवस्था में हैं और यदि उन्हें साधारण जनता की समझ की पहुंच में लाना था, तो इस बात की आवश्यकता थी कि उन्हें एक व्यवस्थित विमुक्तिदायी पद्धति के रूप में रखा जाए।[2]

भगवद्गीता एक युग-निर्माणकारी साहित्यिक रचना है। धार्मिक चिंतन को इसने एक नई दिशा दी, इसलिए यह भारत के धार्मिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। गीता के आधारभूत उपदेशों का संबंध कर्म-संबंधी सिद्धांत और वासुदेव कृष्ण की भक्ति से है। स्पष्टतः गीता के लेखक ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि लोगों में कर्तव्य और भक्ति की भावना को भरा जाए क्योंकि उस समय वातावरण अकर्म और अनीश्वरवाद के विचारों से दूषित था। उस समय मक्खलि गोसाल जैसे अनेक विचारक थे जो कर्म को पाप की ओर ले जाने वाला मानते थे। उपनिषदों में भी हमें कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें कर्म के प्रति उनकी उपेक्षा व्यक्त होती है।[3] इसलिए भगवान बुद्ध ने श्रमणों या अवैदिक परंपरा के विचारकों की ओर से इस चुनौती को स्वीकार किया और अपने शीलों की योजना में कर्म के महत्व पर जोर दिया, परंतु ईश्वरवादी समस्या पर वे चुप रहे। कट्टर धर्मवादियों की ओर से गीता ने इसकी उपयोगिता यह

1. वैष्णविज्म पृष्ठ 9;
2. वही, पृष्ठ 29
3. बृहदारण्यक उपनिषद 4।4।22

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहकर प्रतिपादित की कि यदि कर्म भक्ति और वैराग्य की भावना से किए जाएं तो उनके शुभ और अशुभ परिणाम दूर किए जा सकते हैं।[1]

गीता को एक योग-शास्त्र कहा गया है और उसके उपदेष्टा को योगेश्वर। गीता में जिस प्रकार योग की व्याख्या की गई उसके अनुसार योग वहां एक व्यवस्थित दर्शन नहीं है। 'योग' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। कहीं उसका अर्थ मानसिक ध्यान है,[2] कहीं मानसिक संतुलन[3] और कहीं प्रत्येक वस्तु को ईश्वर को समर्पित करने का संकल्प[4]। मानसिक सकल्प के अर्थ मे योग शब्द का प्रयाग बौद्ध साहित्य में भी पाया जाता है।[5] इसके आंतरिक अर्थ 'एकाग्रता' और 'समर्पण-भाव' हैं, जो गीता के मुख्य विचार होने के साथ-साथ पालि त्रिपिटक में भी पाए जाते हैं।[6] गीता का केंद्रीय विषय यह है कि भगवान के अवतार श्री कृष्ण अर्जुन के सामने खड़े हैं और यह घोषणा कर रहे हैं कि जो कोई सांसारिक कृत्यों को करते हुए भी सब भाव से अपने हृदय और आत्मा को उनके प्रति समर्पित कर देगा उसे वे बचाने के लिए तैयार हैं। समर्पण-भाव के इस संदेश ने हिंदू समाज और उसके संगठन पर दूरगामी और स्थायी प्रभाव डाला। धार्मिक जीवन बिताने और मुक्ति प्राप्त करने के समान अवसर, बिना जाति और लिंग का विचार करते हुए, इसने सबको दिए और यही एक बात हिंदू धर्म के दायरे के भीतर रहने वाले सब व्यक्तियों की एकता को दृढ़ करने वाली हुई।

प्रस्तुत लेखक का विचार है कि गीता का युग बुद्ध के बाद का है, क्योंकि गीता में बौद्ध विचारों का निर्देश पाया जाता है। (1) नियमित भोजन और समय पर सोने और जागने के जो निर्देश दिए गए हैं[7] वे असंदिग्ध रूप से बौद्ध धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण उपदेशों की ओर

1. वृहदारणयक उपनिषद, 2।57, 9।26, 27 आदि
2. 4।20, 34.
3. 2।48, 6।32, 33,
4. 2।39, 18।57.
5. संयुत्त, 5।, 414-420, 442-462। देखिए आपस्तंब धर्मसूत्र 1।8, 23, जहां योग का अर्थ अक्रोध आदि जैसे कुछ सात्विक उपाय हैं।
6. मज्झिम, 1/472; पालि डिक्शनरी, पालि टेक्स्ट सोसायटी।
7. गीता 6।16-17

संकेत करते हैं जिनकी उत्पत्ति भगवान बुद्ध के व्यक्तिगत अनुभवों से हुई थी। (2) 'कुछ मनीषी पुरुष कहते हैं कि दोषयुक्त कर्म का त्याग कर देना चाहिए',[1] इन पंक्तियों में जो विचार प्रकट किया गया है, वह बिल्कुल वही है जो भगवान बुद्ध का था। अंगुत्तर-निकाय में कहा गया है कि भगवान बुद्ध अपने को अक्रियावाद का समर्थक इस अर्थ में मानने को तैयार थे कि वे बुरे कर्मों के न करने (अ-क्रिया) का उपदेश देते थे।[2] (3) चार प्रकार का आहार, जिसका गीता 15।14 में उल्लेख है 'अन्न चतुर्विधम्', पालि के 'चत्तारो अहारा' के समान है। फिर यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि महाभारत के मौलिक रूप में संपूर्ण गीता सम्मिलित रही होगी। इसके बजाय, यही अधिक संभव है कि गीता की रचना पाणिनि के समय (500-450 ई० पूर्व) में हुई, क्योंकि पाणिनि ने स्पष्टतः भक्ति और भगवत धर्म का उल्लेख किया है और पाणिनि को बुद्ध के बाद के युग में रखने का एक सबसे अधिक निर्विवाद साक्ष्य यह है कि उन्होंने मस्करी-परिव्राजक का उल्लेख किया है जो पूरी संभावना के साथ आजीवक संप्रदाय का प्रसिद्ध धार्मिक नेता मक्खलि गोसाल ही था।[3]

वर्ण, आश्रम और बौद्ध संघ

चार वर्णों के रूप में हिंदुओं की समाज-व्यवस्था का विभाजन वैदिक काल से चला आ रहा है। प्राचीन ऋषियों के मतानुसार यह विभाजन जाति पर आधारित है, पद पर नहीं। भगवान बुद्ध ने अनेक अवसरों पर अपने उपदेशों में इसकी समालोचना की। फिर भी, हमें इससे इस निष्कर्ष पर नहीं आना चाहिए कि भगवान बुद्ध उस समय के सामाजिक

1. गीता 18।3 "त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः"।
2. अंगुत्तर 1।162; 4।183।
3. मिलाइए, वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि इत्यादि, पृष्ठ 358-360; रामकृष्ण गोपाल भांडारकर का मत है कि इसकी रचना चतुर्थ शताब्दी ईसवी-पूर्व के आरंभ से पहले ही हुई। सर्वपल्ली राधाकृष्णन 500 ई. पूर्व के पक्ष में है (इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ 524) प्रो० वेलवलकर ने एक व्यक्तिगत वार्तालाप में वर्तमान लेखक से कहा कि उनकी राय इसे बुद्ध पूर्व काल में रखने की है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विधान को नष्ट कर देना चाहते थे।[1] प्रत्युत उनका विश्वास एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में था जिसमें सांसारिक मामलों में प्रथम स्थान योद्धा को प्राप्त हो। ब्राह्मण-साहित्य में केवल एक बार गौतम धर्मसूत्र (8।1) में इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया गया है। ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भगवान बुद्ध की आपत्ति ब्राह्मणों के इस दावे के प्रति उनकी गहरी उपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न हुई थी कि आध्यात्मिक उन्नति और विमुक्ति पर केवल उन्हीं का एकाधिकार है।[2] प्रव्रज्या के संबंध में वर्ग भेद को मिटाने की इच्छा करने वाले भगवान बुद्ध प्रथम ही नहीं थे। उनके पूर्व भी ऐसे अनेक धार्मिक संगठन थे जो अपने दायरे में सब वर्गों के सदस्यों के प्रवेश की अनुमति देते थे।

चार आश्रमों में से दो अर्थात् ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, वेदों के युग से ही ज्ञात थे, परंतु शेष दो, वानप्रस्थ और संन्यास, का आरंभ संभवतः आरण्यक और उपनिषदों के युग में हुआ, यद्यपि इन दोनों के बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। अंतिम आश्रम प्रव्रज्या और मुनि की स्पष्ट व्याख्या बृहदारण्यक उपनिषद[3] में की गई है। छांदोग्य उपनिषद[4] में भी आश्रम-संबंधी सिद्धांत के कुछ प्रमाण मिलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद[5] में श्रमण या संन्यासी और तापस या वानप्रस्थी के बीच भेद किया गया है। इसी उपनिषद में मुनि की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई है जो आत्मा के सत्य का साक्षात्कार करता है।[6] आपस्तंब ने वानप्रस्थ अवस्था को 'मौन' अवस्था कहा है, जिसे छांदोग्य उपनिषद की मुनि की उपर्युक्त परिभाषा से समर्थन मिलता है। मेकडोनल और कीथ के मतानुसार ेदिक काल का मुनि अधिकतर दवाइयों का काम करने वाला (वैद्य) होता था।[7] पी०टी० श्रीनिवास

1. ई.जे.टॉमस, लाइफ आफ बुद्ध, पृष्ठ 128
2. मिलाइए, दीघ, 1, संख्या 3; मज्झिम, संख्या 90, पृष्ठ 128-30
3. 3।5।1; 4।4।22
4. 2।23।1
5. 4।3।22
6. 4।4।22, एतमेव् विदित्वा मुनिर्भवति।
7. वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स।

आयंगर का मत है कि ब्रह्मचर्य और संन्यास या मुनि की अवस्था, इन दोनों का निर्माण ऋचाओं के युग में किया गया।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि आश्रमों के नाम वैदिक युग में नहीं पाए जाते, आश्रमियों के जीवन को उसमें दिखाया जा सकता है।[2]

यह एक सार्थक तथ्य है कि बोधायन और आपस्तंब जैसे ऋषियों ने संन्यास की अधिक प्रशंसा नहीं की है, क्योंकि इसे वे अपने सिद्धांत के बहिर्भूत समझते थे। यह बौधायन के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रव्रज्या जैसे आश्रम उनके मतानुसार प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे, जिसके देवताओं के साथ अच्छे संबंध नहीं थे।[3] फिर बौधायन ने प्रसिद्ध वैदिक स्रोतों से उद्धरण देकर ज्ञानवाद और ज्ञान के द्वारा विमुक्ति के सिद्धांत का खंडन किया है।[4] गौतम और आपस्तंब दोनों ही यह मानते हैं कि गृहस्थ का जीवन अन्य सब आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[5] इस प्रकार दार्शनिक भाषा में हम कह सकते हैं कि धर्मसूत्रकार मुक्ति के मार्ग के रूप में ज्ञानकांड और कर्मकांड के समन्वय के पक्षपाती थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वानप्रस्थ और संन्यास की उत्पत्ति अ-ब्राह्मण विचारकों में हुई और ब्राह्मणों के आश्रम-संबंधी सिद्धांत में उनका बाद में अंतर्भाव किया गया। गृहस्थ जीवन के प्रति अनुकूल पक्षपात रखते हुए भी गौतम तथा अन्य धर्मसूत्रकारों ने निःसंकोच भाव से संन्यासियों के लिए आवश्यक आचार के नियमों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[6] इस प्रकार हम मैक्समूलर के इस मत से सहमत हो सकते हैं कि बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व जीवन के तीन या चार आश्रम सुविख्यात थे,[7] यद्यपि अपने कड़े रूप में नहीं।

1. लाइफ इन एंशियंट इंडिया।
2. मैक्समूलर, दि सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलासफी, पृष्ठ 236.
3. धर्मसूत्र 2।6।30
4. वही 2।6, 33-36
5. गौतम 3।36; आपस्तंब 2।23।24
6. गौतम, 3।2-26; बौधायन, 2।6-10, 70; आपस्तंब 2।21, 23, 5
7. सिक्स सिस्टम्स, पृष्ठ 236; रिचार्ड फिक का कहना है कि वानप्रस्थ आश्रम ब्राह्मणों को सुविज्ञात था और बौद्ध संघ के जीवन में उसका प्रवेश किया गया। देखिए 'सोशल आर्गेनिजेशन', इत्यादि, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 61, अंगुत्तर, 3।219 को भी वानप्रस्थ विदित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसा पहले कहा जा चुका है, जब भगवान बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ तो उन्होंने विस्मयपूर्वक यह देखा कि समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन अल्प संख्या वाले ब्राह्मणों के अधिकार में है। इसी कारण उन्होंने प्रव्रज्या-लाभ को सब जातियों को देना जीवनव्यापी उद्देश्य बनाया। ब्राह्मणों ने धार्मिक जीवन में प्रवेश के लिए उपनयन और वेदों और वेदों के स्वाध्याय की जो प्रारंभिक शर्तें लगाई थीं उनकी कुछ परवाह न करते हुए बुद्ध ने जनता को अपने धर्म-संघ में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार धार्मिक जीवन, जिसे उन्होंने ब्रह्मचर्य कहा, के क्षेत्र को उन्होंने विस्तृत कर दिया। ब्राह्मण-परंपराओं के अनुसार संन्यासी का जीवन गृहस्थ या वानप्रस्थ की अवस्था के बाद ही ग्रहण किया जा सकता है। वेदों का विद्यार्थी सीधे संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता। हां, यदि वह चाहे तो एक भक्तिनिष्ठ कुमार के रूप में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन-पर्यंत अपने गुरु के पास रह सकता है।[1] बुद्ध ने इन सब पाबंदियों और सीमाओं के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने कहा कि इन प्रारंभिक तैयारियों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस किसी व्यक्ति को उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म के आदर्श में श्रद्धा है, वह उनके संघ में प्रवेश का अधिकारी है। ब्राह्मणों में भी एक परंपरा थी जिसके अनुसार जब कभी मनुष्य अपने को योग्य समझे, संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता था।[2] यह संभव है कि इस परंपरा का समावेश बौद्ध प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ हो। यह ध्यान रखने की बात है कि भगवान बुद्ध ने वैदिक अध्ययन समाप्त करने के बाद एक विद्यार्थी द्वारा ग्रहण किए गए ब्रह्मचर्य और एक गार्हस्थ के द्वारा ग्रहण किए गए ब्रह्मचर्य में कोई भेद नहीं रखा।[3]

भगवान बुद्ध और उनके उद्देश्य जीवन की केवल एक अवस्था अर्थात् प्रव्रज्या से संबद्ध थे। गृहस्थ-संघ का निर्माण भिक्षु-संघ के

1. छांदोग्य, 2।23।1
2. देखिए, आपस्तंब धर्म–सूत्र 2।21।8 पर हरदत्त की टीका।
3. अंगुत्तर, 3, पृष्ठ 223-30

निर्माण की आवश्यक पूर्व शर्त न थी। प्राचीन भारतीय गृहस्थ प्रत्येक साधु का भोजन और शयनासन से स्वागत करते थे। अतः बौद्ध भिक्षुओं को भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। गृहस्थ-समाज में भगवान बुद्ध के नियमित उपासक और अन-उपासक में कोई स्पष्ट भेद नहीं था। भगवान बुद्ध का उपासक बनने के लिए सामाजिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति को स्थिति-परिवर्तन की कोई आवश्यकता न थी। कोई भी व्यक्ति केवल बुद्ध की शरण लेकर उनका उपासक बन जाता था। प्रायः समस्त ब्राह्मण जिन्होंने भगवान बुद्ध से संलाप किया, उनके उपासक बन गए। इसका अर्थ यह नहीं था कि इसके द्वारा उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया या अपनी ब्राह्मण--परंपराओं और रीति-रिवाजों को छोड़ दिया।[1] दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति के द्वारा उपासक बनने और साथ ही अपने परंपरागत धार्मिक और सामाजिक कुल-कर्त्तव्यों को करने में किसी प्रकार की असंगति नहीं थी; हां, यह अवश्य ध्यान में रखते हुए कि जीव-हिंसा आदि से विरति के नियम न टूटें। प्राचीन काल में बौद्ध देशों में जो रीति–रिवाज प्रचलित थे, उनसे भी इस बात का समर्थन होता है। उदाहरणतः बर्मा में पेगनवंशीय राजदरबारों के सब रीति–रिवाजों ब्राह्मणों के धार्मिक कृत्यों के रंग से रंगे हुए थे और नारायण, गणेश और ब्रह्मा जैसे देवताओं का आदर होता था।[2]

बौद्ध गृहस्थ-संघ का निर्माण, एक वर्ग के रूप में, भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद, संभवतः महासंघिकों के द्वारा किया गया। आधारभूत शर्तें जो एक गृहस्थ श्रावक को पूरी करनी होती थीं, इस प्रकार थीं: (1) त्रि-शरण ग्रहण करना, (2) पंचशील को लेना, जो उपासकों के लिए अनिवार्य था, (3) उपोसथ के दिनों में उपदेश सुनना और अष्टशील को लेना।[1] कभी भी एक गृहस्थ शिष्य अपनी इच्छानुसार भिक्षु-संघ में प्रवेश कर सकता था और जब उसे ऐसा लगे कि

1. ओल्डनबर्ग, बुद्ध, पृष्ठ 382-83, 162 टिप्पणी 1.
2. एन. आर. राय, बुद्धिज्म इन बर्मा, पृष्ठ 148
3. एन. दत्त, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, 7, पृष्ठ 668

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भिक्षु-जीवन के अनुकूल वह नहीं है तो फिर सांसारिक जीवन में लौट आने के लिए वह स्वतंत्र था। ब्राह्मणों के आश्रम संबंधी सिद्धांत में संन्यासी का जीवन सदा के लिए ही लिया जाता था, परंतु भगवान बुद्ध ने ऐसी कोई अनिवार्य शर्त नहीं रखी।

महायान और भक्ति सिद्धांत

बौद्ध-धर्म, जैसा पालि निकायों से दिखाई पड़ता है, पूर्णतः नैतिक सिद्धांतों पर आधारित एक धर्म है। ईश्वरवाद या ईश्वरवादी जीवन-मार्ग के लिए यहां कोई अवकाश नहीं है। दूसरे शब्दों में, भगवान बुद्ध ने मनुष्य के भाग्य पर शासन करने वाले के रूप में ईश्वर पर कभी विचार नहीं किया। न उन्होंने आयाचना और प्रार्थना को ही ब्राह्मणों के अर्थ में कभी महत्त्व दिया।[1] उनके अनुसार मनुष्य की मुक्ति प्रार्थना और पूजा में नहीं, बल्कि उसके सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् ज्ञान में निहित थी। भगवान बुद्ध के उपदेश के इस पहलू के संबंध में कहा जा सकता है कि यह कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धांत है।[2]

परंतु जब हम तीन या चार शताब्दी बाद के बौद्ध साहित्य की परीक्षा करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म ने कुछ ऐसे स्वरूप विकसित कर लिये थे जो उसके मौलिक विचारों से बाहर के थे। महायान बौद्ध धर्म ने मानव बुद्ध, शाक्यमुनि, को एक ऐसे शाश्वत और सर्वशक्तिमान देवता के रूप में परिवर्तित कर दिया जो जगत पर शासन करता है और अपने भक्तों को वरदान देता है। ऐतिहासिक बुद्ध केवल आदि बुद्ध के एक अंशमात्र हैं जिन्हें वे धर्म का प्रचार करने और संसार को दुख और बुराइयों से विमुक्त करने के लिए भेजते हैं। अब लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी प्रार्थना करने लगे और उनकी इस प्रसन्नता से मुक्ति की कामना करने लगे। बौद्ध धर्म इस प्रकार सद्धर्मपुंडरीक, गंडव्यूह और महायान-सूत्रों में बुद्ध की भक्ति पर आधारित धर्म बन गया। मुक्ति अब भक्ति और भावनामय

1. दीघ, 1, 224-45, संयुक्त; 4/312-14
2. मैकगवर्न, पृष्ठ 103

प्रार्थना पर आधारित हो गई। प्रारंभिक बौद्ध धर्म में भगवान बुद्ध ने कभी नहीं सिखाया था कि उनके शरीर की पूजा किसी प्रकार उपयोगी हो सकती है। उन्होंने अपने महापरिनिर्वाण के समय अपने शिष्यों को यही बताया था कि उन्हें धर्म और विनय का पालन करना चाहिए और यही तथागत के सत्कार का उपयुक्त ढंग है, दिखावटी पूजा नहीं।[1] इस प्रकार यह माना जा सकता है कि मौलिक रूप से अनीश्वरवादी बौद्ध धर्म का ईश्वरवादी महायान के रूप में परिवर्तन शताब्दियों से चले आते हुए ईश्वरवादी हिंदू धर्म के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हुआ।[2] महायान अपनी भक्ति-भावना के कारण और न केवल हिंदू बल्कि अनेक पारसी विचारों को भी ग्रहण करने की प्रवृत्ति के कारण, लोकप्रिय और शक्तिमान हो गया और हीनयान को उसने पूरी तरह आच्छादित कर लिया, यद्यपि हीनयान भी जब तक बौद्ध धर्म भारत में रहा, जीवित बना ही रहा।[3]

महायान की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसके अनुयायियों से, जो बोधिसत्व कहलाते हैं, यह आशा की जाती है कि वे शुभ कर्म करें, परंतु उसके पुण्य की अन्य प्राणियों के चित्त में बोधि की भावना उत्पन्न करने के लिए उन्हें अर्पित कर दें। गीता में कर्म को ईश्वरार्पण कर देने का जो उपदेश है उससे इसकी समानता है। ईसाइयों के रोमन कैथोलिक संप्रदाय में भी हमें इस प्रकार का सिद्धांत मिलता है जिसे आवश्यक कर्त्तव्य से अधिक कर्म करने (Supererogatory) का सिद्धांत कहा जाता है।[4] कुछ लोगों का विश्वास है कि पुण्य को दूसरों को समर्पित कर देने के बौद्ध सिद्धांत ने गीता के कर्म को ईश्वरार्पण कर देने के सिद्धांत को प्रभावित किया है। परंतु बौद्धों का उपर्युक्त सिद्धांत किस प्रकार प्रचलित हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। निकायों में इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं है। यह संभव है कि जब महायान में परसेवा या परार्थत्व पर जोर दिया गया तो यह आत्म-बलिदान और वैराग्य की भावना के चिन्ह स्वरूप ही था। कम

1. दीघ, 2/138; थेरीगाथा, गाथा 161
2. आर. किमुरा, हीनयान एंड महायान, इत्यादि, पृष्ठ 43; सर्वपल्ली राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ 583
3. मैकगवर्न, महायान, पृष्ठ 183
4. वही, पृष्ठ 115

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

से कम 400 ई० पू० से प्रचलित वासुदेव-भक्ति के सिद्धांत का एक स्वाभाविक परिणाम भी आत्म–समर्पण ही है।[1]

अद्वैतवाद

महायान बौद्ध धर्म ने माध्यमिक और योगाचार, इन दो दर्शन-संप्रदायों को जन्म दिया। माध्यमिक दर्शन को नागार्जुन ने, जो भारत के सबसे बड़े विचारकों में हैं, एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। भगवान बुद्ध ने विषय-भोग और आत्म-पीड़न की दो अतियों को छोड़कर मध्य मार्ग को अपनाया था। इसी मध्यम मार्ग की व्याख्या करते हुए और उसके वास्तविक मर्म की खोज करते हुए नागार्जुन ने अपने माध्यमिक सिद्धांत का प्रवर्तन किया। नागार्जुन के दर्शन का मुख्य विचार प्रज्ञा है जिसकी प्राप्ति वस्तुओं के यथाभूत स्वरूप अर्थात् उनकी शून्यता के दर्शन से होती है। शून्यता को उन्होंने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का समानार्थ-वाची शब्द माना है। इसलिए 'सर्व शून्यम्' सिद्धांत वाक्य का अर्थ उनके अनुसार यह है कि सब वस्तुएं प्रत्ययों से उत्पन्न हुई हैं, इसलिए वे निःस्वभाव हैं। यहां वस्तुओं से तात्पर्य आंतरिक और बाह्य धर्मों से है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु निःसार और मायावत है। जब इसका अनुभव हो जाता है, तो धर्मधातु प्रकट हो जाती है।

नागार्जुन के दर्शन का एक अन्य मुख्य सिद्धांत अजातिवाद है। निःस्वभाव और शून्य वस्तुएं अ-जात और अविनष्ट हैं। नागार्जुन ने अपने माध्यमिक-शास्त्र में अजातिवाद सिद्धांत के प्रतिपादन में बड़ा आयास किया है। नागार्जुन की व्याख्या और तर्क-पद्धति इतनी आकर्षक और मन पर प्रभाव डालने वाली है कि उनके विरोधियों को भी उनके सिद्धांतों को लेने का लोभ हुआ।

अद्वैत वेदांत के महान व्याख्याकार आचार्य गौडपाद का इस संबंध में एक उदाहरण है। वे नागार्जुन की तर्क-पद्धति से काफी अधिक प्रभावित हुए। बाह्य जगत, अद्वैत वेदांती और माध्यमिक, दोनों के लिए असत्य है, इस संबंध में गौडपाद के तर्क वहीं हैं जो नागार्जुन

1. वैष्णविज्म, पृष्ठ 13

के। नागार्जुन का अजातिवादी सिद्धांत उनके शून्यतावादी सिद्धांत का स्वाभाविक निष्कर्ष है। दृश्य जगत के संबंध में अजातिवाद का सिद्धांत गौडपाद से पूर्व अद्वैत वेदांत के क्षेत्र में अज्ञात था। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के संबंध में तो अनेक बार 'अज', 'अव्यय' और 'नित्य' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, परंतु दृश्य जगत के संबंध में ऐसा कभी नहीं किया गया और न गौडपाद से पूर्व अद्वैतवादी आचार्यों की परंपरा में किसी ने अजातिवाद का इतना विशद प्रख्यापन किया है जैसा गौडपाद ने अपनी कारिकाओं में। इसलिए इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि आचार्य गौडपाद ने अजातिवाद के सिद्धांत को नागार्जुन से लिया और अद्वैत को एक स्थिर आधार प्रदान करने के लिए उन्होंने इस सिद्धांत में अनुकूल परिवर्तन किए।[1]

महायान बौद्ध धर्म का दूसरा महत्वपूर्ण संप्रदाय विज्ञानवाद था, जो विश्व को मनोमय मानता था। यद्यपि विज्ञानवादी भी विश्व को असत्य मानते हैं, परंतु वे अजातिवाद के सिद्धांत पर इतना अधिक जोर नहीं देते। माध्यमिक और योगाचार दोनों विश्व को मायावत मानते हैं। अद्वैतवादी भी इसी प्रकार अद्वैत में अपनी निष्ठा दृढ़ करने के लिए मायावाद को मानते हैं। अद्वैतवाद के महान विजेता प्रचारक आचार्य शंकर ने मायावाद के इस शास्त्र को ग्रहण किया और अपने विरोधी न्याय और वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शन-संप्रदायों के विरुद्ध इसे प्रयुक्त किया, जिसके कारण ही उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहकर पुकारा गया। परंतु जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए जो तर्क शंकर ने दिए हैं, वे स्वतंत्र हैं, क्योंकि उपनिषदों के अनुसार प्रारंभ में केवल ब्रह्म या आत्मा था और उससे अतिरिक्त सब असत् और आर्त था।[2] इस प्रकार की घोषणा यह स्पष्ट करती है कि केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है। अब प्रश्न यह है कि शंकर के मायावाद का स्रोत क्या है? महायान बौद्ध, जो उनके ठीक पूर्वगामी हैं, अधिक संभवतः उसके स्रोत हो सकते हैं। परंतु दूसरी ओर एक संभावना यह भी है कि षष्टितंत्र, जो सांख्य दर्शन की एक प्रसिद्ध रचना है, मायावाद का स्रोत रही

1. अधिक विवरणों के लिए देखिए, इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पहली पृष्ठ 668

2. बृहदारण्यक उपनिषद, 3/5/1

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो। यह कहा जाता है कि षष्टितंत्र में इस आशय का एक कथन है कि "गुणों का परम और सच्चा स्वभाव अदृश्य है और जो कुछ दृश्य है वह मायावत है।"[1] प्रासंगिक रूप से यहां यह भी कह देना चाहिए कि पूर्ववर्ती बौद्ध निकायों में मायावाद का कहीं उल्लेख नहीं है।

एक दूसरी बात में भी बौद्ध प्रभाव को खोजा जा सकता है। कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीन रूपों में कर्म का विभाजन प्रायः सब जगह पाया जाता है। फिर इन तीनों में से प्रत्येक का अलग-अलग प्रकार से वर्गीकरण विभिन्न दर्शन-संप्रदायों में किया गया है। बौद्ध कायिक और मानसिक कर्म का तीन रूपों में तथा वाचिक कर्म का चार रूपों में वर्गीकरण करते हैं। उनके मतानुसार तीन अकुशल कायिक कर्म हैं: जीव-हिंसा, चोरी और व्यभिचार। इनसे विपरीत कर्मों को वे कुशल कायिक कर्म कहते हैं। इसी प्रकार बौद्धों के अनुसार चार अकुशल वाचिक कर्म हैं- मृषावाद, पिशुनवाचा, परुषवाचा और संभिन्नप्रलाप और तीन अकुशल मानसिक कर्म हैं— अभिध्या (लोभ), व्यापाद (द्रोह) और मिथ्या दृष्टि। इनसे विपरीत कर्मों को वे क्रमशः चार कुशल वाचिक कर्म और तीन कुशल मानसिक कर्म कहते हैं। अब इसी प्रकार कर्म का दस रूपों में विभाजन हमें न्याय-भाष्य (1/1/17) में मिलता है, जिसकी उद्योतकर के 'वार्तिक' में भी व्याख्या की गई है। 'वार्तिक' में दस पुण्य कर्मों का इस प्रकार विवेचन किया गया है : परित्राण, परिचरण और दान-ये तीन कर्म

---

1. गुणानां परमं रूपम्, इत्यादि, योग-सूत्र पर व्यास भाष्य 6।13 में तथा चानुशासनम्। वाचस्पति मिश्र का कहना है, अत्रैव षष्टितंत्रस्यानुशिष्टिः। 'माया' शब्द के दो अर्थ हैं, (1) प्रकृति और (2) भ्रम या भ्रमोत्पादक विषय। पहले अर्थ का प्रयोग उपनिषदों और गीता में है। दूसरे अर्थ का प्रयोग विशेषतः बौद्धों और अद्वैत वेदांतियों का अपना है।

यहां यह और कह देना चाहिए कि उपर्युक्त श्लोक को वाचस्पति मिश्र ने वार्षगण्यकृत बताया है (भामती 2।1, 2, 3)। जैसा जे०एच० वुड्स ने दिखाया है (योग-सूत्र), यह श्लोक मूलतः पंचशिख के षष्टितंत्र से लिया गया होगा। वार्षगण्य संप्रदाय और उसके पाठ्य-ग्रंथ की प्राचीनता की सिद्धि ई० एच० जान्स्टन ने की है और सहेतुक ढंग से यह दिखला दिया गया है कि वार्षगण्य संप्रदाय की पाठ्य-पुस्तक महाकवि अश्वघोष (50 ई० पू० से 50 ई० तक) से पूर्व विद्यमान रही होगी (देखिए बुद्धचरित, जिल्द दूसरी, भूमिका सोलह, छह।)

कायिक हैं; सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय-ये चार कर्म वाचिक हैं; दया, स्पृहा और श्रद्धा-ये तीन कर्म मानसिक हैं। इसी प्रकार नैयायिक कर्म के दस प्रकार के विभाजन को मानते हैं। यहां एक विशेषता यह है कि वे विधायक रूप में उनका वर्णन करते हैं, न कि अ-कुशल कर्मों के विपरीत होने के रूप में, जैसा कि बौद्धों ने किया है। भगवद्गीता तीन प्रकार की तपस्याओं के रूप में सात्विक कर्म का तीन प्रकार का विभाजन करती हुई कहती है, "देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये शारीरिक तप कहलाते हैं। दुख न देने वाले, सत्य, प्रिय, हितकर वचन बोलना और धर्मग्रंथों का अभ्यास करना, वाचिक तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता, मृदुता, मौन, आत्म-संयम और भावना-शुद्धि, इन्हें मानसिक तप कहते हैं।"[1] इससे ज्ञात होगा कि गीता पर बौद्ध विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा है।

जब हम मनुस्मृति के बारहवें अध्याय को देखते हैं तो हम उसके विचारों और शब्दावली को बौद्धों के बिल्कुल समान पाते हैं। मनुस्मृति में दस प्रकार के अ-पुण्य कृत्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है: दूसरों के धन का लोभ करना, बुरे विचार और अहंभाव, ये तीन मानसिक कृत्य हैं। परुष वचन, मृषावाद, पिशुन वाणी और असंबद्ध प्रलाप-ये चार जिह्वा के कृत्य हैं। चोरी, जीव-हिंसा और परस्त्री-गमन ये तीन कायिक कृत्य हैं। पुनः इसी अध्याय के दसवें श्लोक में एक त्रिदंडी साधु की परिभाषा करते हुए सच्चे बौद्ध ढंग में कहा गया है : जिस व्यक्ति ने तीन दंडों, वाचिक, मानसिक और कायिक को अपने वश में कर लिया है, वही सच्चा त्रिदंडी है।[2] किस ढंग से बौद्ध धर्म और बौद्ध विचारों ने प्राचीन हिंदू लेखकों को प्रभावित किया है, इसका प्रभूत साक्ष्य हमें उपर्युक्त तथ्य में मिलता है। बौद्ध धर्म से विचारों के ग्रहण करने के ऐसे अन्य अनेक उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।[3]

---

1. गीता 17/14-16
2. 'दंड' का इस अर्थ में प्रयोग बौद्ध और जैनों की एक विशेषता है। देखिए मज्झिम 1, पृष्ठ 372
3. उदाहरणतः देखिए श्लोक 'कामज्ञासि तेमूलम्' इत्यादि, जिसे शंकर के गीता-भाष्य 6/4 में उद्धृत किया गया है और जो उदान-वर्ग 2/1 में भी पाया जाता है। ऐसे अन्य अनेक श्लोक हैं जो महाभारत और बौद्ध ग्रंथों में समान रूप से पाए जाते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवान बुद्ध एक अवतार के रूप में

परमात्मा अपने को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है, इस विचार ने आगे चलकर एक ऐसे देवता के रूप में विकास प्राप्त किया जिसे अन्य सब देवताओं के साथ एकाकार किया जा सकता है। इसी से आगे चलकर अवतारवाद का जन्म हुआ, जिसने उत्तरकालीन हिंदू धर्म पर काफी प्रभाव डाला।[1] अवतार देवता का साकार रूप होता है जो यद्यपि एक मनुष्य की तरह काम करता है, परंतु फिर भी जिसमें देवता की विभूतियां रहती हैं। महाभारत और पुराणों में अनेक अवतारों के उल्लेख हैं। हरिवंश-पुराण में भगवान बुद्ध का अवतार के रूप में उल्लेख नहीं है, परंतु वराह-पुराण, अग्नि-पुराण और उत्तरकालीन पुराणों में उनकी गणना अवतारों में की गई है। गौडपाद (725 ई०)[2] ने जिस प्रकार भगवान बुद्ध की स्तुति की है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके समय से पूर्व भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। अपनी कारिकाओं में भगवान बुद्ध को नमस्कार करते हुए उन्होंने ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है, जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि बुद्ध उनकी पूजा के आलंबन हैं। यही एक व्याख्या हो सकती है, क्योंकि गौडपाद कट्टर अद्वैतवादी थे।

जब एक बार बुद्ध को अवतार मान लिया गया तो उनके अनुयायियों ने उन्हें वह सब आदर दिया जो एक हिंदू अवतार को मिलता था। हिंदुओं के समान वे भी बुद्ध-मूर्ति की पूजा भावना और ध्यान की वृद्धि के लिए करने लगे। अब यह मत प्रायः सर्व-सम्मत है कि हिंदुओं में मूर्ति-पूजा कम से कम पाणिनि (500-450 ई०पू०) के समय से प्रचलित है। परंतु बौद्धों में मूर्ति-पूजा इतनी प्राचीन नहीं हो सकती, क्योंकि भगवान बुद्ध ने स्तूप आदि के अतिरिक्त अपनी मूर्ति की पूजा के लिए प्रतिष्ठा करने की कभी अनुमति नहीं दी। सद्धर्मपुंडरीक सूत्र जैसे उत्तरकालीन ग्रंथ में भी भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को केवल स्तूप या चैत्य बनाने का आदेश दिया है। परंतु फिर

1. वैष्णविज्म, पृष्ठ 2, 41, 42
2. प्रिंसिपल आर० डी० करमकर के अनुसार उनकी तिथि 500 ई० के करीब है।

भी भारत के विभिन्न भागों में जो मूर्तियां हाल में मिली हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय बौद्ध व्यापक रूप से बुद्ध–मूर्ति की पूजा करते थे। आज सिंहल, बर्मा, चीन और दूसरे बौद्ध देशों में लोग बुद्ध-मूर्ति की पूजा उसी प्रकार फूल, भोजन, वस्त्र, दीप और धूप आदि के अर्पण द्वारा प्रार्थना करते हुए करते हैं, जिस प्रकार हिंदू लोग भारत में। सिंहल में मूर्ति के निर्माण में अंतिम कार्य आंखों का रंगना है, जो एक तांत्रिक क्रिया है और भारत में भी की जाती है। बर्मा में बुद्ध-मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा उसी प्रकार की जाती है जैसे भारत में। चीन में भी इसी प्रकार का एक संस्कार किया जाता है, जिससे मूर्ति में देवत्व का जीवन संचार किया जाता है।[1]

सामाजिक सुधार

जब से उपासक लोग बौद्ध संघ के नियमित सदस्य माने जाने लगे, उस समय से उनमें भी भिक्षुओं के समान जाति-संबंधी नियमों के पालन की ढिलाई होने लगी। इस परिवर्तन का हिंदुओं पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। उनके अंदर के कुछ उदार विचारकों का ध्यान समाज-सुधार की ओर गया और वे हिंदू धर्म की सीमा के अंदर रहने वाली विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंधों को अच्छा बनाने के लिए यत्नशील हुए। कुछ ने उग्रतापूर्वक जाति-प्रथा की कडाइयों और अत्याचारों पर आक्रमण किया। कपिलर (करीब 1100 ई०) नामक एक तमिल लेखक ने जातिवाद की कड़ी आलोचना की। तेलुगु लेखक वेमन और कनारा के सुधारक बासव ने जाति-प्रथा के विरुद्ध आंदोलन शुरू किए। बासव ने तो लिंगायत नामक एक वीरशैव संप्रदाय का निर्माण किया जिसने समाज में ब्राह्मणों की उच्चतर स्थिति और प्रतिष्ठा की पूरी तरह उपेक्षा की। उत्तरकालीन वैष्णवों ने, विशेषतः रामानुज-संप्रदाय के वैष्णवों ने, इस बात की आवश्यकता

1. देखिए जे० एन० फर्कुहर, क्राउन आफ हिंदुइज्म, पृष्ठ 323
2. यह तथ्य आज भी पुरी के जगन्नाथ जी के मंदिर में तथा अन्य वैष्णव मंदिरों में देखा जा सकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

समझी कि धार्मिक उत्सवों तथा मंदिरों में पूजा के संबंध में जातिवाद के बंधनों को ढीला कर दिया जाए। सब जातियों से उन्होंने अपने संप्रदाय के लिए अनुयायियों को लेना शुरू कर दिया जिससे वैष्णव धर्म का प्रचार साधारण जन-समाज में भी हुआ। उत्तरकालीन धार्मिक नेताओं ने भी, जिनमें कबीर और गुरु नानक आदि मुख्य हैं, इसी प्रकार के विचारों का समर्थन किया। सुधार की यह आग आधुनिक युग तक जलती रही, जबकि जाति-भेद के पूर्ण विनाश के लिए सुधारकों ने एक संगठित युद्ध शुरू कर दिया है। आज यह ज्ञात होगा कि भगवान बुद्ध कितने बुद्धिमान और दूरदर्शी थे जबकि उन्होंने यह घोषणा की कि धार्मिक जीवन सब वर्गों के मनुष्यों के लिए खुला हुआ होना चाहिए।

शाकाहार

भगवान बुद्ध ने यह आवश्यक नही समझा कि वे अपने भिक्षु शिष्यों के लिए शाकाहर का विधान करें। जो उन्होंने किया वह यह था कि, उन्होंने उनसे कहा कि उन्हें मांस नहीं खाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में पशुओं की हत्या होती है। स्पष्टतः वे इस बात पर आग्रह नहीं कर सकते थे कि उनके गृहस्थ शिष्य शाकाहार ही करें।

सर्वप्रथम अशोक ने अपने विस्तृत साम्राज्य के कोने-कोने में पशु-जीवन की पवित्रता की घोषणा की और अपने पवित्र उद्देश्य का उत्साहपूर्वक अनुसरण करते हुए उसने लोगों को प्रेरित किया कि उन्हें धार्मिक कृत्यों के लिए भी पशुओं की हत्या नहीं करनी चाहिए। उसने बौद्ध संघ को, जिसमें उस समय गृहस्थ और भिक्षु दोनों ही सम्मिलित थे, अवश्य बहुत हद तक प्रभावित किया होगा। यह भी संभव है कि अशोक के बाद उसके इस सुधार से प्रभावित कुछ हिंदू और जैनों ने उसके इस कार्य को आगे बढ़ाया हो और जनता में उसके लिए सहानुभूति पैदा की हो, जिसके परिणाम-स्वरूप ही संभवतः बौद्ध संघ ने मांस-भोज का पूर्ण निषेध कर दिया हो, जैसा कि लंकावतार-सूत्र में उल्लिखित है। फिर इसके कई शताब्दी बाद जब हर्षवर्धन का आविर्भाव हुआ तो उसने गद्दी पर बैठने के बाद ही यह घोषणा कर

दी कि उसके राज्य में कोई मांस न खाए। इसके बाद जो उत्तरकालीन वैष्णव और शैव साधु हुए, उनके उपदेशों के परिणामस्वरूप शाकाहार को और अधिक बल मिला और जनता द्वारा उसे अधिक शीघ्रता के साथ ग्रहण कर लिया गया। इन वैष्णव और शैव संतों का विश्वास था कि प्रत्येक वस्तु के अंदर ईश्वर है और ईश्वर में सब वस्तुएं हैं, इसलिए वे घास पर भी लापरवाही से चलने में भय अनुभव करते थे। महायान बौद्धभिक्षु भी अपने शरीर के पोषण के लिए निरीह पशुओं की हत्या को घृणा की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि उनका स्वयं का जीवन भी तभी तक रहने के योग्य था जब तक कि वह दूसरे प्राणियों की इच्छा की पूर्ति का साधन था। इन भिक्षुओं के सतत उपदेश और अभ्यास का ही परिणाम है कि शाकाहार भारत में एक स्थायी वस्तु बन गया है।

संक्षेप में, डा० राधाकृष्णन के शब्दों में, बौद्ध धर्म भारत की संस्कृति पर अपना स्थायी चिन्ह छोड़ गया है। सब ओर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। हिंदू धर्म ने इसके नीतिशास्त्र के सर्वोत्तम अंश को अपने में समाविष्ट कर लिया है। जीवन के प्रति एक नया आदर, पशुओं के प्रति, दया, उत्तरदायित्व का भाव और उच्चतर जीवन के प्रति उद्योग – ये सब बातें एक नए वेग के साथ भारतीय मस्तिष्क को अवगत कराई गई हैं। बौद्ध प्रभावों को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उनके कारण ब्राह्मण परंपरा की धर्म-साधनाओं ने अपने उन अंशों को छोड़ दिया है जो मानवता और बुद्धिवाद के अनुकूल नहीं थे।[1]

तांत्रिक बौद्ध धर्म के सिद्धांत

तांत्रिक बौद्ध धर्म में उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान जैसे रूप सम्मिलित हैं। बौद्ध धर्म के योगाचार संप्रदाय ने योग-संबंधी एक ऐसी साधना को जन्म दिया जिसमें मंत्रों, धरणियों और मंडलों का प्रचलन हो गया। इस प्रकार की साधना गुह्य ढंग की होती थी और गुरु–शिष्य की परंपरा से उसका एक पीढ़ी से

1. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ 608

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषण होता था। इस प्रकार की प्रतीकात्मक और दुहरे अर्थ वाली भाषा का प्रयोग इस साधना के करने वाले लोग करते थे और सिद्धि के लिए अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

गुह्यतावादी बौद्ध धर्म की इस शाखा से संबंधित बौद्ध धर्म का एक उत्तरकालीन विकसित रूप और था जिसका नाम 'वज्रयान' है। इसका प्रचार अधिकतर समाज के निम्न वर्ग में था। इसकी कुछ बातें अनैतिक और आपत्तिजनक भी थीं, जिनका मूल बुद्ध-उपदेशों से कोई संबंध न था। भारत के पूर्वी भागों में इस संप्रदाय का काफी जोर था। विक्रमशिला तांत्रिक विद्या का एक महान केंद्र था, जहां से यह धीरे-धीरे बंगाल, असम और उड़ीसा तक फैल गई। इस संप्रदाय की विकृत क्रियाओं के प्रति सभी समझदार आदमियों ने विद्रोह किया और इन्हीं के कारण अधिकांश में भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ।

तांत्रिक बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के संबंध में आज भी काफी भ्रम है और इसका मुख्य कारण तंत्रों में प्रयुक्त प्रतीकात्मक भाषा है, जिसे संस्कृत में 'संध्या भाषा' भी कहा गया है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग तांत्रिकों ने ही नहीं, बौद्ध सिद्धों ने भी किया है और चीन के 'चान' तथा जापान के 'ज़ेन' बौद्ध धर्म के साधकों ने भी।

तांत्रिक बौद्ध धर्म का हिंदू धर्म पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि आज तक अनेक पश्चिमी विद्वान यह समझते हैं कि तांत्रिकता हिंदुओं में उत्पन्न हुई और उनसे प्रायः ह्रासग्रस्त बौद्ध संप्रदायों ने उसे लिया। परंतु बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों की जो प्राचीनता है और उनका जो सतत विकास उसमें हुआ है, उसको देखते हुए इस मत को ठीक नहीं माना जा सकता। पूर्ववर्ती महासंघिकों के पास तक मंत्रों का एक संग्रह था जिसका नाम धारणी-पिटक था। फिर मंजुश्री मूलकल्प में, जो प्रथम शताब्दी ईसवी की रचना है, न केवल मंत्र और धारणी ही पाए जाते हैं, बल्कि अनेक मंडल और मुद्राएं भी। यद्यपि मंजुश्री मूलकल्प की रचना-तिथि निश्चित नहीं है, फिर भी इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तृतीय शताब्दी ईसवी तक बौद्ध तांत्रिक दर्शन ने एक व्यवस्थित रूप प्राप्त कर लिया था, जैसा कि हमें

गुह्य समाजतंत्र से स्पष्ट मालूम पडता है।

तांत्रिक बौद्ध धर्म शैव धर्म की एक शाखा है, यह कहना उन्हीं के लिए संभव है जो तांत्रिक साहित्य का मौलिक ज्ञान नहीं रखते। बौद्धों का तंत्र-साहित्य, जो तिब्बती भाषा में सुरक्षित है, अभी तक भारतीय ज्ञान के गवेषकों की दृष्टि में पूरी तरह नहीं आया है। हिंदुओं के तंत्रों का बौद्ध तंत्रों से मिलान करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल दोनों की विधि और उद्देश्यों में ही अंतर है बल्कि बौद्ध तंत्र हिंदू तंत्रों की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन और मौलिक भी हैं। श्रीविनयतोष भट्टाचार्य ने अपने ग्रंथ 'इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म' में यह निष्कर्ष स्थापित किया है, "बिना विरोध की आशंका के यह घोषणा की जा सकती है कि बौद्ध लोगों ने प्रथम बार तंत्रों का प्रवेश अपने धर्म में किया और उसके बाद के काल में हिंदुओं ने उन्हें बौद्धों से लिया। यह कहना निरर्थक है कि उत्तरकालीन बौद्ध धर्म शैव धर्म का एक परिणाम था"।[1]

बौद्ध और हिंदू तांत्रिकता में एक बड़ा भेद यह है कि हिंदू तंत्रों में शक्ति-पूजा का एक केंद्रीय स्थान है, परंतु बौद्ध तांत्रिक धर्म में शक्ति को कोई स्थान नहीं है। वहां प्रज्ञा मुख्य विचार है। शक्ति को वहां माया बताया गया है, जिसकी खोज बौद्ध साधक नहीं करता। शिव और शक्ति के मिलन से सृष्टि के आरंभ का हिंदू तंत्र वर्णन करते हैं। परंतु बौद्ध तांत्रिक सृष्टि के उद्‌भव और विकास से अधिक संबंध न रखकर उस 'अ-जात, अ-भूत' अवस्था में जाना चाहता है, जहां से सृष्टि का आरंभ होता है और जिसे वह 'शून्यता' कहकर पुकारता है।

बौद्ध तंत्र योगाचारियों के विधिवत् उत्तराधिकारी हैं और उपयुक्त रूप से व्याख्या करने पर उनका मंतव्य 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की स्थापना करना ही है, जो बौद्ध धर्म का केंद्रीय सिद्धांत है। गुरु गंपोपा के शब्दों में, बौद्ध तंत्र "वह विस्तृत दर्शन हैं जो संपूर्ण विद्या को संश्लिष्ट करते हैं। वह ध्यान-विधि हैं जो जिस किसी वस्तु पर मन को एकाग्र करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं और वह जीवन की कला हैं जो शरीर, वाणी और मन की प्रत्येक क्रिया का उपयोग मुक्ति मार्ग की सहायता के लिए करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं।"[2]

1. पृष्ठ, 47
2. गुरु गंपोपा कृत 'दि ट्वैल्व इंडिस्पैंसिबिल थिंग्स', मिलाइए ईवान्स-वैंट्ज़, 'टिबेटन योग एंड सीक्रेट डाक्ट्रिंस, पृ. 79

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

मंत्रयान और सहजयान

बौद्ध धर्म की अनेक शाखाओं में सबसे कम ज्ञात मंत्रयान और सहजयान ही हैं। उनके संबंध में सामान्यतः सबकी धारणा यही है कि वे उत्तरकालीन विकास के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए। परंतु मंत्र प्राचीन पालि त्रिपिटक के कुछ अंशों में भी पाए जाते हैं, उदाहरणतः आटानाटियसुत्त में। यद्यपि प्रारंभिक बौद्ध धर्म में मंत्रों के उपयोग का विनिश्चय नहीं किया जा सकता, परंतु यह निश्चित है कि उनका धीरे-धीरे विकास होता गया और एक परवर्ती युग में मंत्रयान के रूप में उन्हें एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर दिया गया। मंत्रयान और सहजयान का विषय आध्यात्मिक विकास के मनोवैज्ञानिक रूप से क्रियाशील तत्वों का विवेचन करना है। उनकी शिक्षा अत्यंत व्यक्तिगत ढंग की है, जो अपरोक्ष अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती है, शब्दों के व्यावहारिक अर्थों के द्वारा नहीं। यही कारण है कि इन दोनों संप्रदायों को समझना कठिन है। मंत्रयान का उद्देश्य वही है जो बौद्ध धर्म की अन्य शाखाओं का, अर्थात् मानव प्राणी का एकीकरण, बोधि या आध्यात्मिक परिपक्वता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए त्रिरत्न की शरण ग्रहण करना और बोधि-चित्तोत्पाद आवश्यक हैं। जिस नई जीवन-दृष्टि का विकास बौद्ध साधक को करना होता है, उसके लिए वह चित्त को एकाग्र करता है। चित्त की इस एकाग्रता या समाधि को संपादित करने के लिए मंत्रों का उपयोग है। वे विरोधी अवस्थाओं को दूर करते हैं, क्योंकि मंत्र, जैसा उनके अर्थ से स्पष्ट है, मन के रक्षक हैं। वे समाधि को प्राप्त कराने में सहायक हैं। मंत्रयान एक विधायक साधना मार्ग है, निषेधात्मक नहीं। उसका उद्देश्य बोधि की प्राप्ति है, निरोध नहीं। मंत्रयान एक योग-मार्ग है जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत सत्ता की परम सत्य के साथ अविभाज्य एकता संपादन करना है। मंत्रयान की अंतिम अवस्था 'गुरु-योग' कहलाती है जो अपनी आत्मा में परम सत्य को रखने का एक उपाय है। गुरु-योग एक अत्यंत एकांत साधना है और उसके विधान जटिल हैं। मंत्रयान में गुरु की महिमा अत्यधिक बताई गई है, क्योंकि उसके बिना मंत्रयान का संदेश साधक के सामने

प्रकाशित नहीं हो सकता।

मंत्रयान से घनिष्ठ रूप से संबंधित सहजयान है। 'सहज' शब्द का अर्थ है 'साथ उत्पन्न' होने वाला। परंतु यह 'साथ उत्पन्न होने वाला क्या है? प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान और संत मि-ल-रस्-प के एक मुख्य शिष्य ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि धर्म-कार्य और उसका आभास, ये दोनों साथ-साथ उत्पन्न हैं। यह कहने से उनका तात्पर्य यह है कि सत्य और उसके आभास के बीच कोई पाटी न जा सकने वाली खाई नहीं है, बल्कि वे दोनों अभिन्न हैं। इस अभिन्नता का अर्थ यह है कि सत्य एक और अविभाज्य है, परंतु बुद्धि के विकल्पों और विश्लेषण के द्वारा वह अनेक विरोधियों के रूप में विभक्त कर दिया गया है, जिसकी एकता का साक्षात्कार अंतर्ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है। इस अंतर्ज्ञान को विकसित करने का मार्ग ही सहजयान है। इस प्रकार सहजयान एक साधन-पद्धति है, जिसमें बौद्धिकता की अपेक्षा अंतर्ज्ञान पर अधिक जोर दिया गया है। भावना का स्पंदन भी उसमें विद्यमान है।

मंत्रयान और सहजयान का सबसे अधिक प्रभाव तिब्बत के बौद्ध धर्म पर पड़ा है और इसे प्रमाणित करने के लिए भी पर्याप्त साक्ष्य हैं कि बौद्ध धर्म के ध्यानवादी संप्रदाय का आधार भी यह साधना पद्धति ही है। मंत्रयान और सहजयान आज भी जीवित साधना-पद्धतियां हैं, जिनका अभ्यास तिब्बत, चीन और जापान में किया जाता है!

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध धर्म और आधुनिक संसार

सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्ष

आधुनिक संसार में बौद्ध धर्म के सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्षों का समझने के लिए हमें पहले बौद्ध धर्म की परिभाषा करनी होगी और संस्कृति और धर्म के साथ उसके संबंध के स्वरूप को समझना होगा। अपने पच्चीस सौ वर्ष के इतिहास में बौद्ध धर्म ने जो सांस्कृतिक कार्य किए हैं और इस बीच उसका जो राजनैतिक स्थान और प्रभाव रहा है, उसकी झांकी हमारे लिए पूर्व और पश्चिम में बौद्ध धर्म के सांस्कृतिक निष्कर्षों को समझने में सहायक होगी।

बौद्ध धर्म का स्वरूप

बौद्ध धर्म, या ठीक कहें तो धर्म, निर्वाण का एक साधन है। यह बौद्ध धर्म की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा कही जा सकती है। स्वयं भगवान बुद्ध ने धर्म की उपमा बेड़े से दी है। जिस प्रकार बेड़ा पार होने के लिए है, पकड़कर रखने के लिए नहीं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध ने धर्म का उपदेश दिया है। वह संसार-सागर को पार करने के लिए है; पकड़कर रखने के लिए नहीं। जिस प्रकार पार होने के बाद बेड़े की आवश्यकता नहीं रहती, उसे छोड़ देते हैं उसी प्रकार धर्म की स्थिति है।[1] परंतु जब

1. मज्झिम–निकाय, 1, 134

तक हम समुद्र के इस पार हैं, या उसे तरने का प्रयत्न कर रहे हैं, धर्म रूपी बेड़े की हमें अनिवार्यतः आवश्यकता है और उसे हम किसी प्रकार छोड़ नहीं सकते।

बौद्ध धर्म का स्वरूप व्यावहारिक है, इस बात पर जोर हमें भगवान बुद्ध के उन शब्दों में मिलता है जो उन्होंने अपनी मौसी महाप्रजापती गौतमी से कहे थे। एक बार महाप्रजापती गौतमी ने भगवान से प्रार्थना की कि वह उन्हें ऐसा उपदेश दें जिसकी भावना करते हुए वह एकांत में अप्रमाद-पूर्वक विचरण करे। भगवान ने उसे उत्तर दिया, "गौतमी, जिन धर्मों के बारे में तू निश्चयपूर्वक जान सके कि ये निष्कामता के लिए हैं, कामनाओं की वृद्धि के लिए नहीं, विराग के लिए हैं, राग के लिए नहीं, सांसारिक लाभों को घटाने के लिए हैं, बढ़ाने के लिए नहीं, एकांत के लिए हैं, भीड़ के लिए नहीं, उद्यम के लिए हैं, प्रमोद के लिए नहीं, अच्छाई में प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए हैं, बुराई में प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए नहीं, तो गौतमी! उन ऐसे धर्मों के विषय में तू निश्चयपूर्वक जानना कि यही धर्म है, यही विनय है, यही शास्ता का संदेश है"।[1] यही कारण है कि महायानी लोग अशोक के साथ न केवल यह कह सके कि "जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है, सब ठीक कहा है" बल्कि यह भी कि "जो कुछ भी ठीक कहा है, सब बुद्ध का वचन है।"[2]

निर्वाण के साधन में तीन बातों के अभ्यास सम्मिलित हैं: शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जब एक तरुण ब्राह्मण ने उनके शिष्य आनंद से पूछा कि उनके शास्ता किन बातों का उपदेश दिया करते थे, तो आनंद ने उनसे कहा कि भगवान शील, समाधि और प्रज्ञा का उपदेश दिया करते थे। इनमें से प्रत्येक की आनंद ने उस तरुण ब्राह्मण के प्रति व्याख्या भी की। महापरिनिब्बाण–सुत्त के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व जो अंतिम उपदेश विभिन्न स्थानों पर अपनी अंतिम यात्रा के

1. विनय, 2, 10
2. अध्याशयसंचूडन–सूत्र, शांतिदेव-कृत शिक्षा--समुच्चय; सेसिल बैंडल तथा डब्ल्यू० एच० डी० राउज, लंदन, द्वारा अनुवादित, 1922 पृष्ठ 17

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

अवसर पर दिए, उनका सार साधना के ये तीन अंग–शील, समाधि और प्रज्ञा ही थे। शील से तात्पर्य गृहस्थ और प्रव्रजित सबके लिए पालनीय पंचशील तथा हीनयान और महायान के भिक्षुओं के लिए पालनीय क्रमशः 227 या 250 विनय संबंधी नियमों से है। समाधि में स्मृति-भावना, संतुष्टिता, पंच नीवारणों का त्याग और ध्यान की चार (या आठ) अवस्थाओं की प्राप्ति आदि सम्मिलित हैं। प्रज्ञा में साधारणतः बौद्ध धर्म के सब सिद्धांतों का समावेश है, जैसे कि प्रतीत्यसमुत्पाद, त्रिलक्षण, चार आर्य सत्य, सर्वधर्म-नैरात्म्य, चित्त-मात्रता, त्रि-काय, आदि। निर्वाण-प्राप्ति के लिए साधक को क्रमशः तीन अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ता है। जब कि शील और समाधि संबंधी अभ्यास अन्य धर्म-साधनाओं में भी पाए जाते हैं, प्रज्ञा संबंधी सिद्धांत बौद्ध धर्म का अपना है।

बौद्ध धर्म और संस्कृति

संस्कृति के तीन कार्य हैं। पहला यह कि संस्कृति शिक्षा और अनुशासन के द्वारा मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और सौंदर्य बोध संबंधी विकास को संपन्न करती है। दूसरा यह कि वह ललित-कलाओं, मानवीय शास्त्रों और विज्ञान के उदार पक्षों में अभिरुचि उत्पन्न करती है और उनके विकास में योग देती है। तीसरा संस्कृति का कार्य यह है कि इन सबके परिणाम-स्वरूप वह मानवीय स्वभाव का संस्कार करती है और उसे प्रकाश प्रदान करती है। इन तीनों अर्थों में बौद्ध धर्म का संस्कृति से घनिष्ठ संबंध है। हम पहले देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म का अर्थ निर्वाण का साधन है, जिसमें शील, समाधि और प्रज्ञा सम्मिलित हैं। संस्कृति को हम इनमें से समाधि-भावना में समाविष्ट कर सकते हैं, क्योंकि समाधि-भावना के समान कला और विज्ञान भी मनुष्य की चेतना को शुद्ध कर उसे संस्कारी बनाने और एक उच्चतर स्तर पर उसे ले जाने वाले हैं। इस प्रकार संस्कृति निर्वाण का एक साधन बन जाती है। चूंकि विज्ञान की अपेक्षा ललित-कलाओं में मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने और उसे प्रभावित करने की अधिक शक्ति होती है, इसलिए वे अपने भावुकतामय प्रभाव की अधिकता के कारण मनुष्य की चेतना को अधिक उच्च धरातल पर ले जा सकती हैं और

उसका अधिक संस्कार और विशुद्धीकरण कर सकती हैं। यही कारण है कि गणित या रसायन-शास्त्र की अपेक्षा चित्र-कला, संगीत और कविता के साथ बौद्ध धर्म का अधिक घनिष्ठ संबंध रहा है।

कला के दो रूप हैं: धार्मिक और लौकिक। धार्मिक कला में अभिज्ञानपूर्वक मनुष्य की चेतना को उच्चतर धरातल पर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणतः बुद्ध की मूर्ति को लीजिए। एक कलाकृति के रूप में इसकी केवल सौंदर्य-बोध संबंधी शक्ति के कारण मनुष्य का मन एक उच्चतर अवस्था में चला जाता है। जिस मूर्ति में यह कलात्मक सौंदर्य न हो उससे यह काम नहीं हो सकता। जब साधक बुद्ध-मूर्ति की ओर अपने चित्त को स्थिर करता है तो स्वभावतः उसे अपनी चेतना को निर्मल और परिशुद्ध करने में सहायता मिलती है। बौद्ध कला में चित्र-कला, मूर्ति-कला, संगीत और कविता को एक आध्यात्मिक परंपरा में अंतर्निबद्ध कर दिया गया है और उनका उपयोग न केवल धर्म-प्रचार के साधन के रूप में, बल्कि ध्यान के आलंबन के रूप में किया गया है। यही कारण है कि बौद्ध कला मनुष्य की चेतना को ऊपर उठाने वाला वह सबसे बड़ा उपाय है जिसका उद्भावन मनुष्य ने किया है। लौकिक कला का संबंध चूंकि धर्म से नहीं होता, इसलिए उसका प्रभाव चेतना को ऊंचा उठाने में इतना अधिक नहीं होता। चूंकि दृढ़ बुनियाद नैतिक जीवन में नहीं होती, इसलिए उसका प्रभाव भी क्षणस्थायी होता है। कला ध्यान के अभ्यास में सहायक हो सकती है, परंतु वह उसके स्थान को नहीं ले सकती। इसी प्रकार कला धर्म के स्थान को भी नहीं ले सकती। निर्वाण के साधन के रूप में धर्म के, जैसे हम पहले देख चुके हैं, तीन अंग हैं: शील, समाधि और प्रज्ञा। कला ध्यान को प्रेरणा दे सकती है, परंतु वह प्रज्ञा को उत्पन्न नहीं कर सकती। समाधि और प्रज्ञा में यह अंतर है कि समाधि चाहे जितनी ऊंची चली जाए, परंतु फिर भी वह लौकिक रहती है, जबकि प्रज्ञा लोकोत्तर है। इसलिए धर्म, जिसमें केवल नीति (शील) और ध्यान (समाधि) ही नहीं, बल्कि प्रज्ञा भी सम्मिलित है, कला को अपने अंदर समाए हुए ही नहीं, बल्कि उससे अतीत भी है।

बौद्ध धर्म का संबंध परंपरागत रूप से केवल धार्मिक कला से ही नहीं, बल्कि लौकिक कला से भी रहा है। इसका अर्थ यह है कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कला का ध्यान के लिए उपयोग करने के अलावा उसने सुंदर वस्तुओं की शुद्धताकारी और संस्कारमयी शक्ति को भी स्वीकार किया है और स्वतंत्र रूप से कलाओं के विकास को प्रोत्साहन दिया है। यही कारण है कि हमें बौद्ध कला की परंपरा में केवल बुद्ध और बोधिसत्वों की ही मूर्तियां नहीं मिलतीं, बल्कि यक्ष, यक्षिणी और अप्सराओं की भी, जिनका बौद्ध धर्म के सिद्धांतों से कोई संबंध नहीं है। एक ओर अश्वघोष ने यदि बुद्ध के चरित को एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर वैंग-वी ने पर्वतों, कुहासों और निर्झरिणियों के गीत गाए हैं। महायान ने, बोधि-प्राप्ति के पूरक साधनों के रूप में, धर्म के साथ अधिक से अधिक कलाओं और विज्ञानों का एकीकरण किया है। वस्तुतः हीनयान और महायान दोनों ने ही प्रभूत मात्रा में लौकिक और धार्मिक कला को जन्म दिया है।

बौद्ध धर्म और राजनीति

बौद्ध धर्म का राजनीति के साथ संबंध उतना सरल नहीं है जितना संस्कृति के साथ। इसका कारण यह है कि संस्कृति का संबंध वर्ग से न होकर व्यक्ति से है, इसलिए व्यक्तिगत धर्म के रूप में उसका संबंध बौद्ध धर्म से आसानी से दिखाया जा सकता है। एक संस्था के रूप में व्यवस्थागत बौद्ध धर्म से उसका कोई संबंध नहीं है। परंतु राजनीति का संबंध बौद्ध धर्म के व्यक्तिगत और संस्थाबद्ध दोनों रूपों से है। फिर बौद्ध धर्म के संस्थाबद्ध रूप के भी दो अंग हैं—भिक्षु-संघ और उपासक—संघ। 'राजनीति' शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में किया जाता है। बौद्ध धर्म के व्यक्तिगत और संस्थाबद्ध दोनों रूपों के साथ राजनीति के संबंध को प्रदर्शित करने के लिए हमें इन बातों पर विचार करना आवश्यक होगा : (अ) बौद्ध धर्म और राजनैतिक सिद्धांतों का संबंध, (आ) बौद्ध धर्म और राज्य, (इ) उपासक-संघ और सरकार, (ई) भिक्षु-संघ और सरकार, (उ) भिक्षु का व्यक्तिगत रूप से सरकार से संबंध, (ऊ) उपासक और क्रियात्मक राजनीति, तथा (ए) भिक्षु और क्रियात्मक राजनीति।

(अ) जहां तक हम जानते हैं, भगवान बुद्ध ने धर्म-विनय के प्रश्नों तक अपने को सीमित रखा और विभिन्न राजनैतिक सिद्धांतों की

अच्छाइयों या बुराइयों के संबंध में उन्होंने कुछ नहीं कहा है। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में जैसा इतिहासकारों को सुविदित है, दो प्रकार की शासन-प्रणालियां उत्तर-पूर्वी भारत में प्रचलित थीं। राजतंत्रात्मक और गणतंत्रात्मक। भगवान बुद्ध ने इनमें से किसी की प्रशंसा या निंदा में कुछ नहीं कहा है। उनका यह कहना कि जब तक वज्जी गणतंत्र के लोग निरंतर बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर सभाएं करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं, गणतंत्र प्रणाली के पक्ष में उनका समर्थन इसी प्रकार नहीं माना जा सकता, जिस प्रकार यदि वे यह कह देते कि अजातशत्रु अपनी चालाकी से वज्जी गणतंत्र को फोड़ सकता है तो उनका यह कथन निरंकुशता का अनुमति-सूचक नहीं माना जा सकता था। भगवान बुद्ध ने केवल परिस्थिति के तथ्यों का कथन मात्र किया। उन्होंने कोई नैतिक निर्णय नहीं दिया। परंतु एक बात पर भगवान बुद्ध और उनके बाद संपूर्ण बौद्ध परंपरा बिल्कुल स्पष्ट है। वह यह कि सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह नैतिक और आध्यात्मिक कानून को बढ़ावा दे। चूंकि बौद्ध धर्म निर्वाण का एक साधन मात्र है, इसलिए उसकी स्वाभाविक मांग है कि राज्य यह स्वीकार करे कि जीवन का सच्चा उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र न होकर निर्वाण-प्राप्ति है, जिसके लिए उसका कर्त्तव्य है कि अपने नागरिकों के लिए ऐसी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था करे जिसमें रहकर गृहस्थ और प्रव्रजित सब धर्म के अनुसार अपना जीवन-यापन कर सकें। इस प्रकार बौद्ध धर्म का उस किसी राजनैतिक वाद से कोई भेद नहीं हो सकता जो अंतर्हित या प्रकट रूप से नैतिक और आध्यात्मिक नियम की श्रेष्ठता स्वीकार करता है और उसके व्यक्तिगत और संघबद्ध रूप से प्रयोग के लिए साधन जुटाता है। बौद्ध धर्म को न तो समाजवादी और न पूंजीवादी राज्य में कोई आपत्ति है, शर्त यही है कि वह अपनी जनता के न केवल भौतिक बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक सुख-विधान के भी साधन जुटाए।

(आ) बौद्ध धर्म और राज्य संघ के संबंध का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि राज्य का स्वरूप क्या है और उसमें रहने वाली बौद्ध जनता की संख्या क्या है। यदि किसी राज्य में अ-बौद्ध लोगों की संख्या अधिक है, तो बौद्ध धर्म आशा करेगा कि उसके अनुयायियों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

को वही अधिकार प्राप्त हों जो अन्य अल्पसंख्यक धर्मावलंबियों को। इसका अर्थ यह है कि अपने सिद्धांतों के अनुसार जीवन-यापन करने की और उनका प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता उसे होनी चाहिए। चाहे उन्हें सहन कर लिया जाए या चाहे उन पर अत्याचार हों, बौद्ध नागरिक सदा उस राज्य के प्रति स्वामिभक्त रहेंगे जिसमें वे रह रहे हैं। जिस राज्य की अधिकांश जनता बौद्ध है, वहां धर्म स्वाभाविक तौर पर राज-धर्म की स्थिति प्राप्त करना चाहेगा। इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। बौद्ध संप्रदाय एक-दूसरे के प्रति ही नहीं, बल्कि अ-बौद्ध परंपराओं के प्रति भी सहनशील और उदार दृष्टि रखने वाले हैं।

(इ) व्यक्तिगत रूप से बौद्ध नागरिक और सरकार के संबंध के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बौद्ध धर्म अपने अनुयायियों के लौकिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता। वह केवल सत्य का उपदेश देता है, उसका आदेश नहीं। बौद्ध धर्म सत्य के सिद्धांतों को सिखाता है और उनके प्रयोग के स्वरूप को भी, परंतु विस्तार की बातें वह व्यक्ति पर ही छोड़ देता है, जिनका निर्णय उसे स्वयं अपने विवेक के अनुसार करना चाहिए। एक बौद्ध नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह अपने साथी दूसरे नागरिकों के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण में क्रियात्मक रुचि ले और अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन को धर्म के अनुसार बिताने का प्रयत्न करे।

(ई) एक बौद्ध देश में भिक्षु-संघ और सरकार का वही संबंध है जो व्यक्तिगत जीवन में एक भिक्षु का उपासक (गृहस्थ-शिष्य) से होता है। इसका अर्थ यह है कि सरकार को संघ-दायक होना चाहिए, उसे संघ की रक्षा और सहायता करनी चाहिए। जिस प्रकार एक श्रद्धालु उपासक विहार और चैत्य बनवाता है, धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन करवाता है और अन्य पुण्य के कार्य करता है, उसी प्रकार इन कामों को बड़े पैमाने पर एक बौद्ध राज्य की सरकार को करना चाहिए। दूसरी ओर जिस प्रकार एक भिक्षु उपासक को सद्धर्म का उपदेश करता है, सत्य का मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार संघ का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को न केवल धर्म-प्रचार के संबंध में मार्ग दिखाए, बल्कि राष्ट्र

के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में धर्म के प्रयोग के संबंध में भी उसे परामर्श दे। जहां कहीं वह यह देखे कि राष्ट्र, सरकार, जनता या राजनीतिक नेता धर्म के मार्ग से च्युत हो जाते हैं, तो उसे उनकी समालोचना भी करनी चाहिए। इस प्रकार की समालोचना को देखकर हमें यह न समझ लेना चाहिए कि भिक्षु राजनीति में पड़ रहे हैं। जब तक धर्म का प्रयोग राष्ट्रीय जीवन में नहीं होता, पारिवारिक जीवन पर भी उसका अधिकार धीरे-धीरे कम होता चला जाएगा। चूंकि धर्म की रक्षा संघ का कर्त्तव्य है, इसलिए उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह राजनीति या जीवन के अन्य किसी क्षेत्र में उसके प्रयोग की ओर भी देखे। व्यावहारिक राजनीति में पड़ने का तो संघ के लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संघ का सत्परामर्श तो अंदर और बाहर केवल शांति और सद्भावना की वृद्धि के लिए ही होगा और उसका केवल एक ही संदेश होगा : "इस संसार में वैर की शांति कभी वैर से नहीं होती, बल्कि प्रेम से होती है। यही सनातन धर्म है।"[1]

(उ) संघ के द्वारा या संघ की अनुमति के बिना भिक्षु का व्यक्तिगत रूप से सरकार से कोई संबंध नहीं होता। वह किसी राजकीय पद को स्वीकार नहीं कर सकता और न उसके लिए पारिश्रमिक ले सकता है। जहां धार्मिक मामलों के अलग मंत्रालय हों या धर्म के संबंध में परामर्शदात्री समितियां हों, वहां इस नियम में अपवाद हो सकते हैं, जैसे कि स्याम में। किसी प्रकार की राष्ट्रीय सेवा भिक्षु से नहीं ली जा सकती और न उसकी अनिवार्य भर्ती राज्य के किसी काम के लिए की जा सकती है।

(ऊ) बौद्ध गृहस्थों का संबंध चूंकि सरकार से होता है, इसलिए उन्हें क्रियात्मक राजनीति में भाग लेना ही पड़ेगा, फिर भी उनसे यह आशा की जाती है कि वे धर्म के अनुसार आचरण करेंगे।

(ए) भिक्षु अपनी उपसंपदा के समय जिन नियमों को ग्रहण करता है और जिनके पालन के लिए वह प्रतिज्ञाबद्ध है, उनके अनुसार उसे क्रियात्मक राजनीति से सर्वथा अलग ही रहना चाहिए। "सांसारिक लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाणगामी मार्ग बिल्कुल दूसरा है। इस

1. धम्मपद, 5

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सम्मान की कामना न करे, बल्कि उसे चाहिए कि विवेक की वृद्धि करे।''[1] इस उपदेश के अनुकूल आचरण करने के लिए यह आवश्यक है कि भिक्षु न किसी राजनैतिक संगठन में सम्मिलित हो, न उसकी सहायता करे और न उसे मत (वोट) ही प्रदान करे। राजनैतिक या अर्द्ध-राजनैतिक स्वरूप की सभाओं या सार्वजनिक जलसों में भी उसे भाग नहीं लेना चाहिए। संघ के जो सदस्य यह अनुभव करते हैं, जैसा कि हाल में बर्मा और सिंहल में कुछ ने किया है, कि नागरिक के रूप में उनके कर्त्तव्य भिक्षु के रूप में उनके कर्त्तव्यों से अधिक अधिकार उन पर रखते हैं, तो उनके लिए एकमात्र सम्माननीय रास्ता यही है कि वे संघ को छोड़ दें। निर्वाण और चुनाव दोनों साथ-साथ नहीं जीते जा सकते।

बौद्ध धर्म की सांस्कृतिक और राजनैतिक विरासत

चूंकि इन पृष्ठों में जो कुछ भी विषय-वस्तु विवेचित की गई है, वह सब किसी न किसी प्रकार बौद्ध धर्म की विरासत ही है, अतः यहां केवल कुछ आधारभूत उद्देश्यों का ही निर्देश किया जा सकता है, जैसे कि (अ) संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा तथा (आ) युद्ध और शांति।

संस्कृति, विशेषतः ललित-कलाएं, जैसा हम पहले देख चुके हैं, समाधि या ध्यान के अंतर्गत रखी जा सकती हैं और इस प्रकार वे भी निर्वाण के साधनों में अंतर्भूत हैं। संस्कृति बौद्ध धर्म का एक अंग है। यह उसके वस्त्र का अलंकार नहीं, बल्कि उसके शरीर का एक अंग है। जहां बौद्ध धर्म जाता है, वहां संस्कृति भी जाती है। बौद्ध धर्म के एशिया व्यापी प्रसार की यह एक स्पष्ट शिक्षा है और इसकी पुनरुक्ति यहां इसीलिए की गई है कि सामान्यतः आधुनिक संसार और विशेषतः आधुनिक भारत में इसकी अर्थवत्ता पूरी तरह समझी नहीं जाती। सिंहल, बर्मा, स्याम, कंबोडिया, लाओस, जापान, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल, सिक्किम, भूटान और लद्दाख ने बौद्ध धर्म को प्राप्त करते समय केवल अपने धर्म को ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि व्यावहारिक रूप में अपनी

1. धम्मपद, 75

संपूर्ण सभ्यता और संस्कृति को भी। जापान के लोगों के लिए उनके देश में बौद्ध धर्म के आगमन क्या प्रभूत महत्त्व था, इसे डा० डी० टी० सुजुकी ने स्पष्टतः दिखाया है। नारा-युग में जिस उत्साह के साथ जापानी लोगों ने बौद्ध धर्म का अनुशीलन शुरू किया, उसके संबंध में डा० सुजुकी ने लिखा है: ''बौद्ध धर्म उनके लिए एक नया दर्शन था, एक नई संस्कृति थी और थी कलात्मक प्रेरणाओं को देने वाली एक कभी समाप्त न होने वाली खान।''[1] इसी युग के संबंध में सुजुकी ने हमें बताया है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में बौद्ध भिक्षु नेता माने जाते थे। वे शिक्षक, चिकित्सक, इंजीनियर, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार सभी कुछ थे। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर ही उस समय की सरकार ने अनेक विहारों और मंदिरों को बनवाया, भिक्षुओं और भिक्षुणियों को संरक्षण दिया और वैरोचन बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा का निर्माण किया। यह बात जापान के बारे में ही नही, जिन देशों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उनके विषय में भी सच है। यह बात आकस्मिक नहीं है कि मिलरेपा तिब्बत के एक महान कवि होने के साथ-साथ उसके प्रसिद्धतम बौद्ध योगी भी हैं और इसी प्रकार सिरि राहुल, जिनका सिंहली साहित्य में वैसा ही उच्च स्थान है, वे सिंहल के संघराज भी थे। एशिया के संपूर्ण राष्ट्रों में चीन ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसके पास बौद्ध धर्म के प्रवेश के पूर्व भी अपनी एक विकसित सभ्यता और संस्कृति थी, अतः अपनी संस्कृति के आरंभ के लिए तो नहीं, परंतु उसके कम से कम फूलने-फलने के लिए चीन भी बौद्ध धर्म का ऋणी है। बौद्ध धर्म वस्तुतः बसंत के उस मलयानिल के समान था जिसने एशिया के उपवन को एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक आपनी संस्कृति के झोंकों से सुरभित और पुष्पित कर दिया। एशिया की संस्कृति अपने समग्र रूप में बौद्ध संस्कृति ही है। सुजुकी ने सार्थकतापूर्वक कहा है, ''यदि पूर्व एक है और ऐसी कुछ वस्तु है जो उसे पश्चिम से अलग करती है, तो इस अलग करने वाली वस्तु की खोज हमें उस विचार में करनी चाहिए जो बौद्ध धर्म में मूर्तिमान हो रहा है। बौद्ध विचार ही एक ऐसा है,

1. 'जेपेनीज बुद्धिज्म', ऐस्सेज इन जेन बुद्धिज्म (थर्ड सीरीज), राइडर, लंदन, 1953, पृष्ठ 340

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्य कोई नहीं जिसमें पूर्व के प्रतिनिधि-स्वरूप भारत, चीन और जापान, एक होकर मिल सकते हैं। विचार को अपने वातावरण की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के प्रत्येक राष्ट्र के अपने-अपने स्वभावगत ढंग है, परंतु जब पूर्व एक इकाई के रूप में पश्चिम के आमने-सामने है, तो बौद्ध धर्म ही मिलाने वाली वस्तु का काम देता है।'' एशिया में बौद्ध धर्म के इतिहास की यदि आज के संसार के लिए कोई शिक्षा है तो यही कि भारत, सिंहल, मध्य-एशिया और जापान में बौद्ध धर्म, संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा सदा अभिन्न मित्र और साथी रहे हैं।

बौद्ध धर्म का शांति से अनिवार्य संबंध भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बौद्ध धर्म के गत पच्चीस सौ वर्ष के इतिहास में, जबकि यह संपूर्ण पृथ्वी के चतुर्थ भाग से अधिक प्रदेश में फैल गया, काफी श्रमसाध्य गवेषण करने पर भी स्थानीय और अत्यंत अल्प महत्त्व के कुछ एक उदाहरण ही मिल सकेंगे जब कि बल का प्रयोग किया गया हो। बौद्ध धर्म के इतिहास का एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं है जो रक्त-रंजित हो। बोधित्सव मंजुश्री के समान बौद्ध धर्म के पास केवल एक ही तलवार है–प्रज्ञा की तलवार–और उसका केवल एक ही शत्रु है–अज्ञान। यह इतिहास का साक्ष्य है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। बौद्ध धर्म और शांति का संबंध कारण-कार्य का संबंध है। बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व तिब्बत, एशिया का सबसे बलवान सैनिक देश था। बर्मा, स्याम और कंबोडिया का पूर्वकालीन इतिहास बतलाता है कि यहां के निवासी अत्यंत युद्धप्रिय और हिंस्र स्वभाव के थे। मंगोल लोगों ने एक बार संपूर्ण एशिया को ही नहीं, भारत, चीन, ईरान और अफगानिस्तान को भी रौंद डाला था और यूरोप के दरवाजों पर भी वे जा गरजे थे। जापान की सैनिक भावना को बौद्ध धर्म की पंद्रह शताब्दियां भी अभी पूरी तरह परास्त नहीं कर सकी हैं। संभवतः भारत और चीन के अपवादों को छोड़कर एशिया के प्रायः अन्य सब राष्ट्रों के लोग मूलतः हिंसाप्रिय थे। बाद में उनमें जो शांतिप्रियता आई वह बौद्ध धर्म के शांतिवादी उपदेशों के प्रभाव स्वरूप ही थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म और

शांति का संबंध आकस्मिक न होकर अनिवार्य है। विश्व-शांति की स्थापना में बौद्ध धर्म अतीत में एक योगदान देने वाला साधन रहा है, इस समय है और आगे भी रहेगा।

आज के युग में बौद्ध धर्म और संस्कृति

करीब चार-पांच शताब्दियों के अवरोध के बाद आज एशिया के अनेक देशों में बौद्ध धर्म का पुनरावर्तन हो रहा है। जापान में यह पुनरावर्तन सन् 1868 में प्रारंभ हुआ। इसके कुछ वर्ष बाद सिंहल में बौद्ध धर्म ने अपना सिर उठाया और मेग्गेतुवत्ते गुणानंद, एच० सुमंगल और कर्नल एच० एस० ओलकॉट के कार्यों ने राष्ट्रीय धर्म को आगे बढ़ाया। भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान एक व्यवस्थित आंदोलन के रूप में सन् 1861 में शुरू हुआ, जब अनागरिक धर्मपाल ने महाबोधि सभा की स्थापना की। चीन में बौद्ध धर्म का जागरण चीनी भिक्षु ताई-शू के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुआ। बर्मा में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का कार्य महान विद्वान और संत लेदि सयदाव ने आरंभ किया। एशिया के देश में बौद्ध धर्म का यह पुनरुत्थान संस्कृति के ऐसे बीजों का वपन कर रहा है जो आगे चलकर फलेंगे-फूलेंगे। इसके कुछ लक्षण अंकुरों के रूप में अभी से प्रकट हो रहे हैं। भारत और एशिया के कई अन्य देशों में बौद्ध ने संस्कृति को जो प्रेरणा दी है, उसका कुछ उल्लेख यहां कर देना आवश्यक होगा। इसी प्रकार पूर्व से बौद्ध धर्म अब पश्चिम में भी फैलने लगा है, इसलिए विश्व के इस भाग के लिए बौद्ध धर्म का क्या सांस्कृतिक महत्त्व है, इसका भी कुछ निर्देश कर देना यहां आवश्यक होगा।

एशिया के संपूर्ण देशों में सिंहल और बर्मा ऐसे देश हैं जहां बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान सबसे अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। यह देखते हुए कि श्रीलंका एक छोटा-सा द्वीप है जिसके बौद्ध निवासियों की संख्या केवल 50 लाख से कुछ अधिक है, उसने जो कार्य बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान की दिशा में किया है, महान है। महाबोधि सभा और विश्व-बौद्ध सम्मेलन (वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट्स) जैसे दो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म देने का श्रेय सिंहल को है। उसने अनेक धर्म दूतों को धर्म-प्रचारार्थ बाहर भेजा है और इस दिशा में उसका काम संभवतः केवल जापान के बाद है। संस्कृति के लिए उसका योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। कुमारस्वामी, मललसेकर और बुद्धदत्त जैसे विद्वान, मंजुश्री थेर और जार्ज क्येट जैसे चित्रकार और श्री निस्संक, धनपाल और तंबिमुत्तु जैसे लेखक और कवि सिंहल के बाहर भी प्रसिद्ध और सम्मानित हैं। सिंहली भाषा की निरंतर प्रगति और समृद्धि हो रही है। बर्मा में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तीव्र गति से बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हो रहा है और बौद्ध संस्कृति नया जीवन प्राप्त कर रही है। स्याम, कंबोडिया और लाओस में पहले से ही बौद्ध धर्म जीवित रूप में विद्यमान है और उसके विकास में जो धीमापन आ गया था वह अब हट रहा है। वर्तमान शताब्दी में संपूर्ण पालि त्रिपिटक का स्याम लिपि में 45 जिल्दों में प्रकाशित होना एक महान कार्य है। अभी तक पालि त्रिपिटक का यही एक मात्र परिपूर्ण संस्करण है जो एशिया में मुद्रित हुआ है।[1] जापान में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता का प्रभाव एशिया के सब देशों से अधिक पड़ा है। आधुनिक जीवन के विदेशी और विरोधी वातावरण में बौद्ध संस्कृति को संरक्षित रखना आज जापान की सबसे बड़ी समस्या है, जिसके समाधान में उसे काफी सफलता मिल रही है। प्रसिद्ध जापानी विद्वान डा० डी० टी० सुजुकी अपने लेखों और भाषणों से यूरोप और अमेरिका के विचार और संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित कर रहे हैं। चीन, तिब्बत, नेपाल और बौद्ध जगत के अन्य भागों में राजनीति ने अस्थायी तौर पर अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। फिर भी चीन के जन गण-राज्य ने हाल में बर्मा को भगवान बुद्ध की धातुओं के कुछ अंश और चीनी त्रिपिटक आदि की जो भेंटें भेजी हैं, वे महत्त्व से खाली नहीं हैं।[2]

बौद्ध धर्म का पुनर्जीवन भारत में सामान्यतः साठ वर्षों से और विशेषतः पिछले दस वर्षों से हो रहा है, जिसे धर्मों के इतिहास की

1. अब पालि त्रिपिटक देवनागरी में भी उपलब्ध है।

2. देखिए संगायन बुलेटिन, रंगून, अप्रैल 1955, पृष्ठ 2

एक विशेष महत्त्वपूर्ण और विस्मयकारी घटना माना जा सकता है। एक धर्म जो शताब्दियों पूर्व लुप्त हो गया हो फिर जनता की इच्छा से इस प्रकार पुनर्जीवित हो, इसकी मिसाल विश्व के इतिहास में मिलनी मुश्किल है। आज से सौ वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म की इस जन्मभूमि में उसके नाम को भी कोई नहीं जानता था। परंतु आज यह घर-घर का शब्द है। भारत के राष्ट्रपति की कुर्सी के ऊपर लोक-सभा में 'धर्मचक्र प्रवर्तनाय' लिखा हुआ है, जो हमें भगवान बुद्ध की ही नहीं, अशोक की धर्म-विजय की भी याद दिलाता है। इसी प्रकार अशोक-स्तंभ के शीर्ष-भाग पर अंकित सिंह जो विश्व की चारों दिशाओं में निर्भयतापूर्वक धर्म की घोषणा करते हैं, भारतीय गणराज्य मुद्रा के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान भारत में सांस्कृतिक नवजागृति के साथ अनिवार्य रूप से संबद्ध है। भारत ने बौद्ध धर्म को सम्यक् रूप से समझने के लिए पालि, संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के अनेक लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में बौद्ध धर्म के ग्रंथों के अनुवाद किए हैं और कुछ ने बौद्ध विषयों से प्रेरणा लेकर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर के 'नटीर पूजा' और 'अभिसार' तो प्रसिद्ध हैं ही, हिंदी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक यशपाल पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है और गुरबख्शसिंह द्वारा सर एडविन आर्नोल्ड-कृत 'दि लाइट ऑफ एशिया' का 'एशिया दा छाणन' शीर्षक से आधुनिक पंजाबी भाषा में अनुवाद भी एक उल्लेखनीय रचना है। मलयालम के कवि कुमारन अस्सन का भी इसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्मानंद कोसंबी ने मराठी भाषा में कई सुंदर पुस्तकें बौद्ध विषयों पर लिखी हैं। हिंदी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भदंत आनंद कौसल्यायन के ग्रंथ साहित्य के लिए असाधारण महत्त्व के योगदान हैं।

चित्र-कला के क्षेत्र में अवनींद्रनाथ ठाकुर और नंदलाल बोस ने न केवल बुद्ध के जीवन से, बल्कि बौद्ध इतिहास से भी अनेक विषयों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को लिया है। अन्य कई चित्रकारों की कलाकृतियों में भी बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है।

पश्चिम के देशों में भी वर्तमान युग में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ है। भारत के समान यूरोप और अमेरिका में भी बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप साहित्य और दृश्य कलाओं पर उसका प्रभाव पड़ा है और संस्कृति को नव-जीवन मिला है। करीब डेढ़ सौ वर्ष पूर्व धर्म और संस्कृति, विशेषतः बौद्ध धर्म के अध्ययन में पश्चिमी विद्वानों को गहरी अभिरुचि उत्पन्न हुई। यह रुचि केवल विद्या-प्रेम के कारण थी और बिल्कुल स्वाभाविक थी। संस्कृत, पालि, तिब्बती और चीनी भाषाओं का अध्ययन यूरोपीय विश्वविद्यालयों में होने लगा जिसके परिणामस्वरूप अनेक बौद्ध ग्रंथों का प्रकाशन और अनुवाद हुआ। यद्यपि बौद्ध अध्ययन का आरंभ पश्चिम में झोमा डे कोरोस (1784-1849ई०) ने किया, परंतु इस अध्ययन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाले प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान यूजीन बरनोफ ही थे। इसके बाद कई प्रसिद्ध विद्वान हुए, जिनमें मैक्समूलर और टी० डब्ल्यू० रायिस डेविड्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलर ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' तथा 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स' नामक दो ग्रंथमालाओं का संपादन करने के अतिरिक्त स्वयं अनेक बौद्ध ग्रंथों के संपादन और अनुवाद किए। टी० डब्ल्यू० रायिस डेविड्स ने इसी प्रकार अनेक बौद्ध ग्रंथों के संपादन और अनुवाद करने के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से बौद्ध धर्म पर कई ग्रंथ लिखे जो अब भी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक माने जाते हैं। उन्होंने 'पालि टैक्स्ट सोसायटी' की स्थापना की जिसने अब तक बौद्ध धर्म संबंधी ग्रंथों की सौ से अधिक जिल्दें संपादित और अनुवादित की हैं। इन विद्वानों के बाद कुछ ऐसे लेखक हुए जिन्होंने बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने में योग दिया। सर एडविन अर्नोल्ड की 'दि लाइट ऑफ एशिया' (1879) बौद्ध धर्म की सबसे अधिक लोकप्रिय अंग्रेजी रचना है। इसी प्रकार पॉल केरुस की कहानियां तथा अन्य रचनाएं इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में बौद्ध धर्म न केवल भाषा-विज्ञान वेत्ताओं और इतिहासकारों के ही, बल्कि ऐसे लोगों के भी आकर्षण का विषय बन गया जो ईसाई धर्म से संतोष न पाकर किसी अन्य धर्म साधना या जीवन-विधि की खोज

में थे। शॉपनेर ने उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में ही अपने को बौद्ध घोषित कर दिया था। इस शताब्दी के अंत में थिओसोफीकल सोसायटी ने, विशेषतः अपने संस्थापकों के समय में, बौद्ध धर्म के प्रचार में योग दिया। इस समय इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका में बौद्ध धर्म पर पुस्तकें निकल रही हैं। हैनरिख हैन के बाद सबसे बड़े जर्मन कवि रेनर मेरिया रिल्के ने बुद्ध पर एक सुंदर कविता लिखी है। इसी प्रकार इंग्लैंड के राजकवि जोह्न मेंसफील्ड, टी० एस० इलियट, एडिथ सिटवैल तथा डब्ल्यू० बी० यीट्स की कविताओं में यत्र-तत्र बौद्ध प्रसंगों की ओर निर्देश मिलता है। आर्थर वेले द्वारा चीनी भाषा से अनूदित कविताएं बौद्ध भावनाओं से स्पंदित हैं और आधुनिक काव्य-संग्रहों में इनमें से कई एक को स्थान पाने का गौरव भी मिल चुका है। एल्डूस हक्सले, बर्ट्रेंड रसेल और कार्ल गुस्टव जुंग के लेखों में बौद्ध धर्म की ओर प्रशंसापूर्ण निर्देश मिलते हैं। जुंग की बौद्ध धर्म में अभिरुचि सर्वविदित है और बर्ट्रेंड रसेल ने तो यहां तक घोषणा की है यदि उन्हें किसी धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए तो जिस धर्म को वे स्वीकार करेंगे वह बौद्ध धर्म ही होगा। ऊपर जिन लेखकों के नाम का निर्देश किया गया है उनमें से बौद्ध कोई नहीं हैं। किसी बौद्ध लेखक का अभी आविर्भाव होना बाकी है जो आधुनिक यूरोपियन और अमेरिकन साहित्य में अपना नाम पैदा कर सके। पश्चिम में बौद्ध आंदोलन ने कुछ असाधारण प्रतिभा के कलाकारों को जन्म दिया है, जिनमें रोरिक, लामा अनागरिक गोविंद और अर्ल एच० ब्रेवस्टर के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सबने बौद्ध विषयों को अपनी चित्र-कला में प्रदर्शित किया है।

आज के युग में बौद्ध धर्म और राजनीति

बौद्ध धर्म का राजनैतिक महत्त्व उसके सांस्कृतिक महत्त्व की तरह व्यापक न होकर केवल एशिया तक सीमित है। इसका कारण यह है कि संस्कृति के विपरीत राजनीति में संख्या का महत्त्व है और बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या एशिया में ही लाखों में है। बौद्ध धर्म का राजनैतिक महत्त्व सबसे अधिक उसके शांति संबंधी निष्कर्ष में है। शांति का तात्पर्य केवल अस्थिर राजनीति का संतुलन ही नहीं है, वह एक मानसिक अवस्था है जो वैर की भावनाओं से रहित और उस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निर्वैयक्तिक और सार्वजनिक प्रेम से परिपूर्ण है जिसे बौद्ध परिभाषा में मैत्री कहते हैं। बौद्ध धर्म मन में शांति का संचार करके उसका बाहर प्रसारण करना चाहता है। इस प्रकार उसका काम अंदर से शुरू होकर बाहर फैलता है। राजनैतिक स्तर पर बौद्ध धर्म किसी पक्ष में नहीं पड़ता है। उसके पास मैत्री का ही सबसे बड़ा बल है, जो तटस्थ है और संपूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है। अशोक के धर्म-विजय के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के पश्चात भारत के लिए यह स्वाभाविक ही था कि सबके प्रति मैत्री के आदर्श को वह विश्व के मामलों में अपनी गतिशील तटस्थता की नीति का आध्यात्मिक आधार बनाता। इसी सार्वभौमिक मैत्री की नीति के कारण भारत किसी शक्ति-गुट में सम्मिलित नहीं हो सकता, क्योंकि उसका किसी देश या देश-वर्ग के प्रति विरोध-भाव नहीं है। भारत की तटस्थता की नीति वस्तुतः मैत्री की निर्वैयक्तिक, सार्वभौमिक और तटस्थ शक्ति की ही प्रतीक है जो धीरे-धीरे विश्व में अपने प्रकाश को फैला रही है। इसी दृष्टि से हमें भारत सरकार के एशिया के देशों के साथ पुराने संबंधों को पुनर्जीवित करने के प्रयत्नों को देखना चाहिए। चूंकि बौद्ध धर्म ही इस प्रकार के आधार दे सकता है, इसलिए न केवल एशिया के लिए बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए, उसके राजनैतिक निष्कर्ष इतने अधिक महत्त्व के हैं।

भविष्य

यद्यपि भविष्यवाणी करना एक साहसिक काम ही है, फिर भी यह सोचा जा सकता है कि भविष्य में शताब्दियों तक बौद्ध धर्म संस्कृति और शांति के साथ हाथ मिलाकर चलेगा। जहां तक निकट भविष्य का संबंध है, उसका अधिक पुनरुज्जीवन एशिया के देशों तथा अन्य अ-बौद्ध देशों में होगा तथा उसके परिणामस्वरूप आगे चलकर एक महान सांस्कृतिक नव-जागरण विश्व में होगा।

बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान : महाबोधि सभा

आधुनिक विश्व का एक-तिहाई भाग बौद्ध है। यह बौद्ध धर्म का कुछ कम बड़ा काम नहीं है। इतिहास के पढ़ने से मन पर यह प्रभाव पड़ता है

कि यदि विरोधी राजनैतिक परिस्थितियां आड़े न आतीं, तो इस धर्म के द्वारा विश्व की विजय परिपूर्ण हो जाती। फिर भी बौद्ध जगत का विस्तार आज अल्प नहीं है। तिब्बत, मंचूरिया और मंगोलिया के सहित चीन, कोरिया, जापान, हिंद-चीन, स्याम (थाईलैंड), बर्मा और श्रीलंका सब बौद्ध देश हैं। यद्यपि मलाया और इंडोनेशिया बौद्ध देश नहीं माने जा सकते, फिर भी बौद्ध लोगों की संख्या यहां नगण्य नहीं है। मध्य-पूर्व में मुस्लिम देशों तथा रूस को छोड़कर प्रायः संपूर्ण एशिया बौद्ध है।

यद्यपि बौद्ध धर्म का उदय भारत में हुआ, आज वह यहां अधिक दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में बिल्कुल ही बौद्ध धर्म के मानने वाले नहीं है। इस देश के पूर्वी भाग तथा असम में बौद्ध धर्म आज भी विद्यमान है और उसका अभ्यास किया जाता है। राजपूताना के कुछ भागों तथा नैनीताल और दार्जिलिंग के जिलों में भी यह आज विद्यमान है। उड़ीसा में बौद्ध लोगों की संख्या काफी है और सिक्किम तथा भूटान तो पूर्ण रूप से बौद्ध हैं ही। नेपाल यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से भारत से अलग है, परंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वह भारतीय संस्कृति के प्रभाव की परिधि में ही है। नेपाल की आधी जनसंख्या बौद्ध धर्म को मानने वाली है।

महाबोधि सभा की स्थापना सन् 1891 में अनागरिक धर्मपाल ने कोलंबो में की। उनका जन्म सिंहल के एक अमीर परिवार में हुआ था। सन् 1885 में सर एडविन आर्नोल्ड के कई लेख, लंदन के 'दि टेलीग्राफ' नामक पत्र में, जिसके वह स्वयं संपादक थे, प्रकाशित हुए थे। इनसे धर्मपाल को बोधगया के मंदिर की दुर्दशा का पता चला, जिससे उनके हृदय को मार्मिक पीड़ा हुई। उन्होंने अपने परिवार के सब सुख–भोगों को छोड़ दिया और पुनः अनागरिक (गृह–विहीन) हो गए। बोधगया के महाबोधि मंदिर को बौद्धों को दिलवाना और भारत में बौद्ध धर्म प्रचार, यही दो उद्देश्य उनके जीवन के हो गए थे।

अपने इस संकल्प की पूर्ति के लिए अनागरिक धर्मपाल ने जनवरी सन् 1891 में बोधगया की प्रथम यात्रा की। सन् 1891 में ही वे सिंहल लौट गए और वहां उन्होंने कोलंबो में महाबोधि सभा की स्थापना की जिसके मुख्य दो उद्देश्य थे: बोधगया में बौद्ध देशों के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिनिधि-स्वरूप भिक्षु संघ की प्रतिष्ठा और अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में बौद्ध साहित्य का प्रकाशन।

महाबोधि सभा ने चार भिक्षुओं का एक शिष्ट-मंडल प्रथम बार सन् 1891 में बोधगया में भेजा, जिसके आगमन पर बंगाल के एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र में लिखा था, "क्यों न बौद्ध धर्म का यह अप्रत्याशित प्रत्यावर्तन बोधगया में एक बौद्ध बस्ती की स्थापना के रूप में हमारे अंदर आशा का वह संचार करे कि जिससे हिंदू लोग विश्व के महान राष्ट्रों में अपने स्थान को पुनः प्राप्त कर सकें।"[1]

महाबोधि सभा का दूसरा महान कार्य अक्तूबर सन् 1891 में एक अंतर्राष्ट्रीय बौद्ध सम्मेलन का बुलवाना था। यद्यपि इस सम्मेलन की व्यवस्था एक छोटे पैमाने पर ही की गई थी, फिर भी इसमें चीन, जापान, लंका और चटगांव के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सभा का उद्देश्य बौद्ध जगत का ध्यान बोधगया मंदिर की ओर आकृष्ट करना था ताकि इस मंदिर की पुनः प्राप्ति में उन सबका सहयोग मिल सके।

महाबोधि सभा ने सन् 1892 में अपने अंग्रेजी मुख-पत्र 'दि महाबोधि एंड दि यूनाइटेड बुद्धिस्ट वर्ल्ड' का आरंभ किया, जिसके संपादन का भार स्वयं अनागरिक धर्मपाल ने वहन किया। धर्मपाल ने 'गोस्पेल ऑफ बुद्ध' के प्रसिद्ध लेखक डा० पॉल केरुस के निमंत्रण पर अमेरिका की दूसरी यात्रा की और एक वर्ष तक वहां रहकर बौद्ध धर्म पर अनेक भाषण दिए और 'अमेरिकन महाबोधि सोसाइटी' की स्थापना की। उनके भाषणों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

सन् 1900 में महाबोधि सभा की शाखाएं मद्रास, कुशीनगर और अनुराधपुर (सिंहल) में खोली गईं। सन् 1902 में अनागरिक धर्मपाल ने फिर अमेरिका की यात्रा की और होनोलुलु की श्रीमती मेरी ई० फॉस्टर से महाबोधि सभा के लिए काफी आर्थिक सहायता प्राप्त की। महाबोधि सभा द्वारा निर्मित धर्मराजिक चैत्य विहार का उद्घाटन समारोह 10 नवंबर सन् 1920 को हुआ और इसी समय सन् 1891 में मद्रास राज्य के कृष्णा जिले में प्राप्त बुद्ध धातुओं की इस विहार में प्रतिष्ठा की गई।

---

1. इंडियन मिरर, 3 नवंबर, 1891

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बिहार सरकार ने सन् 1949 में बोधगया टैंपिल एक्ट पारित किया जिसके अनुसार बोधगया मंदिर का प्रबंध एक समिति के सुपुर्द कर दिया गया, जिसमें 4 हिंदू और 4 बौद्ध सदस्यों के रहने की व्यवस्था है। इस प्रकार 60 वर्ष के लंबे संघर्ष के बाद महाबोधि सभा बोधगया मंदिर की पुनः प्राप्ति के उद्देश्य में आंशिक रूप से सफलता प्राप्त कर सकी है। सन् 1931 में सारनाथ में मूलगंधकुटी विहार का निर्माण पूर्ण हुआ जिसमें आज नया जीवन स्पंदित हो रहा है। इस समय महाबोधि सभा की शाखाएं गया, सारनाथ, नई दिल्ली, लखनऊ, बंबई, मद्रास, नौतनवा और अजमेर में काम कर रही हैं। सन् 1949 में अग्र श्रावक सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन की धातुओं के भारत-आगमन के समय तथा सांची में एक नव-निर्मित विहार में उनकी स्थापना के अवसर पर भारत की जनता ने बुद्ध और बौद्ध धर्म में जिस गहरी निष्ठा का परिचय दिया वह विस्मरण की जाने वाली बात नहीं है। वैशाख-पूर्णिमा का उत्सव जिस उत्साह से अब भारत में मनाया जाने लगा है, वह भारतवासियों की बौद्ध धर्म में गहरी श्रद्धा का सूचक है और इस बात का सूचक भी कि जिस कार्य को आज से साठ वर्ष पूर्व अनागरिक धर्मपाल ने शुरू किया था और जिसे महाबोधि सभा के निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता तब से जारी रख रहे हैं, सफलता प्राप्त कर रहा है और अपने फल प्रदान कर रहा है। महाबोधि सभा ने बौद्ध ग्रंथों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के काम को भी अपने हाथ में लिया है और उसमें काफी प्रगति हो रही है। पालि का अनुशीलन धीरे-धीरे उन्नति कर रहा है। सबसे पहले सर आशुतोष मुकर्जी ने सन् 1903 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में मैट्रीक्यूलेशन से लेकर एम० ए० तक पालि के अध्यापन की व्यवस्था की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के इस उदाहरण का अनुसरण बाद में पटना, बनारस, लखनऊ, बंबई, पुणे और वड़ोदरा के विश्वविद्यालयों में किया गया। अभी हाल में बिहार राज्य सरकार ने नालंदा पालि प्रतिष्ठान की स्थापना की है।

बौद्ध धर्म के संदेश ने आधुनिक जगत में एक विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ जिस शांति की बात करता है, उससे यह सूचना मिलती है कि संपूर्ण विश्व आज उन विश्वासों की ओर लौट रहा है जो बौद्ध धर्म में मूर्तिमान हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिंहावलोकन

गत अध्यायों में भारत और उसके बाहर बौद्ध धर्म की कहानी की रूपरेखा उस कड़ी को दिखाने के लिए दी गई है जिसने अनगिनत शताब्दियों से भारत और पूर्व के अन्य देशों को एक-दूसरे के साथ जोड़ा है।

एक धर्म के रूप में बौद्ध धर्म की महत्ता उसके करुणा, मानवता और समता संबंधी विचारों के कारण है। बौद्ध धर्म एक आकस्मिक घटित व्यापार नहीं था। वैदिक यज्ञवाद और बुद्ध-पूर्व काल से लेकर बुद्ध के काल तक प्रचलित दार्शनिक चिंतनों की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों की कथा, जैसी कि वह पालि ग्रंथों में वर्णित है, उनके देवत्व के बजाय उनकी मानवता पर अधिक आश्रित है।

भगवान बुद्ध के उपदेशों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

(1) पाप--कर्म का न करना,
(2) जो कुछ भी शुभ (कुशल) कर्म हैं, उनका संचय करना, और
(3) अपने चित्त को शुद्ध रखना।

भगवान बुद्ध के कर्म-संबंधी विश्वास का एक विशेष समाजशास्त्रीय महत्त्व है, क्योंकि वह व्यक्ति के अपने कर्म को उसके जन्म (जाति) से अधिक महत्त्व देता है।

राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र की बौद्ध संगीतियों के वर्णन स्थविरवाद परंपरा के अनुसार दिए गए हैं। आंद्रे बारो नामक फ्रेंच विद्वान ने अवश्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पाटलिपुत्र में दो संगीतियां हुईं, जिनमें से प्रथम से भिक्षु-संघ में भेद उत्पन्न हुआ। इस प्रथम संगीति में महासांघिक स्थविरवादियों से पृथक हुए और दूसरी संगीति में स्थविरवादियों के मुख्य अंग से सर्वास्तिवादी अलग हो गए। स्थविरवादियों ने इसी समय 'विभज्यवादी' नाम ग्रहण किया और महान सम्राट अशोक ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

अशोक महान के शासन-काल में बौद्ध धर्म यद्यपि 18 संप्रदायों और निकायों में विभक्त था, फिर भी वह इसी समय, उसके राज्याश्रय में, न केवल एक अखिल भारतीय, बल्कि एक विश्व-धर्म ही बन गया। बौद्ध धर्म का जो उत्तरी देशों, यथा--अफगानिस्तान, चीनी तुर्किस्तान (मध्य एशिया), चीन, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल, कोरिया और जापान में तथा दक्षिणी देशों, यथा--सिंहल, बर्मा, थाई देश, कंबोडिया, वियतनाम (चंपा), मलाया और इंडोनेशिया में प्रचार हुआ, उसके संबंध में भी एक परिच्छेद दिया गया है।

भारत और उसके बाद के देशों में बौद्ध धर्म के जो मुख्य निकाय और संप्रदाय उत्पन्न हुए, उनका भी विवरण दिया गया है और यह भी स्पष्टतः दिखाया गया है कि किस प्रकार थेरवाद (स्थविरवाद) बौद्ध धर्म की सरल शिक्षाओं का क्रमिक विकास भारत में माध्यमिक और योगाचार संप्रदायों के जटिल सिद्धांतों के रूप में हो गया और फिर बाद में उनका चीन और जापान में और अधिक विकास हुआ।

पालि, संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाओं में प्राप्त त्रिपिटक साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है और पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य के मुख्य ग्रंथों का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है।

एक अन्य रुचिकर विषय बौद्ध शिक्षा विधि के संबंध में है। इसके संबंध में यहां यह दिखलाया गया है कि ब्राह्मणकाल के संकीर्ण परिवार-विद्यालय का अतिक्रमण कर बौद्ध शिक्षा-पद्धति विस्तृत विहार-विद्यालय या संघाराम-विद्यालय के रूप में विकसित हुई, जिसके दरवाजे बौद्ध और अ-बौद्ध, भारतीय और विदेशी, सबके लिए खुले थे।

भारत और उसके बाहर के देशों में अशोक के बाद जो बौद्ध महपुरुष हुए, उनमें से कुछ के संबंध में पाठकों को बताने का प्रयत्न भी किया गया है।

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri

महान चीनी यात्री फाहियान, युआन-च्वांग और इ-त्सिंग ने अपने-अपने समय के भारत के बौद्ध धर्म के चित्र हमें दिए हैं। एक पृथक परच्छेद में, भारत के द्वारा उनके कृतज्ञतापूर्ण सम्मान के चिन्ह स्वरूप, उनके संबंध में विवरण दिया गया है।

यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि भारत अपनी अभिघटन–कलाओं के आरंभ के लिए बौद्ध धर्म का ऋणी है। भारत या उसके बाहर जहां कहीं भी बौद्ध धर्म गया, वह वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के लिए प्रेरणा का एक स्रोत बन गया।

कालांतर में बौद्ध धर्म में एक महान परिवर्तन आया। नैतिक धर्म के अपने प्रारंभिक स्वरूप से बौद्ध धर्म का परिवर्तन महायान के सिद्धांत के रूप में हुआ, जिसने बुद्ध का दैवीकरण किया और बुद्ध के शरीर की पूजा करना धर्म का एक प्रमुख अंग हो गया। बुद्ध के अनुगामी को अब आत्म-विमुक्ति की उतनी चिंता नहीं रही। उसने अपने साथी प्राणियों के प्रति करुणा के कारण अपनी विमुक्ति को उस समय तक दूर रखना अधिक पसंद किया, जब तक सब प्राणी अपनी विमुक्ति प्राप्त कर लें। इसके लिए उसने बार-बार जन्म लेकर दूसरों के लिए जीना-मरना अधिक अच्छा समझा, ताकि इस प्रकार वह दूसरों की विमुक्ति में सहायक हो सके। इस प्रकार आत्मविमुक्ति-रत निवृत्ति के स्थान पर दूसरों की सहायता और सेवा पर आश्रित प्रवृत्ति का आदर्श सामने आया और इसे समाज का अधिक संरक्षण मिला। तत्व-दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म विश्व के अनेकतावादी सिद्धांत से अद्वैतवाद की ओर झुका। इस प्रकार बौद्ध धर्म वेदांतियों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत के अधिक समीप आ गया।

उधर माया संबंधी सिद्धांत और संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में सत्य का द्विविध रूप – ये दोनों सिद्धांत वेदांतियों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए।

पशु-हिंसा परायण यज्ञों की निंदा होने लगी और उनके स्थान पर पाक-यज्ञ शुरू हुए।

महाभारत में मनुष्य के व्यक्तिगत सदाचार के महत्व की प्रशंसा की गई है और आर्य अष्टांगिक मार्ग का भी निर्देश है।[1] बौद्ध

1. 3, 2, 7, 73

देवताओं की प्रतिष्ठा हुई और स्वयं भगवान बुद्ध विष्णु के अवतार माने गए।[1]

आधुनिक संसार में बौद्ध धर्म के सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्षों का विवेचन विस्तार से किया गया है। यह दिखाया गया है कि एशिया के देशों में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ बौद्ध संस्कृति का भी वहां प्रसार हुआ। इन नए विचारों से इन देशों को जो लाभ हुआ, वह न केवल धर्म के क्षेत्र में था बल्कि संस्कृति के क्षेत्र में भी, जो अपने विस्तृततम अर्थ में 'समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि और अन्य समर्थताओं और स्वभावों की युग्मित समष्टि है।'

बौद्ध धर्म विश्व में शांति के लिए एक महान शक्ति सिद्ध हुआ है। भगवान बुद्ध की शांति आत्म-बलिदान, करुणा और उदारता संबंधी नीति महाभारत की इन पंक्तियों में प्रतिध्वनित हुई है :

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृर्तम्।।

(क्रोध को अ–क्रोध से जीते और बुरे को भले से। कंजूस को दान से और असत्य को सत्य से जय करे।)

इस भावना ने मध्यकालीन भारत में अनेक संतों के जीवन का निर्माण किया और आधुनिक भारत के महान मस्तिष्कों को भी बुद्ध के उपदेशों से मार्गदर्शन मिला है। महात्मा गांधी के ऊपर भगवान बुद्ध के जीवन का जो प्रभाव पड़ा, वह स्पष्ट ही है। सत्याग्रह के सिद्धांत को उन्होंने अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में कार्यरूप में परिणत किया और वर्तमान भारतीय नेताओं में से कई राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सीधे उत्तराधिकारी हैं। जवाहरलाल नेहरू ने अनगिनत बार यह घोषणा की कि भारत और उसके बाहर संपूर्ण झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने में उनका दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि भारत किसी शक्ति-गुट में सम्मिलित नहीं हुआ है। भारत की घोषित अंतर्राष्ट्रीय नीति पंचशील पर आधारित है, जो सदाचार के पांच नियमों के रूप में एक बौद्ध शब्द है और जिसमें विभिन्न आदर्शों को मानने वाले राष्ट्रों के सह-अस्तित्व की संभावना के लिए गुंजाइश है।

1. भागवत, 1. 3. 24

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट

त्रिपिटक

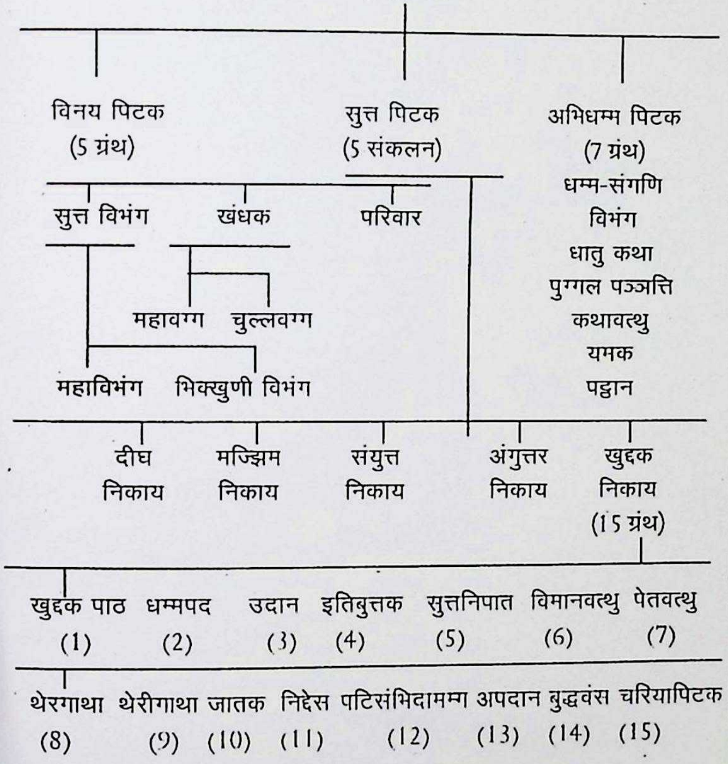

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal